॥ श्रीः ॥

हरजीवनदास संस्कृत ग्रन्थमाला १६

शिशुपालवधं महाकाव्यम्

सान्वय 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

(परीक्षोपयोगि १–४ सर्गात्मकम्)

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला

३३

महाकवि माघविरचितं

शिशुपालवधं महाकाव्यम्

'सुधा' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्याद्वयोपेतम्

व्याख्याकारः

रिजालोपाह्व श्रीधर्मदत्तोपाध्यायः

सम्पादकः

आचार्य कृष्णमोहन शास्त्री

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पत्रमञ्जूषा-सख्या ११३८

के० ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

प्रस्तावना

काव्यशास्त्रकी उपादेयता

भरत मुनिने स्पष्ट ही कहा है—'धर्मार्थियोंको धर्म, कामार्थियोंको काम, विद्याभिलाषुकोंको विद्वत्ता तथा दीनदुःखियों एवं शोकसन्तप्तोंको परम शान्ति आदि देनेवाला एकमात्र काव्य ही है' (ना० शा० १०९–१२४)। रुद्रटने सत्काव्यको अपनी-अपनी रुचिके अनुसार सकलमनोरथपूरक कहा है (काव्यालङ्कार १।८)। भामहाचार्यने सत्काव्य-सेवनसे धर्मार्थकाममोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टय, कलाओंमें वैचक्षण्य, प्रीति एवं कीर्तिकी प्राप्ति होना कहा है—(काव्यालङ्कार १।२)। मम्मटाचार्यने स्पष्ट ही कहा है कि काव्य यश, व्यावहारिक निपुणता, अमङ्गलनाश, परमनिर्वृत्ति तथा कान्ताके समान हितोपदेश देनेवाला है। पुराण एवं इतिहास आदिके देखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि काव्यके द्वारा ही व्यास. वाल्मीकि, कालिदास. अश्वघोष, भारवि, श्रीहर्ष, दण्डी, वाण, माघ, सोमदेव, हरिश्चन्द्र, भास, कुन्तक, महाराज भोज, हेमचन्द्र, जयदेव' पण्डितराज जगन्नाथ आदि-आदि सहस्रों महाकवियोंका यश अगणित समयके व्यतीत हो जानेपर भी संसार में विद्यमान है और रहेगा।

काव्यरचनामें हेतु

वहुतसे आचार्योंने शक्ति, निपुणता तथा सतत अभ्यासको काव्यरचना में हेतु माना है इनमेंसे स्वस्थ चित्तमें विविध विध अर्थोका भान एवं स्वभावतः पदोंका स्फुरण होना 'शक्ति' या 'प्रतिभा' कहलाता है। इसका अभाव होनेपर कोई भी कवि भले ही कुछ शब्दयोजना कर कविता कर ले, किन्तु उस कवितामें सरसताका प्रायः अभाव ही रहता है। वेद, वेदान्त, उपनिषद, धर्मशास्त्र, पुराण, इतिहास, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष, तर्क कला, कामतन्त्र, आयुर्वेद, कोष एवं भूगोल, खगोल विज्ञान, सामुद्रिकशास्त्र, गजशास्त्र,अश्वशास्त्र , राजनीति शास्त्र आदिका सम्यक् प्रकारसे ज्ञान एवं काव्यशास्त्रविषयक साहित्यक तथा आलङ्कारिक ग्रन्थों का गुरुपरम्परागत सम्यक् परिशीलनपूर्वक अध्ययन होना 'निपुणता' या

व्युत्पत्ति' कहलाती है। इसके होनेपर ही कोई कवि आचारानुकूल कविता कर सकता है। निरन्तर एकाग्रमना होकर स्वयं या गुरुसमीप जाकर काव्यरचनामें संलग्न रहना 'अभ्यास' कहलाता है। इसके द्वारा उस कविकी कवितामें दोषोंका अभाव एवं गुण–भावोंका आधिक्य होनेपर वह शीघ्र ही लोकमें यशस्वी कवि हो जाता है। आचार्य वाग्भटने अपने वाग्भटालङ्कार (१।३) में प्रतिभा, व्युत्पत्ति तथा अभ्यासको काव्यका क्रमशः हेतु, विभूषण तथा अधिकोत्पादक माना है। और मम्मटाचार्यने अपने काव्यप्रकाश (१।३) में इन तीनोंको ही सम्मिलित कारण माना है।

काव्यका लक्षण

'कवि' तथा 'काव्य' शब्दका अर्थ–'कवते श्लोकान् ग्रथते, वर्णयति वा कविः' ऐसी व्युत्पत्ति अमरकोषके टीकाकार महावैयाकरण भानुजिदीक्षितने की है। 'शब्दकल्पद्रुम' में 'कु शब्दे' धातुसे 'अच ई' सूत्रद्वारा इ प्रत्यय करनेपर 'कवि' शब्दकी सिद्धि बतलायी गयी है, इस प्रकार श्लोकरचना या वर्णन करनेवालेको 'कवि' कहते हैं। विद्याधरने एकावलिमें 'कवयति' इति कविः, तस्य कर्म काव्यम्, ऐसी व्युत्पत्ति की है। ध्वन्यालोककी 'लोचन' व्याख्यामें 'कवनीयं काव्यम्, व्युत्पत्ति की गयी है। इस प्रकार वर्णन करनेवाले या जाननेवालेको 'कवि' तथा उसके कर्म या कृतिको 'काव्य' कहते हैं। यद्यपि 'कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भूः' (शुक्ल यजु० ४०।८) के द्वारा 'कवि' शब्दका प्रयोग 'सर्वज्ञ परमेश्वरके लिए प्रयुक्त हुआ है, तथा 'तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये' (श्रीमद्‌भागवत) के अनुसार, 'आदिकवि' शब्दका प्रयोग 'ब्रह्मा' अर्थमें मिलता है। 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' (अमर० १३।२५) आदि कोष के अनुसार 'कवि' शब्द दैत्यगुरु शुक्राचार्य अर्थमें और 'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञ······पण्डितः कविः' (अमर० २।७।५) के अनुसार पण्डित-सामान्यके अर्थ में उपलब्ध होता है; तथापि आदिकवि वाल्मीकि मुनि तथा व्यासजीके लिये भी 'कवि' शब्दका प्रयोग मिलता है, इसीसे वाल्मीकि मुनिप्रणीत रामायणके प्रत्येक सर्ग की पुष्पिकामें 'इत्यार्षे आदिकाव्ये···' सर्वत्र लिखा हुआ उपलब्ध होता हैं। महर्षि व्यासजीकृत महाभारतकी गणना भी 'काव्य' में ही की गयी है, उन्होंने स्वयं इसका प्रतिपादन किया है—'कृतं मयेदं भगवान्! काव्यं परमपूजितम्' (महाभारत अनुशासन

पर्वं १।६१) तथा साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने भी–'अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः' (सा० द० ६।५८०) इस कारिका की व्याख्यामें 'अस्मिन् महाकाव्ये, यथा–महाभारतम्' करते हुए महाभारतको स्पष्टरूपमें 'महाकाव्य' स्वीकार किया है। ये ही दो ग्रन्थ–वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत–परवर्ती समस्त कवियोंके उपजीव्य हुए हैं।

'अलङ्कारगुणयुक्त निर्दुष्ट पदसमूहको 'काव्य' संज्ञा देनेके बाद उसमें वाक्चातुर्यकी प्रधानता रहने पर भी रस ही काव्य का प्राण है' ऐसा अग्निपुराणका मत है–(३३७।७,३३।) इसकी पुष्टि वामनाचार्यने भी की है–(काव्यालङ्कार सूत्रवृत्ति १।१।१-३) । पण्डितराज जगन्नाथने 'रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।' तथा 'रसे सारश्चमत्कारः' वचनोंद्वारा रमणीयार्थप्रतिपादक शब्दको 'काव्य' कहकर रसमें चमत्कारको ही सार माना है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' (सा० द० १।१) कारिकानुसार रसात्मक वाक्यको ही काव्य माना है। इस प्रकार 'चमत्कारपूर्ण रसात्मक गुणालङ्कारयुक्त निर्दोष वाक्यको 'काव्य' कहते हैं'।

काव्यके भेद

दृश्य तथा श्रव्य भेदसे काव्य दो प्रकारका होता है। उसमें प्रथम 'दृश्य-काव्य' का नामान्तर 'रूपक' भी है, यह नाटकादि भेदसे दश प्रकारका होता है; तथा द्वितीय 'श्रव्यकाव्य' 'पद्यात्मक गद्यात्मक औरउभयात्मक अर्थात् गद्यपद्यात्मक'भेदसे तीन प्रकार का होता है। इनमें भी प्रथम 'पद्यात्मक' काव्यके '१ महाकाव्य, २ खण्डकाव्य,३ कुलक, ४कलापक, ५ सन्दानितक, ६युग्मक और ७ मुक्तक' सात भेद होते हैं। द्वितीय 'गद्यात्मक' काव्यके 'कथा और आख्यायिका ये दो भेद तथा विश्वनाथके मतसे 'मुक्तक, वृत्तगन्धि. उत्कलिकाप्राय और चूर्णक' ये चार भेद होते हैं। तृतीय 'उभयात्मक (पद्यगद्यात्मक)' काव्य 'चम्पूकाव्य' कहा जाता है और उसी को राजस्तुतिपरक होनेपर 'विरुद तथा अनेक भाषामय होने पर 'करम्भक' कहते हैं।

महाकाव्यका लक्षण

महाकाव्यमें सर्गबन्ध होता है। कोई एक देव या उत्तम वंशज धीरोदात्त

क्षत्रिय अथवा एक कुलमें उत्पन्न अनेक राजाओंके चरितका वर्णन किया जाता है। शृङ्गार, वीर तथा शान्त इन तीन रसोमेंसे कोई एक रस प्रधान (अङ्गी) तथा नव रसोंमेंसे शेष रस अप्रधान (अङ्ग) होते हैं। माहाभारतादि इतिहास के या अन्य किसी सज्जनके चरितका वर्णन होता है। धर्म, अर्थ काम, मोक्षरूप पुरुषार्थ चतुष्टयमें से कोई एक फल लक्ष्य होता है। ग्रन्थादि में नमस्करात्मक, वस्तुनिर्देशात्मक या आशीर्वादात्मक मङ्गल रहता है। किसी किसी महाकाव्य में प्रथम दुष्टोंकी निन्दा तथा सज्जनोंकी प्रशंसा भी रहती है। पूरे सर्गमें एक प्रकारका छन्द और अन्त में भिन्न तथा किसी-किसी सर्गमें अनेकविध छन्द रहते हैं। न तो बहुत वड़े और न बहुत छोटे तथा कम से कम आठ सर्ग होते हैं। सर्गके अन्तमें आगामी सर्गकी कथाका संकेत रहता है। सन्ध्या, सूर्य, चन्द्र रात्रि, प्रदोषकाल, अन्धकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, आखेट, पर्वत, ऋतु, वन समुद्र, सम्भोग तथा विप्रलम्भ शृङ्गार, मुनि, स्वर्ग, नगर यज्ञ, युद्धयात्रा, विवाह , मन्त्रणा, पुत्रोत्पत्ति आदि (जलक्रीड़ा, वनविहार आदि) में से किन्हींका यथायोग साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया जाता है। कवि, वृत्त (कथा) नायक या किसी अन्य मुख्यके नामपर महाकाव्यका नाम रहता है। और सर्गमें वर्णित कथाके नामपर प्रत्येक सर्गका नाम रहता है। (देखें सा० द० ६।७७९).

उपर्युक्त अनुसार 'शिशुपालवध' में सर्गवन्धमय रचना, श्रीकृष्ण भगवान् नायक, वीररस अङ्गी तथा अन्य रस अङ्ग, महाभारतका इतिवृत्त (कथांश) शिशुपालवधात्मक-दुष्टनिग्रहरूप फल, वस्तुनिर्देशात्मक मङ्गलाचरण प्रथम एक छन्द तथा अन्त में दूसरे छन्दमें प्रत्येक सर्गकी रचना, विंशतिसर्गात्मक अनेक छन्दो में सर्गकी रचना प्रत्येक सर्गमें आगामी कथांशकी सूचना युद्धयात्रा, द्वारकापुरी, समुद्र, रैवतक पर्वत, सेनानिवेश, छ ऋतु, पुष्पावचय, जलक्रीडा, सायंकाल, चन्द्रोदय, मद्यपान, प्रभात, प्रयाग तथा यमुना, सेनाप्रयाण, यज्ञसभा, द्वन्द्वादियुद्ध आदिका यथास्थान साङ्गोपाङ्ग वर्णन है। शिशुपालके वधरूप फलके आधार पर 'शिशुपालवध' (या महाकविके नाम पर 'माघ') महाकाव्य नाम होनेसे यह 'शिशुपालवध' महाकाव्यमें परिगणित होता है।

'शिशुपालवध महाकाव्य' की श्रेष्ठता

यद्यपि संस्कृतसाहित्यमें अगणित महाकवि एवं उनके रचित ग्रन्थरत्न हैं,

तथापि पं० दुर्गाप्रसादजीके कथनानुसार पहले 'रघुवंश, कुमारसम्भव, किरातार्जु-नीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित' इन पाँच काव्योंका ही प्रचार-प्रसार एवं अध्ययनाध्यापन प्रचलित था, अन्य विद्वांनोंके मतसे इनके अतिरिक्त 'मेघदूत' नामक खण्डकाव्य को भी उसी कोटिमें गिना जाता हैं। इन छः काव्योंमें 'रघुवंश' कुमारसम्भव और मेघदूत' महाकवि कालिदासकी कृतियाँ हैं और ये 'लघुत्रयी' नामसे प्रसिद्ध हैं, शेष किरातार्जुनीय, शिशुपालवध तथा नैषधीयचरित महाकाव्य क्रमशः भारवि, माघ तथा श्रीहर्षके रचे हैं और ये 'बृहत्त्रयी' कहे जाते हैं और इन्हींका अध्ययनाध्यापन द्वारा सर्वाधिक प्रचार-प्रसार अबतक होता रहा है।

'माघेन विघ्नतोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे। स्मरन्तो भा-रवेरेवकवयः कपयो यथा।'

इस वचनके आधारपर तथा निम्नाङ्कित कारणोंसे महाकवि 'माघ' ने अपने पूर्ववर्ती महाकवि 'भारवि' के साथ स्पर्द्धा कर उनकी कृति-'किरातार्जुनीय' महाकाव्यके महत्वको नीचा गिरानेके लिए 'शिशुपालवध' महाकाव्यकी रचना की, ऐसा अनेक विद्वान् मानते हैं। उक्त कारण ये हैं :—

भारविने अपनी रचना किरातार्जुनीयके आरम्भमें 'श्री' शब्दका प्रयोग कर मङ्गलाचरण किया है और प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकोंमें भी उसी 'श्री' शब्दके पर्यायभूत 'लक्ष्मी' शब्दका प्रयोग किया है तो माघने भी अपनी कृति शिशुपाल-वधके आरम्भमें 'श्री' शब्दका प्रयोग कर मङ्गलाचरण किया है और प्रत्येक सर्गके अन्तिम श्लोकोंमें 'श्री' शब्दके पर्यायभूत 'लक्ष्मी' शब्दका नहीं, किन्तु उसी 'श्री' शब्दका प्रयोग कर भारविसे भी अधिक चमत्कार ला दिया है। भारविने प्रथम सर्गमें अपनी रचनाके लक्ष्यभूत दुर्योधनका प्रसङ्ग किरातमुखसे उपस्थित किया है तो माघने भी उसी प्रथम सर्गमें अपनी रचनाके लक्ष्यभूत शिशुपालवधका प्रसङ्ग देवर्षि नारदजीके मुखसे उसके जन्मान्तरीय दुराचारोंका वर्णन कराते हुए विस्तृत रूपमें प्रस्तुत किया है। भारविने प्रथम सर्गमें द्रौपदी तथा द्वितीय सर्गमें भीमसेनके मुखसे ओजस्वितापूर्ण एवं उसी द्वितीय सर्गमें युधिष्ठिरके मुखसे अतिशय शान्तिपूर्ण राजनीतिका प्रसङ्ग उपस्थित किया है तो माघने भी द्वितीय सर्गमें ही श्रीबलरामजीके मुखसे ओजस्वितापूर्ण तथा उद्धवके मुखसे शान्तिपूर्ण राजनीतिका परमोत्तम प्रसङ्ग प्रस्तुत किया है। भारविने तृतीय सर्गमें अर्जुनकी यात्राका वर्णन किया हैं तो माघने भी अपनी रचनाके उसी सर्गमें श्रीकृष्ण

भगवान्‌की यात्राका सुन्दरतम वर्णन किया है तथा नागरिकोंकी अवस्थाओंका वर्णन कर चार चाँद लगा दिया हैं। भारविने चतुर्थ तथा पंचम सर्गमें पर्वतराज हिमालय एवं शरदऋतुका वर्णन विविध वृत्तोंमें किया है और अर्जुनको ले जाने वाले यक्षके मुखसे शरदृऋतुका वर्णन कराया है तो माघने भी शिशुपालवधके उन्हीं सर्गोंमें छोटे-से रैवतक पर्वतका तथा वहाँके प्राकृतिक दृश्योंका बहुत मनोहर वर्णन उपस्थित कर श्रीकृष्ण भगवान् को ले जानेवाले दारुकके मुखसे रैवतक पर्वत का उदात्त वर्णन कराया है। भारविके समान ही माघने भी ऋतुओंका सुन्दरतम वर्णन किया है। भारविने अष्टम सर्गमें गन्धर्व तथा अप्सराओंके पुष्पावचयन तथा जलक्रीडाका वर्णन किया है तो माघने भी सप्तम सर्गमें यादवोंके साथ यादवाङ्गनाओंके पुष्पावचययनका और अष्टम सर्गमें उनकी जलक्रीडा का बहुत विस्तृत हृदयहारी वर्णन किया है। भारविने सप्तम सर्गमें गन्धर्व तथा अप्सराओंके सेना-निवेशका वर्णन किया है तो माघने भी पंचम सर्गमें ही श्रीकृष्ण भगवान्‌के सेना-निवेशका अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया है। भारविने नवम सर्गमें सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन किया है तो माघने भी नवम सर्गमें सन्ध्या तथा चन्द्रोदयका और दशम सर्गमें यादवों तथा यादवाङ्गनाओं की पानगोष्ठी एवं सुरतका सविस्तर वर्णन किया है। भारविने तपश्चर्यामें प्रवृत्त अर्जुनकी तपस्यामें बाधा डालनेके लिए देवाङ्गनाओंका प्रसङ्ग उपस्थित किया है तो माघने भी यादवाङ्गनाओंका प्रसंग उपस्थित कर किरातार्जुनीयकी अपेक्षा अपनी कृतिको श्रेष्ठ प्रमाणित कर दिया है। उभय कवियोंके प्रभातवर्णनमें अत्यधिक साम्य है। भारविने अर्जुनकी कठोर तपश्चर्याका वर्णन किया हैं तो माघने भी महाराज युधिष्ठिरकी यज्ञ-सभा एवं राजसूय यज्ञका विस्तृत वर्णन किया है। भारविने अर्जुनके समक्ष किरातवेषधारी शिवजीके दूतमुखसे अपने स्वामी शिवजीकी प्रशंसा करायी है तो माघने भी श्रीकृष्ण भगवान्‌के समक्ष शिशुपालके दूतमुखसे अपने स्वामी शिशुपालकी भूरि-भूरि प्रशंसा करायी है। भारविकृत अर्जुन तथा किरातवेषधारी शिवजीके भयङ्कर युद्धके वर्णनसे भी बढ़-चढ़कर माघने शिशुपाल तथा यादव-पाण्डवोंके रोमांचकारी तुमुलयुद्धका बहुत विस्तृत वर्णन किया है। भारविने पंचदश सर्गमें युद्ध-वर्णन-प्रसंगमें गोमूत्रिका-बन्ध, सर्वतोभद्र, अर्द्धभ्रमक, प्रतिलोमानुपाद, पादयमक आदि विकटबन्धमय छन्दोंकी रचना की है तो माघने भी उन्नीसवें सर्गमें श्रीकृष्ण भगवान् तथा

शिशुपालके युद्धवर्णन प्रसंगमें किरातसे भी संख्या में अधिक विकटबन्धमय छन्दों की रचना की है। इतना ही नहीं, भारविने अपने ग्रंथको अठारह सर्गोमें समाप्त किया है तो माघने अपने ग्रंथ शिशुपालवधको बीस सर्गोमें समाप्त कर दिया है कि भारविकी कृति अठारह है तो मेरी बीस, सत्रह नहीं।

माघे सन्ति त्रयो गुणाः

'उपमा कालिदासस्य…' इस वचनके अनुसार महाकवि कालिदासकी कृतियोंमें उपमा, भारविकी कृतिमें अर्थगौरव और दण्डी की कृतिमें पदलालित्य गुण हैं; किन्तु माघकी कृतिमें उक्त तीनों ही गुण हैं।

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम्।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥ (१।५)
विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चिच्छ्रुत्वाऽपि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः।
श्रेयान्द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥
(४।३७)

उपर्युक्त प्रथम श्लोक में नारदजी की पर्वतराज हिमयल के साथ तथा द्वितीय श्लोकमें रैवतक पर्वतकी श्रेष्ठ द्विजके साथ समानता करते हुए महाकविने उपमामें अद्भुत चमत्कार दिखाया है। अब अर्थगौरवका सौन्दर्य देखिये:—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्मजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥

यहाँ 'पतिके समीप जाती हुई क्रोडक्रीडिता आत्मजाता पुत्रीके समान समुद्रको जाती हुई आत्मजाता क्रोडक्रीडिता—अपनेसे उत्पन्न होकर बीचसे हुई बहती हुई—नदियोंको देखकर करुण पक्षि-शब्दोंसे पितृ-स्थानीय यह रैवतक पर्वत वत्सलता के कारण रो रहा है' ऐसा सहृदय—संवेद्यअनुपम भावपूर्ण कैसा अर्थ-गौरव भरा पड़ा है? अब 'पदलालित्य' का उदाहरण देखिये:—

'यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानां न विपन्नगानाम् ॥(४।१५)
कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डं
त्यजति मुदमुलूकः प्रीतिमांश्चक्रवाकः।

उदयमहिमरश्मिर्याति शीतांशुरस्तं
हतविधिलसितानां ह्री विचित्रो विपाकः ॥' (११।६४)

उपरि लिखित दोनों पद्योंमें कितना हृदयहारी पदलालित्य भरा पड़ा है। द्वितीय पद्यके विषयमें तो यह किंवदन्ती है कि इस पद्यके केवल एक अक्षर 'ह्री' पर मुग्ध होकर गुणग्राही एक राजाने महाकवि को एक लक्ष मुद्रा दी थी। इस प्रकार 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः' यह लोकोक्ति अक्षरशः सत्य है।

महाकवि 'माघ' का परिचय

कविकुलकमलदिवाकर महाकवि माघके पिताका नाम 'दत्तक' था, ये परमोदार एवं वदान्यशूर तथा सबके आश्रयदाता थे, अतएव 'सर्वाश्रय' नामान्तरसे भी प्रसिद्ध थे। इनके पितामहका नाम 'सुप्रभदेव' था जो राजा 'श्रीवर्मल' के धर्मसचिव थे,। श्रीवर्मल' इनके उपदेशोंको बड़ी श्रद्धाके साथ मानते थे 'माघ'के स्वरचित वंशवर्णनसे इतना ही पता चलता है।

आनन्दवर्धनाचार्यने अपने 'ध्वन्यालोक'की 'अलङ्कारान्तरस्यापि……' (२।२७) कारिकाकी वृत्तिमें माघकविके शिशुपालवधके 'त्रासाकुलः परिपतन्…' (५।२६) तथा 'रम्या इति प्राप्तवतीः पताकाः……' (५।५३) इन दो श्लोंकोको उदाहरणरूपमें उद्धृत किया है। आनन्दवर्द्धनाचार्यका समय ईसवीय नवम शताब्दी माना गया है, अतएव माघकवि का समय उसके पूर्व मानना ही युक्तिसङ्गत है। वामनाचार्यने काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तिमें 'सम्भाव्यधर्मस्य तदुत्कर्षकल्पनातिशयोक्तिः' (४।३।१०) सूत्रके उदाहरणमें माघकविके शिशुपालवध-महाकाव्यके 'उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहौ……' (३।८) श्लोकको उद्धृत किया है, अतएव अष्टम शताब्दीके अन्त या नवम शताब्दी के आदिमें स्थित वामनाचार्यके बाद माघका समय किस प्रकार न्यायसङ्गत कहा जा सकत, है? माघकविने द्वितीय सर्गमें 'अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना' (२।११२) श्लोकमें न्यास तथा काशिकाका नाम लिया है। महाकवि 'बाण' ने हर्षचरितमें न्यास ग्रन्थकी चर्चा की है, 'वाण' का समय छठी शताब्दीका प्रथम पाद माना गया है। तथा काशिकावृत्तिका रचना काल छठी शताब्दी का मध्य माना गया है, इस आधार पर भी माघका समय सातवीं शताब्दी मानना युक्तिसङ्गत है ख्यातिप्राप्त दश महाकवियों का कालानुसार नामनिर्देश करनेवाले—

'आदौ कालिदासः स्यादश्वघोषस्ततःपरम् ।
भारविश्च तथा भट्टिः कुमारश्चापि पञ्चमः॥
माघरत्नाकरौ पश्चाद्धरिश्चन्द्रस्तथैव च ।
कविराजश्च श्रीहर्षः प्रख्याताः कवयो दश ॥'

श्लोकद्वयके आधारपर भी 'कुमार तथा रत्नाकर' कवि के मध्यवर्ती माघकविका समय सप्तम शताब्दी ही सिद्ध होता है। यद्यपि 'प्रभावकचरित' में आये हुए उपमिति भवप्रचञ्च' नामक कथाग्रन्थकी समाप्तिमें लिखे हुए ९६२ संवत्में लिखित ग्रन्थरचनाकालके आधार पर जर्मनी के इतिहासवेत्ता 'डा० एफ्० क्लाट' ने माघकविका समय भी वही दशवीं शताब्दी माना है, तथापि इसी देशके 'याकोवी' नामक इतिहासज्ञने माघकविको सप्तम शताब्दीसे परवर्ती होना नहीं स्वीकार किया है।

माघकविके पितामह 'सुप्रभवदेव' के आश्रयदाता 'श्रीवर्मल' राजा का एक शिलालेख 'वसन्तगढ़' नगरमें कुछ दिन पूर्व उपलब्ध हुआ है। उक्त शिलालेख विक्रम संवत् ६८२में लिखा गया था, अतः विक्रम संवत् ६८२ (तदनुसार ईसवीय सन् ६२५) में 'सुप्रभदेव' के समय के आधार पर उनके पौत्र महाकवि माघका समय ईसवीय सन् सातवीं शताब्दीकाअन्तिम भाग या अधिकसे अधिक आठवीं शताब्दीका आदिभाग मानना सर्वथा युक्तियुक्त है।

माघकविका जन्मस्थान

'शिशुपालवध' महाकाव्यकी, प्राचीनतम कतिपय प्रतियोमें प्रत्येक सर्ग की पुष्पिकामें– इति श्रीभिन्नमालववास्तव्य'दत्तक' सूनोर्महावैयाकरणस्य 'माघस्य' कृतौ' शिशुपालवधे महाकाव्ये'……ऐसा लिखा हुआ मिलता है। बहुत कुछ सम्भव है इसी पुष्पिकाके आधार पर 'प्रभाचन्द्र' ने स्वरचित 'प्रभावकचरित' नामक प्रबन्ध (१४।५–१०) में भी—

अस्ति गुर्जरदेशोऽन्यसज्जराजन्यदुर्जरः । तत्र श्रीमालमित्यस्ति पुरं मुखमिव क्षितेः ॥……………………। तत्रास्ति हास्तिकाश्वीयापहस्तितारिपुव्रजः ॥नृपः श्रीवर्मलाताख्यः शत्रुमर्मभिदक्षमः । तस्य सुप्रभदेवोऽस्ति मन्त्री मिततपाः किल ॥

श्लोकोंको लिखा हो। माघकाव्य की प्राचीन प्रतिके सर्गोंके अन्त में लिखी गयी पुष्पिकामें उल्लिखित 'भिन्नमालव' को 'प्रभावकचरित' में 'श्रीमाल' लिखा है।

माघकाव्यके लगभग पाँच-छःसौ वर्ष बादमें रचित 'प्रभावकचरित'के रचनाकाल में सम्भवतः 'भिन्नमालव' का ही नामान्तर'श्रीमाल' हो गया हो। मह 'श्रीमाल नगर राजस्थान तथा गुजरातकी सीमापर वर्तमानमें अवस्थित है और इन दो राज्योंमें 'श्रीमाली' जातिके ब्राह्मण अब भी निवास करते हैं।

शिशुपालवधकी कथाका आधार

श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्ध के ७४ वें अध्यायमें तथा महाभारत के सभापर्वके ३३वें से ४५ वें तक–कुल तेरह अध्यायों में–शिशुपालवधकी कथा उपलब्ध होती है। यह कथा श्रीमद्भागवत में कुछ सूक्ष्मरूपसे है, उसमें लिखा है कि–'राजसूय यज्ञमें दीक्षित युधिष्ठिरके 'पहिले किसकी अग्रपूजा की जाय?' ऐसा पूछनेपर सहदेवने श्रीकृष्ण भगवान् की अग्रपूजा करनेके लिए कहा और उनके कथनका सभी सदस्योंने अनुमोदन किया। तदनुसार युधिष्ठिर के द्वारा उनकी अग्रपूजा करनेपर शिशुपाल श्रीकृष्ण भगवान् की निन्दा करने लगा। उसे सुनकर शिशुपालको भला-बुरा कहते हुए बहुत से सदस्य अपना-अपना कान बन्दकर सभास्थलसे इस अभिप्रायसे चले गये कि 'भगवान्की निन्दा सुननेवाला भी पातकी होता है'। और पाण्डुपुत्र, मत्स्य, कैकय, सृञ्जय आदि राजा शिशुपालको मारनेके लिए अपने-अपने शस्त्र धारण कर लिये। यह देख भगवान् श्रीकृष्णने उन्हें रोककर स्वयमेव सुदर्शन चक्रसे शिशुपालका शिर काट डाला।'

शिशुपालके अधिकांश श्लोक महाभारतके श्लोकोंसे मिलते-जुलते हैं। देखिये अधोलिखित महाभारतीय श्लोकोंके साथ शिशुपालवधके श्लोकोंका कितना साम्य है:—

'आचार्यमृत्विजञ्चैव संयुजञ्च युधिष्ठिर!। स्नातकञ्च प्रियं प्राहुःषडर्घ्यार्हान्नृप तथा।।
एतानर्घ्यानभिगतावाहुः संवत्सरोषितान्। त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः।।
एषामेकैकशो राजन्नर्घं आनीयतामिति। अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम्।।

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान्।
वार्ष्णेय मन्यते कृष्णं पूजनीयतमं भुवि।।

प्रतिजग्राह तत्कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा। शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे नच क्षमे।।

महाभारत २।३६।२३-२५,२७, ३१ एवं शिशु० १४।५५-५८,तथा, ५ १,

---

१ विस्तृत विवरण 'मणिप्रभा' व्याख्या सहितशिशुप, ालवध-सम्पूर्ण' की भूमिका में पढ़िये।

'महाकवि माघ' का पाण्डित्य

माघकृत अन्य किसी ग्रंथकी रचना नहीं मिलती है, किन्तु चौदहवीं शताब्दी के वल्लभदेवने—जो माघकी 'सन्देहविषौषधि' व्याख्याकरनेवाले वल्लभदेवसे भिन्न हैं—'सुभाषितावलि' में निम्नलिखित दो श्लोकोंको 'माघ' की रचना कहते हुए उद्धृत किया :—

'शीलं शैलतटात्पतत्वभिजनः सन्दह्यतां वह्निना
मा श्रौषं जगति श्रुतस्य विफलक्लेशस्य नामाप्यहम्।
शौर्ये वैरिणि वज्र माशु निपतत्वार्थोऽस्तु मे सर्वदा
येनैकेन विना गुणास्तृणतुसप्रायः समस्ता अमी ॥ १ ॥
नारीनितम्बफलके प्रतिबध्यमाना हंसीव हेमरसना मधुरं ररास।
तन्मोचनार्थमिव नूपुरराजहंसाश्चक्रन्दुरार्तमुखरं चरणावलग्नाः ॥२॥

एवं 'औचित्यविचारचर्चा' नामकी अपनी कृतिमें 'क्षेमेन्द्र' ने तत्त्वौचित्य के प्रत्युदाहरणमें निम्न श्लोकको 'माघ' कृत कहकर उद्धृत किया है :—

'बुभुक्षितैर्व्याकरणं न भुज्यते पिपासितैः काव्यरसो न पीयते।
न विद्यया केनचिदुद्धृतं कुलं हिरण्यमेवार्जय निष्फलाः कलाः ॥'

इन तीन पद्योंसे माघके दूसरे ग्रंथ होनेका भी अनुमान होता है, अथवा यह भी सम्भावना की जाती है कि ये श्लोक माघकी फुटकर रचनाओंमें से हों। जो कुछ भी वास्तविकता हो, किन्तु इन तीन श्लोकोंमेंसे प्रथम श्लोकसे अनुमान होता है कि माघ सुशील, बहुत अभिजनोंवाले,शास्त्रज्ञाता और बलशाली थे तथा तृतीय श्लोकसे माघका व्याकरण-शास्त्रका प्रकाण्ड विद्वान्, काव्यरसिक एवं उत्तम वंशका होना प्रतीत है और 'इनपर कभी बड़ी भारी अघटित घटना घटित हुई थी, जिससे ये अकिंचन होकर दर-दरके भिखारी होगये थे, यह भी आभासित होता है। सम्भव है इसी आधारपर बल्लालपण्डितने भोजराजप्रशंसापरक भोजप्रबन्धमें माघके विषयमें उक्त कथाका समावेश कर दिया हो। 'शिशुपालवध' के आद्यन्त सम्यक् परिशीलन करनेसे यह तो स्पष्ट ही हो जाता है कि महाकवि माघ कभी परमैश्वर्य—सम्पन्न, कुलीन, व्याकरणके प्रकाण्ड विद्वान् थे; इनके काव्यरसिक होनेका प्रत्यक्ष प्रमाण तो उनकी यह अनुपम कृति शिशुपालवध ही है। प्रकृतिके सूक्ष्म निरीक्षणमें महाकवि माघकी बहुत दूरदर्शिनी दृष्टि थी। साथ

ही अतिशय गहन विषयोंका भी वर्णन इन्होंने ऐसी सरलतासे किया है कि विषय दर्पणके समान स्पष्ट झलकता-सा प्रतीत होने लगता है। इनकी कृतिमें कदाचिद् ही कोई ऐसा पद्य मिले जो अलङ्काररहित हो। अलङ्कारका ऐसा प्राचुर्य होनेपर भी किसी एक भी पद्यमें इन्होंने अलङ्कारको बलात्कारपूर्वक इस प्रकार समाविष्ट नहीं किया है, जो किसीको लेशमात्र भी खटकता हो। विकट युद्धके प्रसगमें विकटबन्धोंकी रचना द्वारा इनके अगाध पाण्डित्यका परिचय मिलता है। 'शिशुपालवध महाकाव्यके पंचमसर्गमें वर्णित प्रसंग महाकविके समयमें पर्दाप्रथाके होनेका स्पष्ट प्रमाण है। यथा—

'यानाज्जनः परिजनैरवतार्यमाणा राज्ञीर्नरापनयनाकुलसौविदल्लाः।
स्रस्तावगुण्ठनपटाः क्षणलक्ष्यमाणवक्त्रश्रियः सभयकौतुकमीक्षतेस्म।'५ १७

तथा माघके समयमें भारतवर्षमें दूसरे देशोंके व्यापारी व्यापार करनेके लिए जहाजों द्वारा आया करते थे, इस प्रकार भारतवर्षकी वस्तुओं का दूसरे देशोंमें निर्यात तथा दूसरे देशोंकी वस्तुओंका भारतवर्षमें आयातका भी होना विदित होता है। यथा—

'विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्॥' (३।७३)

शिशुपालवधकी व्याख्यायें

निर्णयसागर प्रेससे मुद्रित शिशुपालवधकी भूमिकामें श्री पं० दुर्गाप्रसादजीने इस काव्यकी आठ संकृत व्याख्याओंका उल्लेख किया है यथा—वल्लभदेवकृत 'सन्देह विषौषधि' व्याख्या १, रंगराजकृत व्याख्या २, एकनाथकृत व्याख्या ३, चारित्रवर्धनकृत व्याख्या ४, मल्लिनाथकृत 'सर्वङ्कषा' व्याख्या ५, भरतमल्लिकृत सुबोध' व्याख्या ६, दिनकरमिश्रकृत 'सुबोधिनी' व्याख्या' ७ और गोपालकृत हसन्ती' व्याख्या ८। उपरिनिर्दिष्ट व्याख्याओंमें मल्लिनाथकृत व्याख्या अधिक श्रेष्ठ है।

—०००—

कथासार

प्रथम सर्ग

नारदजी का श्रीकृष्णसे शिशुपालवध करनेका इन्द्र-सन्देश कहना

जब जगदाधार श्रीकृष्ण भगवान् द्वारकापुरीमें लोकशासन कर रहे थे, तब एकदा नारदजी आकाशमार्गसे उनके यहाँ आये, उन्हें देखकर श्रीकृष्ण भगवान्ने यथोचित अतिथिसत्कार कर उनकी प्रशंसा करते हुए आनेका कारण पूछा। उत्तरमें नारदजीने श्रीकृष्ण भगवान्के दर्शनको ही प्रधान कारण बतलाते हुए इन्द्रके सन्देशरूपमें शिशुपालको मारनेके लिए कहा तथा उसकी परमावश्यकता-प्रदर्शनार्थ शिशुपालके पूर्वजन्ममें 'हिरण्यकशिपु' तथा 'रावण' होकर देवपीडन आदि उसके औद्धत्यपूर्ण कार्योंको विस्तारके साथ कहा और यह भी कहा कि उन्हें भी नरसिंह तथा दशरथनन्दन राम होकर आपने ही मारा तथा पुनः शिशुपालके औद्धत्यपूर्ण कार्योंको कहते हुए 'उसे भी आप हीं मार सकते हैं' ऐसा कहा। नारदजी कथित इन्द्र-सन्देशको सुनकर श्रीकृष्ण भगवान्ने क्रोधसे भृकुटि चढ़ा ली और शिशुपालको मारनेकी स्वीकृति प्राप्त कर नारदजी आकाशको लौट गये।

द्वितीय सर्ग

श्रीकृष्णका उद्धवजी तथा बलरामजीके साथ मन्त्रणा करना

नारदजी के लौटने के उपरान्त धर्मराज युधिष्ठिरसे राजसूय यज्ञमें सम्मिलित होकर सहायता करनेके लिए निमन्त्रित श्रीकृष्ण भगवान्को मित्रकार्य-सम्पादनार्थ युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होने हस्तिनापुर जाना चाहिये या देवकार्य-सम्पादनार्थ शिशुपालके साथ युद्ध करने चेदिदेश जाना चाहिये? इस विषयमें संशयालु होकर श्रीकृष्ण भगवान् मन्त्री एवं चाचा उद्धवजी, अग्रज बलरामजीके साथ मन्त्रणागृहमें पहुँचे और 'हमलोगोंके बिना भी युधिष्टिर लोकविजयी भीम, अर्जुन

आदि भाइयोंके साथ यज्ञ कर सकते हैं, अतएव जगत्पीडनकर्ता शत्रुकी उपेक्षा करना उचित प्रतीत नहीं होता' इस प्रकार अपना अभिमत व्यक्त करते हुए उन लोगोंसे भी अपनी-अपनी सम्मति देनेकी प्रार्थना की। पद एवं अवस्थामें बड़े होनेके कारण यद्यपि उद्धवजी बोलना चाहते थे, तथापि मदके नशेमें चूर अधिक क्रुद्ध होनेसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंसे आर्द्र एवं रक्तवर्ण शरीरवाले बलरामजी को बोलनेका इच्छुक जानकर वे चुप हो गये। तदन्तर बलरामजीने अनेकविध युक्ति तथा दृष्टान्तोंके द्वारा श्रीकृष्ण भगवान्के वचनका समर्थन करते हुए शीघ्रातिशीघ्र शिशुपालके प्रति अभियान करनेके लिये अपनी सम्मति दी। तदनन्तर श्रीकृष्ण भगवान् ने नेत्रका संकेत कर उद्धवजोको अपनी सम्मति देनेके लिए कहा। उनका संकेत पाकर उद्धवजीने तर्कपूर्ण विविध युक्तियुक्त बचनोंसे बलरामजीके प्रत्येक वचनका खण्डन कर धर्मराज युधिष्ठिरके यहां यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिए कहा तथा उन्होंने यह भी कहा कि अपने गुप्तचरों द्वारा शिशुपालके पक्षके राजाओंमें फूट डालना तथा अपने पक्षके राजाओंको युद्धके लिये तैयार होकर युधिष्ठिरके यज्ञमें सम्मिलित होनेके लिये सूचित कर देना चाहिये, क्योंकि जब युधिष्ठिरादि पाण्डव आप (श्रीकृष्ण भगवान्) की अधिक भक्ति एवं पूजा सत्कार करने लगेंगे तब उसे सहन नहीं करता हुआ चपलप्रकृतिका शिशुपाल आपकी निन्दा करने लगेगा। इस प्रकार अपनी फूआ जा शान्तिनवी, सात्वतीके प्रति शिशुपालके सौ अपराधों को सहन करनेके पूर्वप्रतिज्ञात वचनका सम्यक् पालन कर चुकनेपर जब आप शिशुपालका वध करेंगे तब उसके यहाँ चढ़ाई करनेके उद्देश्यकी सिद्धि उसी हस्तिनापुरमें स्वतः एव सम्पन्न हो जायगी। राजनीति-निपुण पितृव्य एवं मन्त्री उद्धवजीके वचनके अनुसार ही कार्य करने का निर्णय कर श्रीकृष्ण भगवान् सभा विसर्जन कर कार्यान्र साधनमें लग गये।

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

'सुधा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

प्रथमः सर्गः

सुरं गजाननं नत्वाऽगजाननमहो महः ।
व्याख्यां सुधाख्यां कुर्वेऽहं माघे छात्रहितेच्छया ॥

अथ कविकुलतिलको माघः अनेकश्रेयः [1]साधनत्वात् काव्यस्य, शिशुपालवधाख्यं काव्यं चिकीर्षुः ग्रन्थसमाप्तिप्रतिबन्धकदुरितोपशमार्थमादौ [2]श्रीशब्दप्रयोगपुरस्सरं श्रीकृष्णस्य नारददर्शनरूपवस्तुनिर्देशेन मङ्गलमाचरन्कथामारभते—

श्रियः पतिः श्रीमति शासितुं जगज्जगन्निवासो वसुदेवसद्मनि ।
वसन् ददर्शावतरन्तमम्बराद्धिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं हरिः ॥१॥

अन्वयः—श्रियः पतिः जगन्निवासः जगत् शासितुं श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसन् हरिः अम्बरात् अवतरन्तं हिरण्यगर्भाङ्गभुवं मुनिं ददर्श :

सुधा—श्रियः=लक्ष्म्याः । पतिः=भर्ता । जगन्निवासः=भुवनाधारः । जगत्=लोकम् । शासितुम् = नियन्तुम्, साधुसम्मानासाधुदमनाभ्यामित्यर्थः । श्रीमति=सम्पत्तियुक्ते । वसुदेवसद्मनि = वसुदेवगेहे, स्वपितृगृहे, इत्यर्थः । वसन् = तिष्ठन्, कृष्णरूपेणेत्यर्थः । हरिः = नारायणः । अम्बरात् = आकात् । अवतरन्तम्=अधः-

---

१. काव्यप्रकाशे—काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासंमिततयोपदेशयुजे ॥ इति ।

२. ग्रन्थान्तरे—देवतावाचकाः शब्दा ये च भद्रादिवाचकाः ।
ते सर्वे नैव निन्द्याः स्युर्लिपितो गणतोऽपि वा ॥ इति ।

आगच्छन्तम् । हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् = धातृदेहजम् । मुनिम् = ऋषिम्, नारद-मित्यर्थः । ददर्श = अवलोकयामास । अस्मिन् सर्गे वंशस्थं वृत्तम्, 'जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ' इति छन्दोग्रन्थे लक्षणदर्शनात् ॥ १ ॥

कोशः—'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इति, 'पतिर्भर्ता' इति, 'लोको विष्टपं भुवनं जगत्' इति, 'वसुदेवोऽस्य जनकः' इति, 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म' इति, 'अम्बरम्।'''आकाशविहायसी' इति चामरः। 'धाता हिरण्यगर्भे ना' इति मेदिनी।

समासादिः—श्रीरस्त्यस्मिन्निति श्रीमत् तस्मिन् श्रीमति । जगतां निवासो जगन्निवासः (त० पु०) । वसुदेवस्य सद्म वसुदेवसद्म तस्मिन् वसुदेवसद्मनि । (त० पु०) हिरण्यस्य गर्भो हिरण्यगर्भः, अङ्गाद्भवतीत्यङ्गभूः, हिरण्यगर्भस्याङ्गभूः हिरण्यगर्भाङ्गभूः, तम् हिरण्यगर्भाङ्गभुवम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—श्रीमति—श्री + मतुप् । शासितुं—शासु—तुमुन् इडागमः । निवासः—नि + वस + अधिकरणे घञ् । वसन्—वस + शतृ । ददर्श—दृश् + लिट् तिप् णल् । अवतरन्तम्—अव + तृ + शतृ । भुवं—भू = क्विप् लोपः अमि उवङ् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—श्रियः पत्या जगन्निवासेन जगत् शासितुं श्रीमति वसुदेवसद्मनि वसता हरिणा अम्बराद् अवतरन् हिरण्यगर्भाङ्गभूः मुनिः ददृशे ।

तात्पर्यार्थः—भूभारहरणार्थं वसुदेवगृहेऽवतीर्णो विष्णुरेकदा इन्द्रसन्देशकथनार्थं गगनमार्गेणागच्छन्तं नारदमपश्यत् ।

भाषा—संसार का नियन्त्रण करने के लिये श्रीकृष्णरूपसे वसुदेव के सम्पत्तियुक्त घरमें उत्पन्न हुए लक्ष्मीपति विष्णुने किसी समय इन्द्रसन्देश कहने के लिये आकाशसे आते हुए ब्रह्मपुत्र नारद मुनिको देखा ॥ १ ॥

तदा पौराणां विस्मयाकुलत्वं वर्णयति—

गतं तिरश्चीनमनूरुसारथेः प्रसिद्धमूर्ध्वज्वलनं हविर्भुजः ।
पतत्यधो धामविसारि सर्वतः किमेतदित्याकुलमीक्षितं जनैः ॥२॥

अन्वयः—अनूरुसारथेः गतं तिरश्चीनं प्रसिद्धम् । हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनं प्रसि-

---

१. भागवते—उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात्स्वयंभुवः ।
प्राणाद्वसिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः ॥ इति ।
(स्कन्ध ३. अध्याय १२ श्लोक २३)

द्धम्। सर्वतः विसारि (इदं) धाम अधः पतति। एतत् किम् इति जनैः आकुलं (यथा स्यात्तथा) ईक्षितम्।

सुधा—अनूरुसारथेः = अरुणसूतस्य सूर्यस्य। गतम् = गमनम्। तिरश्चीनम् = तिरोभूतम्। प्रसिद्धं = ख्यातम्। हविर्भुजः–हुतभुजः अग्नेः। ऊर्ध्वज्वलनम्=उपरिस्फुरणम्। प्रसिद्धमिति अत्रापि सम्बद्ध्यते। सर्वतः = परितः। विसारि =प्रसरणशीलम्। धाम = तेजः। अधः = नीचैः। पतति = अवतरति। एतत् पुरोदृश्यमानं वस्तु। किम्=किं सम्भवम्। इति जनैः = द्वारिकानगरवासिभिः पौरैः। आकुलं=विस्मयेन ससम्भ्रमं यथा स्यात्तथा। ईक्षितम्=अवलोकितम्॥२॥

कोशः—'सूरसूतोऽरुणोऽनूरुः' इति, 'परितः सर्वतः' इति चामरः। 'प्रसिद्धो भूषिते ख्याते' इति मेदिनी।

समासादिः—न ऊरू यस्य सोऽनूरुः स सारथिर्यस्य सः. अनूरुसारथिः तस्य। (ब. व्री.)। हविः भुङ्क्ते इति हविर्भुक् तस्य (त पु.)।

व्याकरणम्—गतम्–गम् + भावे क्तः अनुनासिकलोपः। प्रसिद्धम्—प्र + षिध् + क्तः। तिरश्चीनम्–तिरस् + अञ्च् + 'विभाषाऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्' इति खः, ईनादेशः। विसारि–वि + सृ + णिनिः।

वाच्यपरिवर्तनम्—अनूरुसारथेर्गतेन तिरश्चीनेन प्रसिद्धेन भूयते, हविर्भुजः ऊर्ध्वज्वलनेन प्रसिद्धेन भूयते, सर्वतो विसारिणा धाम्ना अधः पत्यते, एतेन केन भूयते इति जनाः आकुलमीक्षितवन्तः।

तात्पर्यार्थः—तेजःसमूहरूपं नारदमवलोकयन्तो जनाः सूर्यस्य तिर्यग्गत्या, अग्नेरूर्ध्वस्फुरणेन च तदुभयाभावं विचार्य ततः किमेतदिति निश्चयं नैव प्रापुः।

भाषा—सूर्य की गति तिरछी है और अग्नि (ज्वालारूप से) ऊपर उठा करता है। इसलिये वे दोनों नहीं हो सकते। तब यह चारों तरफ फैला हुआ तेज नीचे आ रहा है यह क्या है ? इस प्रकार द्वारकावासी लोगों ने व्याकुलचित होकर देखा है॥ २॥

अथ क्रमेण जातं भगवतो निश्चयमाह—

चयस्त्विषामित्यवधारितं पुरा ततः शरीरीति विभाविताकृतिम्।
विभुर्विभक्तावयवं पुमानिति क्रमादमुं नारद इत्यबोधि सः॥३॥

अन्वयः—विभुः सः पुरा त्विषां चयः इति अवधारितम् । ततः विभावि-ताकृतिं शरीरी इति (अवधारितम्) । विभक्तावयवं पुमान् इति (अवधारितम्) । अमुं क्रमात् नारद इति अबोधि ।

सुधा—विभुः = व्यापकः, वस्तुस्वरूपनिर्णये समर्थः । (अत एव) सः=हरिः । पुरा=आदौ, अवलोकनाव्यवधानेनेत्यर्थः । त्विषां=तेजसां । चयः = समूहः इति अवधारितम्=निर्णीतम् । ततः=तदनन्तरं, तत्पुञ्जस्य किञ्चित्सामीप्ये सतीत्यर्थः । विभावितकृतिम्=दृष्टाकारं, 'शरीरी=देही' इति अवधारितमित्यर्थः। ततः=सामीप्याधिक्ये । विभक्तावयवम्=स्पष्टलक्ष्यहस्तकाद्यवयवम् । पुमान्=पुरुषः । इति अवधारितमिति अत्रापि योज्यम् । अमुम्=आकाशादागच्छन्तंपुरुषम् ।क्रमात्= सामान्यविशेषबोधक्रमेण, नारद इति विशेषरूपेणेत्यर्थः।अबोधि=निरणैषीत्॥३॥

कोशः—'विधुः प्रभौ व्यापके' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः । चयः समूहे' इति मेदिनी।

समासादिः—विभाविताकृतिम्—विभाविता आकृतिर्यस्य स विभाविता-कृतिः तम् (ब. व्री.) विभक्तावयवम्—विभक्ताः अवयवाः यस्य तम् (ब. व्री)।

व्याकरणम्—अवधारितम्—अव + धृ + णिच् क्त-इडागमः । शरीरी—शरीर + इनिप्रत्ययः । अबोधि-बुध (अवगमने) कर्त्तरि लुङ्, त 'दीपजन–' इति चिण्, तलुक् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विभुना तेन पुरा त्विषां चयः इति अवधारितः, ततो विभाविताकृतिः शरीरी इति विभक्तावयवः पुमान् इति च (अवधारितः) असौ क्रमात् नारद इति अबोधि ।

तात्पर्यार्थः—गगनादवतरत्तद्वस्तु पश्यन् हरिः आदौ तेजःपुञ्ज इति, ततः किञ्चित्सामीप्ये शरीरवान् इति, ततोऽधिकसामीप्ये पुरुषः इति, अन्ते च नारदः इति बुबोध ।

भाषा—भगवान् ने पहले तेज का गोला समझा, उसके बाद कुछ पास आनेपर आकृति देखकर प्राणी समझा, उसके अनन्तर मस्तकादि अवयवों के स्पष्ट दीखने पर पुरुष समझा । (आकाश से उतरने वाले) उस व्यक्ति को क्रम से ये नारद हैं ऐसा निश्चय किया ॥ ३ ॥

नवानधोऽधो बृहतः पयोधरान्समूढकर्पूरपरागपाण्डुरम् ।

क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना स्फुटोपमं भूतिसितेन शम्भुना॥४॥

अन्वय.—नवान् बृहतः पयोधरान् अधोऽधः (स्थितम्) समूढकर्पूरपराग-पाण्डुरं क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमम् (अमुं नारदः इति अबोधि ।)

सुधा—नवान् = नूतनान् अधिकनीलानिति भावः । बृहतः = विपुलान् । पयोधरान् = मेघान् । अधोऽधः = अधोभागे स्थितमिति शेषः । समूढकर्पूरपराग-पाण्डुरम् = पुञ्जीभूतकर्पूरचूर्णतुल्यशुभ्रम् । क्षणम् = मेघसामीप्यावच्छिन्नकाले इत्यर्थः । क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना = ताण्डवोत्सवे उपरिकृतगजराजचर्मणा । भूतिसितेन=भस्मना गौरेण । शम्भुना = शङ्करेण । स्फुटोपमम् = व्यक्तसादृश्यम् । इतः प्रभृति सप्तश्लोकेषु पूर्वोक्तेन 'अमुं नारद इति अबोधि' इत्यनेन सम्बन्धः ॥४॥

कोशः—'नव्यो नवीनो नूतनः' इत्यमरः । 'पयोधरः कुचे मेघे' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः । 'समूढः पुञ्जिते भुग्ने' इति विश्वः ।

समासादिः—धरन्ति ते धराः पयसां धराः पयोधरास्तान् (त० पु०) । कर्पूरस्य परागः कर्पूरपरागः (त० पु०) समूढश्चासौ कर्पूरपरागः समूढकर्पूरपरागः समूढकर्पूरपरागः इव पाण्डुरः समूढकर्पूरपरागपाण्डुरः (क० धा०) तम् । गजानामिन्द्रो गजेन्द्रः (त० पु०) गजेन्द्रस्य कृत्तिः गजेन्द्रकृत्तिः (त० पु०) क्षणे उत्क्षिप्ता गजेन्द्रकृत्तिर्येन (ब० व्री०) तेन । स्फुटा उपमा यस्य (ब० व्री०) तम् । भूत्या सितो भूतिसितस्तेन (त० पु०) । शं भवति (अन्तर्भावितण्यर्थः) इति शम्भुस्तेन (उ० त० पु०) ।

व्याकरणम्—पयोधरान् इत्यादौ 'उभसर्वतसोः कार्या' इत्यादिना वार्तिकेन अधोऽधः शब्दयोगे द्वितीया । पाण्डुरः—पाण्डुशब्दात् 'नगपांसुपाण्डुभ्यश्च' इति वार्तिकेन रप्रत्ययः । शम्भुना—शमुपपदे अन्तर्भाविण्यर्थाद् भूधातोर्डुप्रत्ययः

वाच्यपरिवर्तनम्—नवान् बृहतः पयोधरान् अधोऽधः (स्थित.) समूढकर्पूरपरागपाण्डुरः क्षणं क्षणोत्क्षिप्तगजेन्द्रकृत्तिना भूतिसितेन शम्भुना स्फुटोपमः (असौ अबोधि) ।

तात्पर्यार्थः—हरिः कर्पूरवच्छुभ्रवर्णस्यात एव नीलमेघाधः स्थितिसमये ताण्डवनृत्ये स्वमस्तकोपरिधृतनीलगजचर्मणो भस्मना शुभ्रस्य च शङ्करस्य सादृश्यशालिनम् अमुं नारद इति अबुध्यत् ।

भाषा—भगवान् ने नवीन नील मेघों के नीचे स्थित और कर्पूरचूर्णपुञ्ज सदृश शुभ्र ऐसे, तत्क्षणमें ताण्डवनृत्यमें अपने मस्तक पर गजराज के (नील) चर्मको उठाये हुये भस्म से शुभ्र शिवजी के समान ऐसे नारदमुनि को जाना॥४॥

नारदस्य हिमाचलौपम्यमाह—

दधानमम्भोरुहकेसरद्युतीर्जटाः शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् ।
विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहो धराधरेन्द्रं व्रततीततीरिव ॥५॥

अन्वयः—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानम्, शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषम् (अत एव) विपाकपिङ्गाः तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः (दधानं) धराधरेन्द्रमिव।

सुधा—अम्भोरुहकेसरद्युतीः = कमलकिञ्जल्करुचः। जटाः=सटाः। दधानं= बिभ्राणम्। शरच्चन्द्रमरीचिरोचिषञ्च = शरत्कालीनेन्दुकिरणप्रभं, शुभ्रमित्यर्थः। अत एव विपाकेन = परिणामेन,पिङ्गा = पिङ्गलवर्णाः। तुहिनस्थलीरुहः = तुषा-सभूरुहः। व्रततीततीः = वल्लीसमूहान्। दधानमित्यस्यात्रापि सम्बन्धः। धरा-धरेन्द्रमिव = पर्वतराजमिव,हिमालयमिवेत्यर्थः ॥ ५ ॥

कोशः—'किञ्जल्कःकेसरः' इति, 'व्रतिनस्तु सटा जटा' इति, 'चन्द्रमाश्चन्द्रः इन्दुः' इति 'तुषारस्तुहिनम्' इति चामरः।

समासादिः—अम्भसि रोहन्तीत्यम्भोरुहाणि,तेषां केसराः अम्भोरुहकेसराः (त० पु०), तेषां द्युतिरिव द्युतिर्यासां, ताः अम्भोरुहकेसरद्युतीः (ब० ब्री०)। शरदश्चन्द्रः शरच्चन्द्रः (त० पु०), तस्य मरीचय इव रोचिर्यस्य त शरच्चन्द्रमरी-रोचिषम् (ब० ब्री०)। विपाकेन पिङ्गाः विपाकपिङ्गाः, ताः (त० पु०)। तुहिनानां स्थल्यस्तुहिनस्थल्यः, तासु रोहन्तीति तुहिनस्थलीरुहः (त० पु०)। व्रततीनां ततयः व्रततीततयस्ताः (त० पु०)। धरन्ति ते धराः, धरायाः धराः धराध रास्तेषामिन्द्रस्तम् (त० पु०)।

व्यारकणम्—दधानम् = धा + शानच्।

वाच्यपरिवर्तनम्—अम्भोरुहकेसरद्युतीः जटाः दधानः शरच्चन्द्रमरीचि-रोचिः, विपाकपिङ्गास्तुहिनस्थलीरुहः व्रततीततीः दधानः धराधरेन्द्रः इव (असौ अबोधि)।

तात्पर्यार्थः—शुभ्रवर्णोऽसौनारदः पिङ्गलवर्णाजटाधारयन्तुषारभूमावुत्पन्नाः परिपाकेण पीतवर्णा लता धारयन् हिमवानिव शुशुभे।

भाषा—कमलकेसर के सदृश कान्तिवाली जटाओंको धारण करनेवाले तथा शरच्चन्द्र के समान कान्तिवाले नारदजी को परिपाक से पीतवर्ण ऐसे हिमप्रदेश में उत्पन्न हुए लतासमूहों को धारण करनेवाले हिमाचलपर्वत के समान जाना ॥५॥

नारदस्य बलभद्रसाम्यमाह—

पिशङ्गमौञ्जीयुजमर्जुनच्छविं वसानमेणाजिनमञ्जनद्युति ।
सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां विडम्बयन्तं शितिवाससस्तनुम् ॥६॥

अन्वयः—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् अर्जुनच्छविम् अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानम् (अत एव) सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां शितिवाससः तनुं विडम्बयन्तम् ।

सुधा—पिशङ्गमौञ्जीयुजम् = पिङ्गलवर्णमुञ्जमयमेखलया युतमित्यर्थः । अर्जुनच्छविम् = धवलकान्तिम् । अञ्जनद्युति = कज्जलच्छवि, कृष्णवर्णमिति यावत् । एणाजिनम् = मृगचर्म । वसानम् = दधानम् । अत एव सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम् = कनकमेखलया निबद्धाधोवसनाम् । शितिवाससः = नीलाम्बरस्य बलभद्रस्य । तनुम् = शरीरम् । विडम्बयन्तम् = अनुकुर्वन्तम् ॥ ६ ॥

कोशः—'पिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इति, 'धवलोऽर्जुनः' इति चामरः ।

समासादिः—मुञ्जस्य विकारः मौञ्जी, पिशङ्गीचासौ मौञ्जी च पिशङ्गमौञ्जी तया युज्यते इति पिशङ्गमौञ्जीयुक्, तम् । अर्जुनच्छविम्-अर्जुना छविर्यस्य तत् । अञ्जनद्युति—अञ्जनस्येव द्युतिर्यस्य तत् । एणाजिनम्-एणस्य अजिनं तत् । सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बराम्—सुवर्णसूत्रेण आकलितम् अधराम्बरं यस्यास्ताम् । शितिवाससः—शिति वासो यस्य तस्य । विडम्बयतीति विडम्बयन्, तं विडम्बयन्तम् ।

व्याकरणम्—वसानम्-आच्छादनार्थकवस + शानच् । विडम्बयन्तं-विडम्ब + णिच् + शतृ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—पिशङ्गमौञ्जीयुक् अर्जुनच्छवि अञ्जनद्युति एणाजिनं वसानः अत एव सुवर्णसूत्राकलिताधराम्बरां शितिवाससः तनु विडम्बयन् ।

तात्पर्यार्थः—स्वयं धवलवर्णो नारदो मौञ्ज्या मेखलया निबन्धं कृष्णसार-मृगचर्म धारयन् सुवर्णमेखलाबद्धनीलाम्बरं दधानो बलभद्र इव बभौ ।

भाषा—स्वयं धवलवर्ण तथा मूंज की मेखला से युक्त, और कृष्णसार मृग के चर्म को धारण किये हुये नारद जी सोने की करधनी से बद्ध धोती को पहने हुये बलरामजी के समान शोभित हुए ॥ ६ ॥

नारदस्य शरन्मेघसाम्यमाह—

विहङ्गराजाङ्गरुहैरिवायतैर्हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः ।
कृतोपवीतं हिमशुभ्रमुच्चकैर्घनं घनान्ते तडिताङ्गणैरिव ॥७॥

अन्वयः—विहङ्गराजाङ्गरुहैः इव आयतैः हिरमण्योर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतं हिमशुभ्रम् (अत एव) घनान्ते तडितां गणैः (उपलक्षितम्) उच्चकैः घनम् इव ।

सुधा—विहङ्गराजाङ्गरुहैः = गरुडकेशैः इव । आयतैः = दीर्घैः । हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः = सुवर्णमय्यां पृथ्व्यां समुत्पन्नलतासूत्रैः । कृतोपवीतं = विरचितयज्ञसूत्रम् । (स्वयं तु) हिमशुभ्रं = तुषारधवलवर्णम् । (अत एव) घनान्ते = शरत्काले । तडितां गणैः = विद्युतां समूहैः । उपलक्षितम् । उच्चकैः = उन्नतम् । घनम् = मेघम् इव ॥ ७ ॥

कोशः—'वल्ली तु व्रततिर्लता' 'उपवीतंब्रह्मसूत्रम्' 'तुषारस्तुहिनं हिमम्' इतिः

समासादिः—विहङ्गराजस्य अङ्गरुहैः इव आयतैः (उपमित० स०) । हिमरण्मय्याम् उर्व्यां रोहन्ति इति हिरण्यमोर्वीरुहाः ताश्च ताः वल्लयश्चेति तासां तन्तवश्चेति तैः (त० पु०) कृतोपवीतं–कृतम् उपवीतं येन तम् (ब० व्री०) हिमशुभ्रं–हिम इव शुभ्रस्तम् (उपमित० स०) घनान्ते–घनानामन्तः घनान्तः तस्मिन् घनान्ते (त० पु०) ।

व्याकरणम्—आयतैः–आ + यम् + क्त । उच्चकैः—उच्चैरित्यस्मात्—स्वार्थे + अकच् । गणैः —इत्थम्भूतलक्षणे तृतीता ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विहङ्गराजाङ्गरुहैः आयतैः हिरण्मयोर्वीरुहवल्लितन्तुभिः कृतोपवीतः हिमशुभ्रः (अत एव) घतान्ते तडितां गणैः (उपलक्षितः) असौ उच्चकैः घन इव अबोधि ।

तात्पर्यार्थः—शुभ्रवर्णो नारदः सुवर्णसूत्रैः रचितं यज्ञोपवीतं धारयन् विद्युज्जालभूषितः शरन्मेघ इव शुशुभे ।

भाषा—श्वेतवर्णवाले नारदजी पीले सूत्रों में विरचित जनेऊ को धारण करने से विद्युत्समूह से सुशोभित शरत्काल के मेघ के तरह शोभित हुए ॥७॥

अथ नारदस्य ऐरावतसाम्यमाह—

निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना ।
चकासतं चारुचमूरुचर्मणा कुथेन नागेन्द्रमिवेन्द्रवाहनम् ॥८॥

अन्वयः—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा कुथेन इन्द्रवाहनम् नागेन्द्रम् इव चकासतम् ।

सुधा—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा—निसर्गेण = स्वभावेन चित्राणि = विविधवर्णानि उज्ज्वलानि = भासुराणि सूक्ष्माणि = अणूनि च पक्ष्माणि = रोमाणि यस्य तेन । तथा लसद्बिसच्छेदसिताङ्गसङ्गिना—लसन् = दीप्यमानो यो बिसच्छेदः = मृणालशकलं तद्वत्सिते = शुक्ले स्वीये अङ्गे सङ्गिना=संसक्तेन । चारुचमूरुचर्मणा = सुन्दरमृगचर्मणा । कुथेन = पृष्ठास्तरणेन इन्द्रवाहनं = ऐरावतम् । नागेन्द्रं = गजेन्द्रम् इव । चकासतं = शोभमानम् ॥ ८ ॥

कोशः—'मृणालं बिसम्', 'सुन्दरं रुचिरं चारु' इति चामरः ।

समासादिः—निसर्गेण चित्राणि उज्ज्वलानि सूक्ष्माणि च पक्ष्माणि यस्य सः तेन (ब० व्री०) । लसन् यो बिसच्छेदः तद्वत्सिते अङ्गे सङ्गिना (कर्म० बहु०) चमूरोः चर्म चमूरुचर्म चारु च तत् चमूरुचर्म च तत् तेन (त० पु०) । इन्द्रस्य वाहनम् इन्द्रवाहनम् तत् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—चकासतं-चकासृ दीप्तौ इत्यस्मात्कर्तरि शतृ, जक्षित्यादित्वेन अभ्यस्तत्वान्नुमभावः । वाहनं—वह + णिच् कर्तरि ल्युट् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—निसर्गचित्रोज्ज्वलसूक्ष्मपक्ष्मणा लसद्बिसच्छेदसिताङ्ग-सङ्गिना चारुचमूरुचर्मणा (उपलक्षितः) नारदः कुथेन इन्द्रवाहनं नागेन्द्र इव चकासत् ।

तात्पर्यार्थः—शुभ्रवर्णे अङ्गे चारुचमूरुमृगचर्म धारयन् नारदः पृष्ठा-स्तरणाच्छादितः ऐरावतः इव रराज ।

भाषा—गौरवर्ण अङ्ग में सुन्दर मृगचर्म धारण किये हुये नारदजी पृष्ठा-स्तरण से आच्छादित ऐरावत हाथी के तरह सुशोभित हुये ॥ ८ ॥

नारदहस्ते विद्यमानस्फटिकाक्षमालायां प्रवालैः पूरितार्धत्वम् उत्प्रेक्ष्यते—

अजस्रमास्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया ।
पुरः प्रवालैरिव पूरितार्धया विभान्तमच्छस्फटिकाक्षमालया ॥ ९ ॥

अन्वयः—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान्तम् ।

सुधा—अजस्रं = निरन्तरम् । आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशु-भिन्नया = वादितवीणातन्त्रसङ्घर्षणेन उज्ज्वलाङ्गुष्ठनखकिरणमिश्रितया । पुरः =

अग्रे । प्रवालैः = विद्रुमैः । पूरितार्धया = प्रवेशितार्धभागया इव । अच्छस्फटिकाक्षमालया = निर्मलस्फटिकमणिजपमालया । विभान्तं = विराजमानम् ॥९॥

कोशः—'वीणा तु वल्लकी' । 'किरणोस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः', 'विद्रुमः पुंसि प्रवालं पुन्नपुंसकम्' इति चामरः ।

समासादिः—आस्फालिताश्च ते वल्लक्या गुणाश्चेति तेषां क्षतेन उज्ज्वलाश्च ते अङ्गुष्ठनखांशवश्च तैः भिन्ना तया (त० पु०) । पूरितम् अर्धं यस्याः तया (ब० व्री०) अच्छस्फाटिकक्षमालया—अच्छाश्च ते स्फटिकाश्च तेषां या अक्षमाला तया (त० पु०) ।

व्याकरणम्—अजस्र—नञ् जस् रः । विभान्तमिति—वि भा + कर्तरि शतृ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अजस्रम् आस्फालितवल्लकीगुणक्षतोज्ज्वलाङ्गुष्ठनखांशुभिन्नया पुरः प्रवालैः पूरितार्धया इव अच्छस्फटिकाक्षमालया विभान् असौ नारदः इत्यबोधि ।

तात्पर्यार्थः—नारदस्य हस्ते या स्वच्छस्फटिकगुटिकानिर्मितजपमाला सा निरन्तरवीणावादनेन तन्त्रीक्षततया रक्ताङ्गुष्ठनखप्रभया प्रवालपूरितार्धा इव शुशुभे ।

भाषा—निरन्तर सितार बजाने के कारण तारों के आघात से अत्यन्त घिस जाने से रक्तवर्ण अङ्गुष्ठनख की प्रभा से मानो मूँगे से जिसका आधा भाग पूरित किया हो ऐसी निर्मल स्फटिकमाला से नारदजी शोभित हुए ॥९॥

उपमारहितं मुनिं विशिनष्टि—

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥१०॥

अन्वयः—नभस्वतः आघट्टनया पृथक् रणद्भिः विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहूर्मुहुः अवेक्षमाणम् । (असुम् नारदः इत्यबोधि) ।

सुधा—नभस्वतः = वायोः । आघट्टनया = आघातेन । पृथक् = असिश्रं यथा स्यात्तथा । रणद्भिः = ध्वनद्भिः, तादृशध्वन्युत्पन्नैरित्यर्थः । विभिन्नश्रु[1]तिमण्डलैः ।

---

१. तदुक्तं रत्नाकरे—श्रुत्यनन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥
प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः ।
सा श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥ इति ॥

= प्रतिनियतसंख्यया व्यवस्थितस्वरारम्भकशब्दविशेषसमूहैः । [1]स्वरैः = स—रि-ग-म-प-ध-नि-इति प्रसिद्धैः षड्जादिभिः । स्फुटीभवद्[2]ग्रामविशेष[3]मूर्च्छनां = व्यक्तीभवत्-स्वरसंघातभेदानां स्वरारोहावरोहक्रमविशेषिकाम्[4] महतीं = तन्नाम्नीं निजवीणाम् । मुहुर्मुहुः = पुनः पुनः । अवेक्षमाणम् = अवलोकयन्तम् ॥१०॥

कोशः—'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वरा' इत्यमरः ।

समासादिः—विभिन्नश्रुतिमण्डलैः–विभिन्नानि च तानि श्रुतिमण्डलानि तैः (त० पु०) । स्फुटीभवन्त्यः ग्रामविशेषाणांमूर्च्छनाः यस्यां ताम् (ब० व्री०) ।

व्याकरणम्—रणद्भिः–रण् + शतृ । अवेक्षमाणम्–अव + ईक्ष् + शानच् । आघट्टनया—आ + घट्ट् + स्वार्थे,णिच् युच् । स्फुटीभवत्—स्फुट् + च्वि + भू + शतृ, ङीप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्–नभस्वतः आघट्टनया पृथक् रणद्भिः श्रुतिमण्डलैः स्वरैः स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनां महतीं मुहुर्मुहुः अवेक्षमाणः स नारदः अबोधि ।

तात्पर्यार्थः–महती नाम या निजवीणा–वादनं विनैव तस्यां वायोः आघातात् उत्पद्यमानेभ्यः श्रुतिसमूहेभ्य उत्पन्नैः षड्जादिभिः सप्तभिः स्वरैरतिस्पष्टं ग्रामविशेषमूर्च्छना अभवन् । अतः साश्चर्यं तां वीणां नारदः विलोकयामास ।

भाषा—महती नाम की जो उनकी वीणा थी उस वीणा में वायु के आघात से उत्पन्न होने वाले श्रुतिसमूहों से उत्पन्न हुए षड्जादि सात स्वरों से

---

१. तदुक्तं रत्नाकरे—श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ।
तेषां संज्ञा स रि ग म प ध नीत्यपरा मता ॥ इति ॥

२. तदुक्तं वैजयन्त्याम्—विश्वावसोस्तु बृहती तुम्बुरोस्तु कलावती ।
महती नारदस्य स्यात्सरस्वत्यास्तु कच्छपी ॥ इति ॥

३. तदुक्तं रत्नाकरे—यथा कुटुम्बिनः सर्वेऽप्येकीभूता भवन्ति हि ।
तथा स्वराणां सन्दोहो 'ग्राम' इत्यभिधीयते ॥
षड्जग्रामो भवेदादौ मध्यमग्राम एव च ।
गान्धारग्राम इत्येतद् ग्रामत्रयमुदाहृतम् ॥ इति ॥

४. तदुक्तं रत्नाकरे—क्रमात् स्वराणां सप्तानामारोहश्चावरोहणम् ।
सः मूर्च्छेत्युच्यते ग्रामस्था एताः सप्त सप्त च ॥ इति ॥

अत्यन्त स्पष्ट ग्रामविशेषमूर्च्छनायें हुईं। अतः नारदजी साश्चर्य उस वीणा को वारम्बार देखते थे ॥ १० ॥

नारदस्य द्वारिकाप्राप्तिं वर्णयति—

निवर्त्य सोऽनुव्रजतः कृताननतीन्द्रियज्ञाननिधिर्नभःसदः ।
समासदत्सादितदैत्यसम्पदः पदं महेन्द्रालयचारु चक्रिणः ॥ ११ ॥

अन्वयः—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः सः कृताननतीन् अनुव्रजतः नभः सदः निवर्त्य, सादितदैत्यसम्पदः चक्रिणः महेन्द्रालयचारु पदं समासदत् ।

सुधा—अतीन्द्रिज्ञाननिधिः = चक्षुरादीन्द्रियागोचरसर्ववस्तुज्ञाता । सः = मुनिः नारदः । कृताननतीन् = कृतप्रणामान् । अनुव्रजतः—अनुगच्छतः । नभः-सदः = देवान् । निवर्त्य = परावर्त्य । सादितदैत्यसम्पदः = विध्वस्तीकृतदानवैश्वर्यस्य । चक्रिणः = सुदर्शनचक्रधरस्य श्रीकृष्णस्य । महेन्द्रालयचारु = शक्रभवनवत्सुन्दरम् । पदं = वासभवनम् । समासदत् = प्रापत् ॥ ११ ॥

कोशः—'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इत्यमरः ।

समासादिः—अतीन्द्रियज्ञाननिधिः—इन्द्रियाणि अतिक्रान्तानां वस्तूनां ज्ञाननिधिः (त० पु०)। कृताः आनयतः यैः तान् कृताननतीन्। दैत्यानां सम्पदः दैत्यसम्पदः ताः सादिताः येन तस्य सादितदैत्यसम्पदः (ब० ब्री०)। महेन्द्रस्य य आलयः तद्वच्चारु इति (त० पु०), तत् ।

व्याकरणम्—निवर्त्य—नि + वृत् + क्त्वा + ल्यप् । अनुव्रजतः—अनु व्रज् + शतृ । कृताननतीन्—कृ + क्त, आ + नम् · क्तिन् । समासदत्–सम + आ + सद् · लुङ् + तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अतीन्द्रियज्ञाननिधिना तेन नभःसदः निवर्त्य, चक्रिणः पदं समासादि ।

तात्पर्यार्थः—ये देवाः स्वर्गात् तम् अनुजग्मुः, सर्वदर्शी नारदः कृतप्रणामान् तान् निवर्त्य, महेन्द्रालयवत् मनोरमां द्वारिकां प्राप ॥

भाषा—सर्वदर्शी नारदजी स्वर्ग से पीछे आये हुए और प्रणाम करने वाले देवताओं को लौटाते हुए इन्द्रभवन-तुल्य कृष्णभवन को आये ॥ ११ ॥

श्रीकृष्णकृतं नारदस्वागतं वर्णयति—

पतत्पतङ्गप्रतिमस्तपोनिधिः पुरोऽस्य यावन्न भुवि व्यलीयत ।

गिरेस्तडित्वानिव तावदुच्चकैर्जवेन पीठादुदतिष्ठदच्युतः ॥१२॥

अन्वयः—पतत्पतङ्गप्रतिमः तपोनिधिः अस्य पुरः भुवि यावत् न व्यलीयत. तावत् अच्युतः गिरेः तडित्वान् इव उच्चकैः पीठात् जवेन उदतिष्ठत् ।

सुधा—पतत्पतङ्गप्रतिमः = आकाशादागच्छन् सूर्य इव । तपोनिधिः = तपःखनिः नारदः । अस्य = श्रीकृष्णस्य । पुरः = अग्रे, सम्मुखस्थाने इत्यर्थः । यावत् = यावत्कालपर्यन्तम् । न व्यलीयत = न अतिष्ठत् । तावत्कालपर्यन्तम् । अच्युतः = श्रीकृष्णः । गिरेः = पर्वतात् । तडित्वान् इव = जलधर इव । उच्चकैः = उन्नतात् । पीठात् = आसनात् । जवेन = वेगेन । उदतिष्ठत्—उत्थितः अभवत् ॥ १२ ॥

कोशः—'पतङ्गौ, पक्षिसूर्यौ च', 'धाराधरो जलधरस्तडित्वान्,' 'पीठमासनम्' इति चामरः ।

समासादिः—पतत्पतङ्गप्रतिमः पतंश्चासौ पतङ्गः पतत्पतङ्गः सः प्रतिमा यस्य सः (कर्मधारयबहुव्रीहिः) । तपसां निधिः तपोनिधिः (त० पु०) ।

व्याकरणम्—व्यलीयत = वि + ली + लङ् + त । उदतिष्ठत्—उद् + स्था + लङ् + अट् + ति...तिष्ठादेशः । पतत्—पत् + कर्तरि शतृ । तडित्वान्—तडित् + मतुप् ।

वाच्यपरि०—पतत्पतङ्गप्रतिमेन तपोनिधिना व्यलीयत, अच्युतेन उदस्थीयत

तात्पर्यार्थः—आकाशादवतरत्सूर्ये इव नारदे श्रीकृष्णसम्मुखमागतमात्रे एव श्रीकृष्णः भूमौ तदीयपादस्पर्शात् पूर्वमेव मुनेः स्वागतकरणाय शैलस्य उपरिमामान्मेघ इव उच्चासनात् उत्तस्थौ ।

भाषा—सूर्य के सदृश नारद के, सामने आने पर जमीन पर, उनके पांव लगने के पूर्व ही मुनि का स्वागत करने के लिये पर्वत के ऊपर से मेघ की तरह, ऊँचे आसन से, श्री कृष्ण जी उठे ॥ १२ ॥

नारदस्य भूमौ पादन्यासं वर्णयति—

अथ प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैर्धृते कथंचित्फणिनां गणैरधः ।
न्यधायिषातामभिदेवकीसुतं सुतेन धातुश्चरणौ भुवस्तले ॥१३॥

अन्वयः—अथ धातुः सुतेन प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः फणिनां गणैः अधः कथञ्चिद्धृते भुवः तले अभिदेवकीसुतं चरणौ न्यधायिषाताम् ।

सुधा—अथ = अच्युताभ्युत्थानानन्तरम् । धातुः = ब्रह्मणः । सुतेन—तनुजेन

नारदेन, मानसपुत्रेणेत्यर्थः प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः = प्रयत्नेन प्रयासेन उन्नमिताः = उपरिकृताः अपि आनमन्त्यः = अधोगच्छन्त्यः फणाः = स्फटाः येषां तैः । फणिनां = नागानाम् । गणैः = समूहैः । अधः = नीचैः प्रदेशे । कथञ्चित् = महता प्रयत्नेन । धृते = स्थापिते । भुवस्तले = पृथ्वीतले । अभिदेवकीसुतं = देवकीसुतं लक्ष्यीकृत्य, श्रीकृष्णाग्रे इत्यर्थः । चरणौ = पादौ । न्यधायिषाताम् = स्थापितौ ॥ १३ ॥

कोषः—'स्फटायां तु फणा द्वयोः' इत्यमरः ।

समासादिः—प्रयत्नोन्नमितानमत्फणैः—प्रयत्नेन उन्नमिताः आनमन्त्यः फणाः येषां तैः (ब० व्री०) अभिदेवकीसुतम्—देवकीसुतमभि (अव्ययी०) ।

व्याकरणम्—फणिनां-फण इनिः । अभिदेवकीसुतम्—अभिदेवकीसुत + अम् 'नाव्ययीभावादतोम् त्वपञ्चम्याः' इति ।

वाच्यपरिवर्तनम्—धातुः सुतः चरणौ न्यधात् ।

तात्पर्यार्थः—श्रीकृष्णाभ्युत्थानानन्तरं नारदः पृथ्व्यां श्रीकृष्णाग्रे पादौ न्यदधात् ।

भाषा—श्री कृष्णजी के खड़े होनेके बाद नारदजीने बड़े प्रयाससे ऊपर उठाने पर भी नीचे झुकने वाली फणाओं से किसी तरह नागों से धारण की हुई पृथ्वी पर श्रीकृष्ण के सम्मुख चरण रखा ॥ १३ ॥

तमर्घ्यमर्घ्यादिकयाऽऽदिपूरुषः सपर्यया साधु स पर्यपूपुजत् ।
गृहानुपैतुं प्रणयादभीप्सवो भवन्ति नापुण्यकृतां मनीषिणः ॥ १४ ॥

अन्वयः—आदिपूरुषः सः अर्घ्यं तम् अर्घ्यादिकया सपर्यया साधु पर्यपूपुजत् । मनीषिणः अपुण्यकृतां गृहान् प्रणयात् उपैतुम् अभीप्सवः न भवन्ति ।

सुधा—आदिपूरुषः = पुराणपुरुषः । सः = श्रीकृष्णः अर्घ्यं = पूज्यम् । तं = नारदम् । अर्घ्यादिकया = अर्घ्यप्रधानया । सपर्यया = पूजया । साधु = शास्त्रोक्तम् । पर्यपूपुजत् = परिपूजितवान् । मनीषिणः = सन्तः । अपुण्यकृतां = पुण्यमकृतवताम् । गृहान् = गृहाणि । प्रणयात् = अतिप्रेम्णः । उपैतुं = गन्तुमित्यर्थः । अभीप्सवः = अभिलाषवन्तः न भवन्ति ॥ १४ ॥

कोशः—'पूजा नमस्याऽपचितिः सपर्या' इति, 'गृहं गृहाः पुंसि च' इति, 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः' इति चामरः ।

समासादिः—आदिपूरुषः—आदिश्चासौ पूरुषः इति (त० पु०) । अर्घं-

महतीति अर्घ्यस्तम् । अर्घ्यमादि—यस्याः सा अर्घ्यादिका तया । मनीषिणः—मनसः ईषिणः मनीषिणः (त० पु०) । अपुण्यकृतां—पुण्यं कृतवन्तः—इति पुण्यकृतः न पुण्यकृतः अपुण्यकृतस्तेषाम् (त० पु०) ।

व्याकरणम्—अर्घ्यादिका शेषादिति कप् । पर्यपूपुजत्—परिपूज् णिच् + लुङ् + तिप् । अर्घ्यम्—अर्घयत् । मनीषिणः—मनस् ईष् + णिनिः । उपैतुम्—उप + आ + इण् तुमुन् । भवन्ति भू + लट् अन्ति ।

वाच्यपरिवर्तनम्—आदिपूरुषेण अर्घ्यः पर्यपूजि । मनीषिभिः अभीप्सुभिः न भूयते ।

तात्पर्यार्थः—नारदोपवेशनानन्तरं श्रीकृष्णः तं यथाविधि अर्घ्यप्रदानपूर्वकम् अपूपुजत् । साधवः दुरात्मनामतिथिसत्कारं ग्रहीतुं विमनस्का एव जायन्ते ।

भाषा—नारदजी के बैठने के बाद श्रीकृष्णजीने यथाविधि श्रीनारदजी की पूजा की । साधु लोग दुरात्माओं के अतिथिसत्कार को ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रखते ॥

श्रीकृष्णपुरो नारदस्य चन्द्रसाम्यमाह—

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत्॥१५॥

अन्वयः—जनः उत्थितौ एतौ तुषाराञ्जनपर्वतौ इव यावत् न उदपश्यत्, तावत् चिरन्तनः मुनिः स्वहस्तदत्ते आसने मुनिम् अभिन्यवीविशत् ।

सुधा—जनः = लोकः । उत्थितौ = उद्गतौ । एतौ = नारदश्रीकृष्णौ । तुषाराञ्जनपर्वतौ = हिमकज्जलशैलौ । इव यावत् न उदपश्यत् = न अवलोकयत् तावत् । चिरन्तनः = पुराणः । मुनिः = श्रीकृष्णः, वासुदेव इत्यर्थः । स्वहस्तदत्ते = निजकरसमर्पिते । आसने = विष्टरे । मुनिं = नारदम् । अभिन्यवीविशत् = निजसम्मुखेनिवेषयामास ॥ १५ ॥

कोषः—'विष्टरः पीठमासनम्', 'तुषारस्तुहिनं हिमम्', इति चामरः ।

समासादिः—तुषाराञ्जनपर्वतौ-तुषारश्च अञ्जनं च तुषाराञ्जने तयोः पर्वतौ इव (त० पु०) । स्वहस्तदत्ते-स्वहस्तेन दत्तं स्वहस्तदत्तं तस्मिन् स्वहस्तदत्ते (त० पु०) ।

व्याकरणम्—उदपश्यत्—उद् + दृश् + लङ् + तिप् । उत्थितौ—उद्स्था + क्त । आसनम्—आस्यते अस्मिन्निति विग्रहे आस् + ल्युट् । चिरन्तनः—चिरम् ट्यु तुडागकश्च । अभिन्यवीविशत्—अभि नि विश् + णिच् + लुङ् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—जनेन उत्थितौ न उदद्दश्येताम् । चिरन्तनेन मुनिना मुनिः अभिन्यवेशि ।

तात्पर्यार्थः—उत्थितौ हिमकज्जलसदृशौ नारदश्रीकृष्णौ लोके अवलोकितवत्येव पुराणपुरुषः श्रीकृष्णः स्वहस्तेन स्थापिते आसने नारदं स्थापयामास ।

भाषा—श्रीकृष्ण और नारद हिम और कज्जल के पर्वत सदृश हैं, ऐसी तर्कणा जब तक लोग नहीं किये तब तक ही श्रीकृष्ण ने अपने हाथ से दिये हुए आसन पर नारद जी को बैठाया ॥ १५ ॥

नारदस्योदयाचलसाम्यमाह—

महामहानीलशिलारुचः पुरो निषेदिवान्कंसकृषः स विष्टरे ।
श्रितोदयाद्रेरभिसायमुच्चकैरचूचुरच्चन्द्रमसोऽभिरामताम् ॥१६॥

अन्वयः—महामहानीलशिलारुचः कंसकृषः पुरः उच्चकैः विष्टरे निषेदिवान् सः अभिसायं श्रितोदयाद्रेः चन्द्रमसः अभिरामताम् अचूचुरत् ।

सुधा—महामहानीलशिलारुचः = वृहदिन्द्रनीलमणिकान्तेः । कंसकृषः = कंसघातस्य कृष्णस्य । पुरः = अग्रे । उच्चकैः = उन्नते । विष्टरे = आसने । निषेदिवान् = निविष्टः । सः = नारदः । अभिसायं = सायङ्कालमुखे । श्रितोदयाद्रेः = प्राप्तोदयपर्वतस्य । चन्द्रमसः = चन्द्रस्य । अभिरामतां = शोभाम् । अचूचुरत् = चोरितवान् ॥

कोशः—'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः' इत्यमरः ।

समासादिः—महामहानीलशिलारुचः—महानीला चासौ शिला च सा चासौ महती च—तस्याः रुगिव रुक् यस्य तस्य । (कर्म० ब० व्री०) कंसकृषः—कंसं कर्षतीति कंसकृट् तस्य । श्रितोदयाद्रेः—श्रितः उदयाद्रिः येन तस्य । अभिरामताम्—अभिरामस्य भावः अभिरामता, ताम् ॥

व्याकरणम्—निषेदिवान्—नि + सद् + क्वसुः । विष्टरं—वि—स्तृ—अप् । अभिसायम्—सायमभि इति अभिसायम् । अचूचुरत्—चुर् लुङ् + तिप् । अभिरामताम्—अभिराम + तल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विष्टरे निषेदुषा नारदेन चन्द्रमसः अभिरामता अचोरि

तात्पर्यार्थः—कृष्णवर्णस्य श्रीकृष्णस्य सम्मुखे उन्नते आसने उपविष्टो नारदः सायङ्कालिकोदयाचलस्थचन्द्र इव शुशुभे ।

भाषा—महा इन्द्रनीलमणि की कान्ति के तुल्य कान्ति वाले कंसशत्रु

श्रीकृष्णजी के सामने आसन पर बैठे हुए नारदजी ने सायङ्कालिक उदयाचलस्थित चन्द्रमा की शोभा को चुराया ॥ १६ ॥

श्रीकृष्णस्य प्रसन्नतां वर्णयति—

विधाय तस्याऽपचितिं प्रसेदुषः प्रकाममप्रीयत यज्वनां प्रियः ।
ग्रहीतुमार्यान्परिचर्यया मुहुर्महानुभावा हि नितान्तमर्थिनः ॥१७॥

अन्वयः—यज्वनां प्रियः प्रसेदुषः तस्य अपचितिं विधाय प्रकामम् अप्रीयत । हि महानुभावाः आर्यान् परिचर्यया मुहुः ग्रहीतुं नितान्तम् अर्थिनः ।

सुधा—यज्वनां=विधिनेष्टवतां जनानाम् । प्रियः=अभीष्टः हरिः । प्रसेदुषः=प्रसन्नस्य । तस्य=नारदस्य । अपचितिं=पूजाम् । विधाय=सम्पाद्य । प्रकामम्=अत्यन्तम् । अप्रीयत = प्रीतः अभवत् । हि = तथाहि । महानुभावाः = महात्मानः आर्यान् = पूज्यान् । परिचर्यया = सेवया । मुहुः = पुनः । ग्रहीतुं = वशीकर्तुम् । नितान्तम् = अत्यर्थम् । अर्थिनः = अभिलाषवन्तः । (भवन्ति = जायन्ते) ॥१७॥

कोशः—'यज्वा तु विधिनेष्टवान्', 'पूजा नमस्याऽपचितिः' 'परिचर्या तु शुश्रूषा' इति चामरः ।

समासादिः—महानुभावाः–महान् अनुभावः अस्ति येषां ते महानुभावाः । अर्थिनः–अर्थः अस्ति येषां ते ।

व्याकरणम्—विधाय—वि + धा + क्त्वो ल्यप् । अपचितिः–अप चि + क्तिन् । अप्रीयत–प्री + लङ् त । ग्रहीतुम्—ग्रह + तुमुन् । 'ग्रहोऽलिटि दीर्घं' इति इटो दीर्घत्वम् ।

वाच्यप०—यज्वनां प्रियेण प्रकाममप्रीयत । महानुभावैः अर्थिभिः भूयते ।

तात्पर्यार्थः—प्रसन्नस्य मुनेः पूजया श्रीकृष्णः प्रसन्नचित्तो बभूव । (यतः) आर्याः गृहागताः सन्तः पूजिताः भवन्त्विति सदैवाभिलषन्ति महात्मानः ।

भाषा—श्रीकृष्णजी, प्रसन्न ऐसे नारदजी की पूजाकर, अत्यन्त प्रसन्न हुए महानुभावलोग सेवा से पूज्यलोगों को अपने वशीभूत करने के अत्यन्त अभिलाषी होते हैं ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णस्य नारदाभिषिक्तजलग्रहण वर्णयति—

अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोर्निधाय पाणावृषिणाभ्युदीरिताः ।
अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीर्नतेन मूर्ध्ना हरिरग्रहीदपः ॥१८॥

अन्वयः—अशेषतीर्थोपहृताः कमण्डलोः पाणौ निधाय ऋषिणा अभ्युदीरिताः अघौघविध्वंसविधौ पटीयसीः अपः हरिः नतेन मूर्ध्ना अग्रहीत् ।

सुधा—अशेषतीर्थोपहृताः = निखिलतीर्थेभ्यः आनीताः । कमण्डलोः = जलपात्रात् । पाणौ = हस्ते । निधाय = स्थापयित्वा । ऋषिणा = नारदेन । अभ्युदीरिताः = अभिषिक्ताः । अघौघविध्वंसविधौ = पापसमूहानां निरासकरणे । पटीयसीः = समर्थतमाः । अपः = जलानि । हरिः = श्रीकृष्णः । नतेन = नम्रीभूतेन । मूर्ध्ना = मस्तकेन । अग्रहीत् = स्वीचकार ॥ १८ ॥

कोशः—'कलुषं वृजिनैनोघमंहोदुरितदुष्कृतम्', 'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्' इति चामरः ।

समासादिः—अशेषतीर्थोपहृताः—अशेषेभ्यः तीर्थेभ्यः या उपहृताः ताः । अघौघविध्वंसविधौ—अघानां यः ओघः तस्य यो विध्वंसः तस्य विधिः तस्मिन् । पटीयसीः—अतिशयेन पट्व्यः इति पटीयस्यः ताः ।

व्याकरणम्—अभ्युदीरिताः—अभि + उद् + ईर् + स्वार्थे णिच् + क्तः । पटीयसीः—पट्वी + ईयसुन् ङीप् । अग्रहीत्—ग्रह + लुङ्—तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—ऋषिणा अभ्युदीरिताः आपः हरिणा अग्रहीषत ।

तात्पर्यार्थः—नारदः कमण्डलोःपापविध्वंसकरं जलं करे निधाय, हरिमभ्यषिञ्चन् । स च नतमूर्धा सन् तदग्रहीत् ।

भाषा—सम्पूर्ण तीर्थों से आनीत, कमण्डलु से हाथ में लेकर नारदजी से अभिषिक्त तथा पापसमूहों के विनाश में अत्यन्त समर्थ जल को कृष्णजी ने नम्र मस्तक से ग्रहण किया ॥ १८ ॥

कृष्णासनस्य सुमेरुशृङ्गसाम्यमाह—

स काञ्चने यत्र मुनेरनुज्ञया नवाम्बुदश्यामतनुर्न्यविक्षत ।
जिगाय जम्बूजनितश्रियः श्रियं सुमेरुशृङ्गस्य तदा तदासनम् ॥ १९

अन्वयः—नवाम्बुदश्यामतनुः सः मुनेः अनुज्ञया काञ्चने यत्र न्यविक्षत । तत् आसनम् तदा जम्बुजनितश्रियः सुमेरुशृङ्गस्य श्रियं जिगाय ।

सुधा—नवाम्बुदश्यामतनुः=नवीनजलदसदृशकृष्णशरीरः । सः=श्रीकृष्णः । मुनेः = नारदस्य । अनुज्ञया=आदेशेन । काञ्चने = सुवर्णमये । यत्र = यस्मिन्नासने ।

न्यविक्षत = उपविष्टवान्। तत् = आसनम्। तदा = श्रीकृष्णोपवेशसमये। जम्बूजनितश्रियः = जम्बूफलसमुत्पादितशोभस्य। सुमेरुशृङ्गस्य = हेमाद्रिशिखरस्य। श्रियम् = शोभाम्। जिगाय = विजितवत् ॥ १९ ॥

कोशः—'प्रत्यग्रोऽभिनवो नव्यो नवीनो नूतनो नवः', 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः' इति चामरः।

समासादिः—नवाम्बुदश्यामतनुः—नवश्चासौ अम्बुदः नवाम्बुदः स इव श्यामा तनुर्यस्य सः (कर्म० ब० व्री०)। जम्बूजनितश्रियः—जम्बूभिः जनिता श्रीः यस्य तत् तस्य (ब० व्री०)। सुमेरुशृङ्गस्य-सुमेरोः शृंङ्गं सुमेरुशृंङ्गं तस्य (त० पु०)।

व्याकरणम्—अनुज्ञा—अनु ज्ञा + अङ् भिदादित्वात्। न्यविक्षत—नि विश् + लुङ् त। जिगाय—जि + लिट् तिप् णल्।

वाच्यपरिवर्तनम्-तेन यत्र न्यवेशि,तेन आसनेन सुमेरुशृङ्गस्य श्रीः जिग्ये।

तात्पर्यार्थः—यथा सुमेरुशृङ्गस्योपरि फलशाली जम्बूवृक्षः तस्य अलौकिकं सौन्दर्यमुत्पादयति, तथैव श्यामवर्णः श्रीकृष्णोऽपि नारदाज्ञया हेममये आसने समुपविशन् तस्य शोभाम् अवर्धयत्।

भाषा—नवीन मेघ के सदृश श्याम शरीरवाले कृष्णजी मुनि की आज्ञा से जिस सुवर्णमय आसन पर बैठे उस आसन ने उस समय जम्बूफल से सुशोभित सुमेरुपर्वत की चोटी की शोभा को जीत लिया ॥ १९ ॥

श्रीकृष्णस्य समुद्रसाम्यमाह--

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः॥२०॥

अन्वयः—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः सः वाडवजातवेदसः शिखाभिः अम्भसां निधिः इव विदिद्युते।

सुधा—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः=संशोधितकनकवद्दीप्यमानवस्त्रः। कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः = सम्पूर्णचन्द्रचिह्नशोभः। सः = हरिः। वाडवजातवेदसः = वडवानलस्य। शिखाभिः = ज्वालाभिः आश्लिष्टः = व्याप्तः। अम्भसां निधिः = समुद्रः इव। विदिद्युते = विरराज ॥ २० ॥

कोशः—'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च चिह्नं लक्ष्म च लक्षणम्' इत्यमरः।

समासादिः—तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः—तप्तं यत्कार्तस्वरं तद्वत् भास्वर-

मम्बरं यस्य सः। कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः—कठोरश्चासौ ताराधिपः कठोरताराधिपः तस्य यल्लाञ्छनं तस्य छविरिव छविः यस्य सः ।

व्याकरणम्—विदिद्युते-विद्युत् + लिट् ए । आश्लिष्टः—आश्लिष्=क्तः ।

वाच्यपरिवर्तनम—तेन अम्भसांनिधिना इव विदिद्युते ।

तात्पर्यार्थः—पीताम्बरधरो हरिर्वाडवाग्नेर्ज्वालाभिः संवलितसमुद्र इव बभौ।

भाषा—शोधित सुवर्ण की तरह चमकीले वस्त्र को धारण करने वाले तथा पूर्णचन्द्र के लाञ्छन के समान कान्तिवाले श्रीकृष्ण वडवाग्नि की ज्वालाओंसे शोभमान समुद्र की तरह चमकने लगे ॥ २० ॥

नारदस्य चन्द्रसाम्यमाह—

रथाङ्गपाणेः पटलेन रोचिषामृषित्विषः संवलिता विरेजिरे ।
चलत्पलाशान्तरगोचरास्तरोस्तुषारमूर्तेरिव नक्तमंशवः ॥२१॥

अन्वयः—रथाङ्गपाणेः रोचिषां पटलेन संवलिताः ऋषित्विषः नक्तं तरोः चलत्पलाशान्तरगोचराः तुषारमूर्तेः अंशव इव विरेजिरे ।

सुधा—रथाङ्गपाणेः = चक्रपाणेः कृष्णस्य । रोचिषां = तेजसाम् । पटलेन = समूहेन । संवलिताः = सम्मिश्रिताः । ऋषित्विषः = मुनितेजांसि । नक्तं = रात्रौ । तरोः = वृक्षस्य । चलत्पलाशान्तरगोचराः = चञ्चलपत्रच्छिद्राश्रयाः । तुषारमूर्तेः = हिमांशोः । अंशवः = किरणाः इव । विरेजिरे = दिदीपिरे ॥ २१ ॥

कोशः—'रोचिः शोचिरुभे क्लीबे प्रकाशो द्योत आतपः', 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इत्यमरः ।

समासादिः—रथाङ्गपाणेः—रथस्य अङ्गं रथाङ्गं तत्पाणौ यस्य तस्य । चलत्पलाशान्तरगोचरा—चलन्ति यानि पलाशानि तेषामन्तराणि गोचराः येषां ते तुषारमूर्तेः—तुषारा मूर्तिः यस्य तस्य ।

व्याकरणम्—संवलिताः—सं वल + क्त इडागमः । विरेजिरे—वि रज + लिट् + इरे ।

वाच्यपरिवर्तनम्—ऋषित्विड्भिः............अंशुभिः विरेजे ।

तात्पर्यार्थः—यथा रात्रौ चन्द्रप्रकाशे वृक्षपत्रान्तरालमार्गेण अन्तःप्रविष्टाः अन्धकारयुक्ताः चन्द्रकिरणाः क्वचित् शुभ्राः क्वचित् श्यामाश्च सन्तः विराजन्ते तथैव श्यामेन हरितेजसा संवलितं मुनेस्तेजः अशोभत ।

भाषा—श्रीकृष्णजी के तेजसे मिश्रित ऋषि का तेज वृक्ष के चञ्चलपत्तों के बीच में से भूमिपर पड़नेवाले चन्द्रकिरण की तरह शोभायमान हुआ ॥२१॥

मुनिकृष्णयोरेकवर्णकत्वं वर्णयति—

प्रफुल्लतापिच्छनिभैरभीषुभिः शुभैश्च सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः ।
परस्परेण च्छुरिताऽमलच्छवी तदैकवर्णाविव तौ बभूवतुः ॥२२॥

अन्वयः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः शुभैः अभीषुभिः परस्परेण च्छुरितामलच्छवी तौ तदा एकवर्णौ इव बभूवतुः ।

सुधा—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः = विकसिततमालपुष्पसदृशैः । सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः = सप्तपर्णवृक्षपुष्पवत् श्वितैः । शुभैः = मनोज्ञैः । अभीषुभिः = तेजोभिः । परस्परेण = अन्योन्यम् । च्छुरितामलच्छवी = मिश्रितनिर्मलकान्ती । तौ = मुनिकृष्णौ । तदा = तस्मिन् समये । एकवर्णौ = समानकान्ती इव । बभूवतुः = अभूताम् ॥ २२ ॥

कोशः—'फुल्लश्चैते विकसिते' 'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि' इति चा० ।

समासादिः—प्रफुल्लतापिच्छनिभैः—प्रफुल्लतीति प्रफुल्लं तत् च तत् तापिच्छं तस्य निभाः तैः । सप्तच्छदपांसुपाण्डुभिः—सप्तच्छदस्य विकारः (पुष्पं) सप्तच्छदं तस्य पांसवः इव पाण्डवः तैः । च्छुरितामलच्छवी च्छुरिते अमले छवी ययोस्तौ ।

व्याकरणम्—बभूवतुः भू + लिट तस् अतुस् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अभीषुभिः परस्परेण च्छुरितामलच्छविभ्यां ताभ्यां तदा एकवर्णाभ्याम् इव बभूवे ।

तात्पर्यार्थः—हरेः कृष्णतेजसः मुनेः शुभ्रतेजसश्च परस्परमिश्रणात् तौ मुनिकृष्णौ समानवर्णौ इव रेजतुः ।

भाषा—विकसित तमालपुष्पसदृश सप्तच्छद पुष्पके परागसदृश किरणों से परस्परमें मिश्रित निर्मल कान्तिवाले श्रीकृष्ण और नारदजी उस समय एकवर्ण की तरह हुए ॥ २२ ॥

श्रीकृष्णस्य नारदागमजन्यहर्षं वर्णयति—

युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥२३॥

अन्वयः—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः कैटभद्विषः यस्यां तनौ जगन्ति सविकासम् आसत तत्र तपोधनाभ्यागमसम्भवाः मुदः न ममुः ।

सुधा—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः = प्रलयकालोपहृतजीवस्य । कैटभद्विषः = कैटभरिपोः कृष्णस्य । यस्यां । तनौ = शरीरे । जगन्ति = भुवनानि । सविकासं = सावकाशम् । आसत = अतिष्ठन् । तत्र = तनौ । तपोधनाभ्यागमसम्भवाः = नारदागमनोत्पन्नाः । मुदः = हर्षाः । न ममुः = न मान्ति स्म ॥२३॥

कोशः—'कायो देहःक्लीबपुंसोःस्त्रियांमूर्तिस्तनुस्तनूः'' 'विष्टपं भुवनं जगत्' इति।

समासादिः—युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनः = युगान्तकालः-युगस्यअन्तकालः इति युगान्तकालः तस्मिन् प्रतिसंहृताः आत्मानो येन तस्य। तपोधनाभ्यागमसम्भवाः = तप एव धनं यस्य सः तपोधनः तस्य आगमेन सम्भवः यासां ताः ।

व्याकरणम्—विकासं–वि कस + घञ् । आसत–आस्, लङ् झ । ममुः– मा लिट् उस् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—जगद्भिः सविकासम्'''आस्यत ।'''मुद्भिः न ममे ।

तात्पर्यार्थः—प्रलयसमये सकलजीवसन्निवेशपर्याप्ते अपि भगवतः श्रीकृष्णस्य देहे नारदर्षेः आगमजन्यः प्रमोदो मातुं न प्रबभूव ।

भाषा—प्रलयकालमें सारे जीवात्माओं को अपनी देह में प्रविष्ट कराने वाले श्रीकृष्ण के शरीरमें नारद जी के आगमन से उत्पन्न हर्ष नहीं समाया ॥ २३ ॥

श्रीकृष्णस्य पुण्डरीकाक्षसंज्ञायाः सार्थकत्वं वर्णयति—

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी ।
विलोचने बिभ्रदधिश्रितश्रिणी स पुण्डरीकाक्ष इति स्फुटोऽभवत् ।२४

अन्वयः—निदाघधामानम् इव अधिदीधितिं मुनिम् अभि मुदा विकासम् उपेयुषी अधिश्रितश्रिणी विलोचने बिभ्रत् सः पुण्डरीकाक्षः इति स्फुटः अभवत् ।

सुधा-निदाघधामानम् = सूर्यम् इव । अधिदीधितिम् = अधिकतेजसम् । मुनिं = नारदम् । अभि–लक्ष्यीकृत्य । मुदा–हर्षेण । विकासं–विकचत्वम् । उपेयुषी–प्राप्तवती । अधिश्रितश्रिणी = लब्धशोभे । विलोचने–नेत्रे । बिभ्रत् = दधानः । सः–श्रीकृष्णः । पुण्डरीकाक्षः-पुण्डरीकाक्षनामा । स्फुटः-स्पष्टम् । अभवत्–बभूव॥

कोशः—'लोचनं नयनं नेत्रम्' इत्यमरः ।

समासादिः—निदाघधामानम्–निदाघो धाम यस्य तम् । अधिदीधितिम्-

अधिका दीधितिर्यस्य तम्। अधिश्रितश्रिणी = अधिश्रिता श्रीः याभ्यां ते (ब० व्री०) पुण्डरीकाक्षः-पुण्डरीके इव आक्षिणी यस्य सः (ब० व्री०)।

व्याकरणम्—विकासं—वि + कस् + घञ्। उपेयुषी-उप इ + लिट्, तत्स्थाने क्वसुः। बिभ्रत् = भृञ् + कर्तरि शतृ।

वाच्यपरिवर्तनम्-विलोचने विभ्रता तेन पुण्डरीकाक्षेणेति स्फुटेन अभूयत।

तात्पर्यार्थः—सः नारदः तेजसा सूर्य इव आसीत्। यतः हरेः नेत्रे नारद-समीपे विकासम् अलभताम्। अत एव ते अक्षिणी पुण्डरीके इव अभवताम्। अनेन कारणेन अस्य पुण्डरीकाक्ष इति नामापि युक्तमेव।

भाषा—सूर्य के सदृश अत्यन्त तेजस्वी नारदजी को लक्ष करके हर्ष से विकसित अधिक शोभायमान लोचनों को धारण करते हुए श्रीकृष्णजी का पुण्डरीकाक्ष यह नाम स्पष्ट हो गया ॥ २४ ॥

श्रीकृष्णस्य नारदं प्रति कथनप्रकारं वर्णयति—

सितं सितिम्ना सुतरां मुनेर्वपुर्विसारिभिः सौधमिवाथ लम्भयन्।
द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः शुचिस्मितां वाचमवोचदच्युतः॥२५॥

अन्वयः—अथ अच्युतः विसारिभिः द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः सित मुनेः वपुः सौधमिव सुतरां सितिम्ना लम्भयन् शुचिस्मितां वाचम् अवोचत्।

सुधा—अथ = नारदश्रीकृष्णयोरुपवेशानन्तरम्। अच्युतः = श्रीकृष्णः, विसारिभिः = प्रसरणशीलैः। द्विजावलिव्याजनिशाकरांशुभिः = दन्तसमूहकपट-चन्द्रकिरणैः। सितं = स्वभावशुक्लम्। मुनेः = नारदस्य। वपुः = देहम्। सौधं = राजसदनम् इव। सितिम्ना = शुभ्रत्वेन। लम्भयन्-प्रापयन्। शुचिस्मिताम् = ईषद्धास्ययुक्ताम्। वाचं = वाणीम्। अवोचत् = अकथयत् ॥ २५ ॥

कोशः—'दन्तविप्राण्डजा द्विजाः', 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्येतपाण्डराः 'अवदात = सितोगौरौ' इति चामरः।

समासादिः—विसारिभिः-विसरन्ति इति विसरिणस्तैः। द्विजावलिव्याज-निशाकरांशुभिः-द्विजानां या अवलिः सैव व्याजः स चासौ निशाकरश्चेति द्विजावलिव्याजनिशाकरः तस्य अंशवस्तैः। शुचिस्मिताम्-शुचि स्मितं यस्यां ताम्

व्याकरणम्—विसारिभिः-विसृ + णिनिः 'बहुलमाभीक्ष्ण्ये' इति। सितिम्ना = सित + इमनिच्।

वाच्यपरिवर्तनम्—अथ अच्युतेन शुचिस्मिता वाक् अवोचि ।

तात्पर्यार्थः—नारदस्य धवलं वपुः दन्तकिरणैः अत्यन्तं धवलयन् श्रीकृष्णः वाचमुवाच ।

भाषा—श्रीहरि अपने दन्तसमूह के बहाने से फैलने वाले चन्द्रकिरणों द्वारा नारदजी के शुभ्र शरीरको राजमहल की तरह अत्यन्त शुभ्र करते हुए ईषद्हास्ययुक्त वचन बोले ॥ २५ ॥

श्रीकृष्णेन कृतां नारदप्रशंसां दर्शयति—

हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः ।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—भवदीयर्शनं शरीरभाजां कालत्रितयेऽपि योग्यतां व्यनक्ति । सम्प्रति अघं हरति । एष्यतः शुभस्य हेतुः । पूर्वाचरितैः शुभैः कृतम् ।

सुधा—भवदीयदर्शनम् = त्वदीयविलोकनम् । शरीरभाजां = देहिनाम् । कालत्रितये = वर्तमानादिकालत्रये अपि । योग्यताम् = अर्हत्वम् । व्यनक्ति = प्रकटयति,। सम्प्रति = इदानीम् । अघं = पापम् । हरति = निरासयति । एष्यतः = आगमिष्यतः । शुभस्य=भद्रस्य । हेतुः = कारणम् । पूर्वाचरितैः=पूर्वाकृतैः । शुभैः = पुण्यैः । कृतम् = विहितम् ॥ २६ ॥

कोशः—'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा', 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रम्' इति चामरः ।

समासादिः—भवदीयदर्शनम्—भवदीयं च तद्दर्शनं भवदीयदर्शनम् । शरीरभाजां-शरीरं भजन्ति ते शरीरभाजः तेषाम् । कालत्रितये-कालस्य यत् त्रितयं तस्मिन् । योग्यतां-योक्तुमर्हः योग्यः तस्य भावः तत्ता ताम् । पूर्वाचरितैः—पूर्वम् आचारितानि तैः ।

व्याकरणम्—एष्यतः-इण् । लटः स्थाने शतृ । व्यनक्ति--वि अञ्जू + लट् तिप् । त्रितये--त्रि + तयप् । हरति--हृ + लट् तिप् । आचरितैः--आ चर + क्त । कृतं—कृ + क्त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—भवदीयदर्शनेन योग्यता व्यज्यते । अघं ह्रियते । शुभस्य हेतुना भूयते । शुभैः कृतेन भूयते ।

तात्पर्यार्थं—वर्तमानकालिकं दर्शनं भवद् पूर्वजन्मकृतसुकृतम् अनुमापयति । अन्यथा अकृतपुण्यैः भवतां साक्षात्कारः कथं भवितुं शक्यः ? एवं साम्प्रतिकं पापौघमपि विनाशयति । तथा भाविनीं शुभहेतुताञ्च समुद्भावयति ।

भाषा—आपका दर्शन तीनों कालमें प्राणियों की योग्यता को प्रकट करता है। वह इस समय पापका नाश करता है। आने वाले कल्याण का हेतु बनता है और पूर्वोपार्जित पुण्य का फल होता है ॥ २६ ॥

नारदस्य सूर्याद् व्यतिरेकं दर्शयति—

जगत्यपर्याप्तसहस्रभानुना न यन्नियन्तुं समभावि भानुना।
प्रसह्य तेजोभिरसङ्ख्यतां गतैरदस्त्वया नुन्नमनुत्तमं तमः ॥२७॥

अन्वयः—जगति अपर्याप्तसहस्रभानुना भानुना यत् तमः नियन्तुं न समभावि, अनुत्तमम् अदः तमः असंख्यतां गतैः तेजोभिः प्रसह्य त्वया नुन्नम् ।

सुधा—जगति = भुवने । अपर्याप्तसहस्रभानुना = अपिरिच्छिन्नसहस्र-किरणेन । भानुना = सूर्येण । यत् तमः = अज्ञानरूपम् । नियन्तुं = दूरीकर्तुम् । न समभावि = न शेके । अनुत्तमं = सर्वोत्तमम् । अदः = एतत् । तमः = अज्ञानम् । असंख्यतां गतैः = अगण्यतां प्राप्तैः । तेजोभिः = प्रभावैः । प्रसह्य = हठात् । त्वया = भवता । नुन्नं = निरस्तम् ॥ २७ ॥

कोशः—'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः', 'प्रसह्य तु हठार्थकम्' इति ।

समासादि—अपर्याप्तसहस्रभानुना--अपर्याप्ताः सहस्रं भानवो यस्य तेन । अनुत्तमं—न विद्यते उत्तमं यस्मात्तत् अनुत्तमम् ।

व्याकरणम्—नियन्तुं--नि यम + तुमुन् । समभावि--सं भू + भावे लुङ् त । नुन्नं--नुद् + क्त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—भानु······नियन्तुं न समभूत्······त्वं नुनोदिथ ।

तात्पर्यार्थः--बहिर्भवं तमः असंख्यकिरणैः सूर्यः नुनोद । परम् अज्ञानरूपं यत्तमः नोदितुं सोऽपि न शशाक, तत्तमः भवतैव निरस्तम् ।

भाषा—संसार में न अमाने वाली हजारों किरणों से सूर्य भी जिस अज्ञान-रूपी अन्धकार को दूर न कर सके, उस सर्वश्रेष्ठ अन्धकार को अगणित तेजों से आपने हठात् दूर कर दिया ॥ २७ ॥

नारदस्य श्रुतिनिधित्वं दर्शयति—

कृतः प्रजाक्षेमकृता प्रजासृजा सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना ।
सदोपयोगेऽपि गुरुत्वमक्षयो निधिः श्रुतीनां धनसम्पदामिव ॥२८॥

अन्वयः—प्रजाक्षेमकृता सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना प्रजासृजा त्वं धनसम्पदाम् इव श्रुतीनां सदा उपयोगे अपि अक्षयः गुरुः निधिः कृतः।

सुधा—प्रजाक्षेमकृता = जनकल्याणकारिणा अन्यत्र सन्ततिकल्याणकारिणा। सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना—सुपात्रे = योग्यपुरुषे दानेन हेतुना स्वस्थचित्तेन सता अन्यत्र सुपात्रे = आयसघटादिदृढभाजने, निक्षेपेण = स्थापनेन हेतुना स्वस्थचित्तेन सता। प्रजासृजा = ब्रह्मणा। पुत्रवता च। त्वं = भवान्। धनसम्पदां = धनसंपत्तीनाम् इव। श्रुतीनां = वेदानाम्। सदा = सर्वकाले। उपयोगे अपि = दानभोगाभ्यां व्यये अपि। अक्षयः = नाशरहितः। गुरुः = उपदेशकः। अन्यत्र महान्, निधिः = निक्षेपः। कृतः = विहितः ॥२८॥

कोशः—'प्रजा स्यात्सन्ततौ जने' 'श्रुतिः स्त्री वेद आम्नायः' इति चामरः।

समासादिः—प्रजाक्षेमकृता—प्रजानां यत्क्षेमं तत्करोति तेन। सुपात्रनिक्षेपनिराकुलात्मना—सुपात्रे निक्षेपेण निराकुलः आत्मा यस्य तेन। प्रजासृजा—प्रजाः सृजतीति तेन। धनसम्पदां = धनानां याः सम्पदः तासाम्। अक्षय—न विद्यते क्षयः यस्य सः।

व्याकरणम्—प्रजाक्षेमकृता—प्रजाक्षेम—कृ + क्विप्। प्रजासृजा—प्रजा-सृज् क्विप्। उपयोगे—उप युज् + घञ्। निधिः—नि धा + किः। श्रुतीनां-श्रु क्तिन्।

वाच्यपरिवर्तनम्—प्रजाक्षेमकृत्……त्वां निधिं कृतवान्।

तात्पर्यार्थः—भगवता ब्रह्मणा धनसम्पदां निधिरिव भवान् श्रुतिसम्प्रदायप्रवर्तकत्वेन अवतारितः। अतः प्रशस्यतमोऽसि।

भाषा—जनकल्याणकारी तथा योग्यपुरुष में दान होने में स्वस्थचित्त ऐसे ब्रह्मदेवने आपको धनसम्पत्तियों के निधि की तरह सर्वदा उपयोग करने पर भी अक्षय ऐसा वेदनिधि बनाया ॥ २८ ॥

श्रीकृष्णस्य नारदवचनशुश्रूषामाह—

विलोकनेनैव तवामुना मुने! कृतः कृतार्थोऽस्मि निर्बर्हितांहसा।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ॥२९॥

अन्वयः—हे मुने! निर्बर्हितांहसा अमुना तव विलोकनेन एव कृतार्थः कृतः अस्मि। तथापि अहं गरीयसीः तव गिरः शुश्रूषुः अस्मि। अथवा श्रेयसि केन तृप्यते।

सुधा—हे मुने—हे नारद! निर्बर्हितांहसा—निरस्तपापेन। अमुना = अनेन।

तव = भवतः । विलोकनेन = दर्शनेन । एव । कृतार्थः = कृतकृत्यः । कृतः = विहितः । अस्मि । तथापि । अहम् । गरीयसीः तव गिरः = वाचः । शुश्रूषुः = श्रोतुमिच्छुः । अस्मि । अथवा श्रेयसि = कल्याणविषये । केन तृप्तये = तृप्तेन भूयते न केनापीत्यर्थः ।

कोशः—'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्' 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इति चामरः ।

समासादिः—निबर्हितांहसा—निबर्हितमंहः अनेन तेन । कृतार्थः—कृतः अर्थः येन सः । गरीयसीः—अतिशयेन गुर्व्यः ताः ।

व्याकरणम्—विलोकनेन—वि लोक + ल्युट् । शुश्रूषुः—श्रु + सन् उः । गरीयसीः—गुरु + ईयसुन् ङीप् । तृप्यते—तृप + भावे लट् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—हे मुने मया कृतार्थेन भूयते शुश्रूषुणा च.......... कः तृप्यति ।

तात्पर्यार्थः—हे नारद! पापक्षयकारिणाऽनेन तव दर्शनेनैवाहं कृतकृत्यः । तथापि ते मङ्गलमयीं वाणीं श्रोतुमभिलषामि । श्रेयसा कः तृप्तो भवति ।

भाषा—हे नारद ! पाप को दूर करने वाले आपके इस दर्शन से ही मैं कृतकृत्य हूँ । तथापि आपकी अत्यन्त श्रेष्ठ वाणी को सुनना चाहता हूँ । कल्याण के विषय में कौन तृप्त होता है ॥ २९ ॥

नारदवचनश्रवणेच्छायां नारदागमं कारणत्वेन दर्शयति—

गतस्पृहोऽप्यागमनप्रयोजनं वदेति वक्तुं व्यवसीयते यया ।
तनोति नस्तामुदितात्मगौरवो गुरुस्तवैवागम एष धृष्टताम् ॥३०॥

अन्वयः—गतस्पृहः अपि आगमनप्रयोजनं वद इति वक्तुं यया व्यवसीयते उदितात्मगौरवः गुरुः एकः तव आगमः एव नः तां धृष्टतां तनोति ।

सुधा—गतस्पृहः = विगततृष्णः । अपि त्वम् । आगमनप्रयोजनम् = आगमनः कारणम् । वद = ब्रूहि । इति वक्तुं = कथयितुम् । यया = धृष्टतया । व्यवसीयते = उद्युज्यते । उदितात्मगौरवः = समुत्पन्ननिजमहत्त्वः । गुरुः = महान् । एषः = अयम् । तव = भवतः । आगमः = आगमनम् एव । नः = अस्माकम् । ताम् = आगमहेतुप्रश्नरूपाम् । धृष्टताम् धृष्टत्वम् । तनोति = विस्तारयति ॥ ३० ॥

कोशः—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ महति दुर्भरे' इति धरणिः ।

समासादिः—गतस्पृहः-गता स्पृहा यस्य सः (बहु०) । आगमनप्रयो-

जनम्—आगमनस्य यत् प्रयोजनम् (तत्पु०) । उदितात्मगौरवः—उदितम् आत्मनः गौरवं येन सः (बहु०) । धृष्टतां—धृष्टस्य भावः धृष्टता ताम् ।

व्याकरणम्—व्यवसीयते—वि अव् सि + लट् त । तनोति—तनु + लट् तिप् । धृष्टता = धृष्ट + तल् 'तस्य भावस्त्वतलौ' इति ।

वाच्यपरिवर्तनम्—गतस्पृहेण "उद्यताम्" या व्यवस्यति आगमेन सा धृष्टता तायते ।

तात्पर्यार्थः—सांसारिकविषयेभ्यो विरक्तोऽपि भवान् मम गेहं गतः इति स्वस्मिन् जातादरः अहं धाष्ट्र्येन भवान् आगमनप्रयोजनं वदतु इति अभिलषामि ।

भाषा—स्पृहारहित भी आप 'आने का प्रयोजन कहें' यह कहने के लिए जिस धृष्टता से उद्योग किया जाता है, निज गौरवोत्पादन यह आपका महान् आगमन ही उस धृष्टता को बढ़ा रहा है ॥ ३० ॥

नारदस्य कृष्णं प्रत्युक्तिं दर्शयति—

इति ब्रुवन्तं तमुवाच स व्रती न वाच्यमित्थं पुरुषोत्तम ! त्वया ।
त्वमेव साक्षात्करणीय इत्यतः किमस्ति कार्यं गुरु योगिनामपि ॥ ३१ ॥

अन्वयः—इति ब्रुवन्तं तं सः व्रती उवाच, हे पुरुषोत्तम ! त्वया इत्थं न वाच्यम् । योगिनामपि त्वम् एव साक्षात्करणीयः इत्यतः गुरु कार्यं किमस्ति ।

सुधा—इति=उक्तप्रकारेण । ब्रुवन्तं = गदन्तम् । तं = श्रीकृष्णम् । व्रती = नियमवान् । सः = नारदः । उवाच = जगाद । हे पुरुषोत्तम ! = हे हरे ! त्वया = भवता । इत्थं = पूर्वोक्तम्, न वाच्यं = न कथनीयम् । योगिनां = समाहितचेतसाम् । अपि त्वं = भवान् । एव । साक्षात्करणीयः=प्रत्यक्षीकरणीयः । इत्यतः = अस्मात् । गुरु = महत् । कार्यं = कर्तव्यम् । किमस्ति=किं विद्यते ॥ ३१ ॥

कोशः—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' । साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः' इति चामरः ।

समासादिः—हे पुरुषोत्तम !—पुरुषेषु उत्तमः पुरुषोत्तमः तत्सम्बुद्धौ (तत्पु०) साक्षात्करणीयः—असाक्षात्कृतः साक्षात् अवश्यं कर्तव्यः इति । व्रती—व्रतम् अस्यास्ति इति ।

व्याकरणम्—ब्रुवन्तं-ब्रू + शतृ । व्रती-व्रत + इनि । वाच्यं-वच् + ण्यत् । साक्षात्करणीयः—साक्षात् कृ + अनीयर् । योगिनां-योग + इनि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—ब्रुवन् सः...तेन ऊचे। वाच्येन न भूयते। गुरुणा कार्येण केन भूयते।

तात्पर्यार्थः—इति कथयन्तं श्रीकृष्णं नारदः प्रत्युवाच। हे पुरुषोत्तम! त्रिकालज्ञाः अपि योगिनः त्वामेव साक्षात्कुर्वन्ति। अतस्त्वद्दर्शनातिरिक्तं मे किमपि अन्यत् आगमनप्रयोजनं न।

भाषा—इस प्रकार कहने वाले श्रीकृष्णजी को नारदजीने कहा कि हे पुरुषोत्तम! आप ऐसा न कहें। क्योंकि योगियों से भी आप प्रत्यक्ष करने योग्य हैं, इससे भारी कार्य दूसरा क्या हो सकता है॥ ३१

मोक्षपथे श्रीकृष्णस्यैव प्राप्यत्वं दर्शयति—

उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम्।
उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया॥३२॥

अन्वयः--उदीर्णरागप्रतिरोधकम् अभीक्ष्णम् अक्षुण्णतया जनैः अतिदुर्गमं मोक्षपथम् उपेयुषः मनस्विनः त्वं निरपायसंश्रया अग्रभूमिः असि।

सुधा—उदीर्णरागप्रतिरोधकम् = उदीर्णः = प्रवृद्धः रागः=विषयाभिलाषः एव प्रतिरोधकः = प्रतिबन्धकः पाटच्चरश्च यस्मिन् तम्। अभीक्ष्णं=मुहुर्मुहुः। अक्षुण्णतया = अनभ्यस्तत्वेन अप्रतिहतत्वेन च। जनैः = लोकैः। अतिदुर्गमम्=अशक्यगमनम्। मोक्षपथं=मोक्षमार्गम्। कान्तारं च उपेयुषः=प्राप्तवतः। मनस्विनः = धीरचेतसः। त्वमेव[1] भवान् एव। निरपायसंश्रया = पुनरावृत्तिरहितप्राप्तिः। 'न स पुनरावर्त्तते' इति श्रुतेः। अग्रभूमिः = प्राप्यस्थानम्॥३२॥

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः। 'अग्रमालम्बने प्राप्ये' इति विश्वः।

समासादिः—उदीर्णरागप्रतिरोधकम्—उदीर्णः राग एव प्रतिरोधकः यस्मिन् तम्। अक्षुण्णतया—न क्षुण्णः अक्षुण्णः तस्य भावः तत्ता तया। मोक्षस्य पन्थाः मोक्षपथः तम्। अग्रभूमिः—अग्रः भूमिः अग्रभूमिः। निरपायसंश्रया—निर्गतः अपायः यस्मात् सः निरपायः संश्रयः यस्याः सा।

व्याकरणम्—अतिदुर्गमम्-अति दुर् + गम् + खल्। मनस्विनः-मनस् +

---

१. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।
नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥ इति श्रुतेरिति भावः।

विनि । मोक्षार्थं—पथिन् + अः 'ऋक्पुरब्धूःपथामानक्षे' इति । उपेयुषः—उप इण् + लिट् क्वसुः ।

वाच्यपरि०—त्वया निरपायसंश्रयया अग्रभूम्या भूयते ।

तात्पर्यार्थः—यथा कश्चन पुरुषः कण्टकादिभिः अतिदुर्गमेन कान्तारपथेन गच्छन् सौभाग्यवशाद् निर्बाधस्थानप्राप्त्या आत्मानं भयरहितं जानाति तथैव दुस्त्यजान् अपि सर्वान् अत्यायासेन सन्त्यज्य मोक्षपथमभिलषन् योगी त्वामेव प्रथममाप्नोति ततश्च 'न स पुनरावर्तते' । अतः अहं त्वां समुपागतोऽस्मि ।

भाषा—बढ़े हुए विषयाभिलाष से प्रतिरुध्यमान और निरन्तर अभ्यस्त न होने के कारण अतिदुर्गम मोक्षपथ को प्राप्त हुए मनस्वी जन के लिये आप ही अपायरहित प्राप्ति स्थान हैं ॥ ३२ ॥

श्रीकृष्णं सांख्यशास्त्रोक्तपुरुषत्वेन वर्णयति—

उदासितारं निगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन ।
बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः ॥३३॥

अन्वयः—पुराविदः त्वां निगृहीतमानसैः अध्यात्मदृशा कथञ्चन गृहीतम् उदासितारं बहिर्विकारं प्रकृतेः पृथक् पुरुषं विदुः ।

सुधा—पुराविदः = कपिलादयः । त्वां = भवन्तम् । निगृहीतमानसैः = वशीकृतचित्तैः, योगिभिः । अध्यात्मदृशा = प्रत्यग्दृष्ट्या । कथञ्चन = केनापि प्रकारेण । गृहीतम् = प्रत्यक्षीकृतम् । उदासितारम् = उदासीनम् । बहिर्विकारं=महदादेर्भिन्नम् । प्रकृतेः=प्रधानात् । पृथक्=भिन्नम् । पुरातनं=पुराणञ्च । पुरुषं = पुरुषपदवाच्यम्, आत्मानम् । विदुः = जानन्ति स्म ॥ ३३ ॥

कोशः—'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' 'प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम्' क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इति चामरः ।

---

१. मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः सप्त ।
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।
प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।
तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि ॥
इति साङ्ख्यशास्त्रोक्तेरिति भावः ।

समासादिः—पुराविदः-पुरा विदन्ति इति । निगृहीतमानसैः—निगृहीतं मानसं यैस्ते । अध्यात्मदृशा = आत्मनि इत्यध्यात्मं तस्य या दृक् तया । बहिर्विकारम्—विकारेभ्यः बहिरिति (अव्ययी०) । पुरातनं—पुराभवः तम् ।

व्याकरणम्—पुराविदः—पुरा विद् + क्विप् । पुरातनम् + ट्यु, तुट् च ।

वाच्यपरिवर्तनम्—निगृहीतमानसाः त्वां कथञ्चन गृह्णन्ति । पुराविद्भिस्त्वं पुरुषः इति विद्यते ।

तात्पर्यार्थः—कपिलादयस्तत्त्वज्ञा अपि इन्द्रियग्रामं वशीकृत्य महता प्रयासेन त्वां साक्षात्कुर्वन्ति । तथा सांख्यशास्त्रोक्तमहत्तत्त्वादिविकारेभ्यो भिन्नं मूलकारणात् प्रकृतेः अपि भिन्नं त्वामेव पुरुषं विदन्ति ।

भाषा—कपिलादि मुनि जानते हैं कि आप चित्त को वश में करने वाले योगियों से आत्मज्ञान द्वारा बड़े प्रयास से ज्ञात, उदासी, विकार से बाह्य और प्रकृति से भी बाह्य पुरुप हैं ॥ ३३ ॥

श्रीकृष्णस्य वराहरूपेण धरोद्धरणमाह—

निवेशयामासिथ हेलयोद्धृतं फणाभृतां छादनमेकमोकसः ।
जगत्त्रयैकस्थपतिस्त्वमुच्चकैरहीश्वरस्तम्भशिरःसु भूतलम् ॥ ३४ ॥

अन्वयः—जगत्त्रयैकस्थपतिः त्वं हेलया उद्धृतं फणाभृताम् ओकसः एकं छादनं भूतलम् उच्चकैः अहीश्वरस्तम्भशिरःसु निवेशयामासिथ ।

सुधा—जगत्त्रयैकस्थपतिः—जगत्त्रयस्य = लोकत्रयस्य एकस्थपतिः = अद्वितीयकारुः एकस्वामी च । त्वं = भवान् । हेलया = अनायासेन । उद्धृतम् = वराहावतारेण उपरीकृतम् । फणाभृतां = नागानाम् । ओकसः = आश्रयस्य सद्मनश्च । एकम् = अद्वितीयम् । छादनम् = आवरणम् । भूतलं = पृथ्वीतलम् । उच्चैः = तुङ्गेषु । अहीश्वरस्तम्भशिरःसु = स्तम्भसदृशशेषफणासहस्रेषु । निवेशयामासिथ = निवेशितं कृतवानसि ॥ ३४ ॥

कोश—'ओकः सद्मनि चाश्रये' 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इति चामरः ।

समासादिः—जगत्त्रयैकस्थपतिः—जगतां त्रयं जगत्त्रयं तस्य एकश्चासौ स्थपतिः एकस्थपतिः । फणाभृतां—फणाः बिभ्रतीति फणाभृतः तेषाम् । अहीश्वरस्तम्भशिरःसु—अहीश्वरस्य स्तम्भा इव यानि शिरांसि तेषु ।

व्याकरणम्—उद्धृतम्—उत् + धृ + क्त । छादनं—छद् + णिच् + ल्युट् । निवेशयामासिथ—नि विश् + लिट्—तल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—पतिना त्वया भूतलं निवेशयामासे ।

तात्पर्यार्थः—त्रिजगतां चतुरः निर्माता नागभवनं निर्माय शेषस्तम्भफणा-सहस्रेषु पृथ्वीरूपम् आच्छादनं निवेशितवान् ।

भाषा—तीनों लोकों के एक शिल्पी आपने वराह अवतार से उद्धृत नागभवन का एक ऊपर के छतस्वरूप पृथ्वीतल को ऊँचे शेषनाग के स्तम्भ-सदृश फणाओं के ऊपर रखा ॥ ३४ ॥

श्रीकृष्णस्यापूर्वं महिमवत्त्वं दर्शयति—

अनन्यगुर्व्यास्तव केन केवलः पुराणमूर्तेर्महिमाऽवगम्यते ।
मनुष्यजन्माऽपि सुरासुरान् गुणैर्भवान्भवच्छेदकरैः करोत्यधः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अनन्यगुर्व्याः तव पुराणमूर्तेः केवलः महिमा केन अवगम्यते मनुष्यजन्मा अपि भवान्, भवच्छेदकरैः गुणैः सुरासुरान् अधः करोति ।

सुधा—अनन्यगुर्व्याः = गुर्वन्तररहितायाः । अत्युत्तमायाः इत्यर्थः । तव = भवतः । पुराणमूर्तेः = चिरन्तनशरीरस्य । केवलः = निखिलः । महिमा = माहात्म्यम् । केन = पुरुषेण । अवगम्यते = ज्ञायते न केनापीत्यर्थः । मनुष्य-जन्मा = मनुजशरीरधारी ! अपि भवान् । भवच्छेदकरैः = संसारनिवर्तकैः । गुणैः—दयादाक्षिण्यादिभिः । सुरासुरान् = अमरदैत्यान् । अधःकरोति = तिरस्करोति ॥ ३५ ॥

कोशः—'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजाः' 'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारि-दानवाः' 'अमराः निर्जरा देवास्त्रिदशाः विबुधाः सुराः' इति चामरः ।

समासादिः—अनन्यगुर्व्याः—न विद्यते अन्यो गुरुः यस्याः तस्याः (बहु०) पुराणमूर्तेः—पुराणा चासौ मूर्त्तिश्चेति तस्याः (कर्मधारयः) । मनुष्यजन्मा—मनुष्याज्जन्म यस्य सः (बहु०) । भवच्छेदकरैः—भवच्छेदं कुर्वन्तीति तैः । सुरासुरान्—सुराश्चासुराश्चेति तान् ।

व्याकरणम्—महिमा—महत् + इमनिच् । अवगम्यते—अव गम् + लट् त यक् । अधःकरोति—अधःकृ + कर्तरि लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तव महिमानं कः अवगच्छति भवता सुरासुराः अधःक्रियन्ते ।

तात्पर्यार्थः—मनुष्यदेहोऽपि भवान् चातुर्यादिगुणैः देवदनुजान् तिरस्क-रोति। अतः पुराणपुरुषस्य सकलं महिमानं ज्ञातुं न कोपि शक्नोति।

भाषा—अत्युत्तम पुराणमूर्ति ऐसे आपके महिमा को कौन जान सकता है क्योंकि आप मनुष्य शरीर से भी संसारताप का नाश करने वाले अपने गुणों से देव-दानवों को तिरस्कृत करते हैं ॥ ३५ ॥

श्रीकृष्णस्य भूभारापहारकत्व प्रदर्शयति—

लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुरामम् किल त्वं त्रिदिवादवातरः।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥३६॥

अन्वयः—त्वम् अतिभारभङ्गुराम् अमूम् लघुकरिष्यन् त्रिदिवात् अवातरः किल। साम्प्रतम् उदूढलोकत्रितयेन त्वया धरित्री गुरुः क्रियतेतराम्।

सुधा—त्वं = भवान्। अतिभारभङ्गुरां = भाराधिक्येन भज्यमानाम्। अमूं = धरित्रीम्। लघूकरिष्यन् = भाररहितां विधास्यन्। त्रिदिवात् = स्वर्गात्। अवातरः = अवतीर्णोऽसि। साम्प्रतम् = अधुना। उदूढलोकत्रितयेन = धारित-भुवनत्रयेण। त्वया = भवता। धरित्री = धरा। गुरुः = पूज्या, भारवती च। क्रियतेतराम् = अतिशयेन क्रियते ॥ ३६ ॥

कोशः—'स्वरव्ययं स्वर्गनाकत्रिदिवत्रिदशालयाः' 'विष्टपं भुवनं जगत्। लोकोऽयम्' इति चामरः।

समासादिः—अतिभारभङ्गुराम्—अतिशयेन भारेण या भङ्गुरा ताम् (त० पु०)। लघूकरिष्यन्—अलघुं लघुं सम्पद्यमानां करिष्यन्निति। उदूढलोक-त्रितयेन-उदूढं लोकानां त्रितयं येन तेन।

व्याकरणम्—लघूकरिष्यन्-लघु-कृ = लृट् शतृ स्य। अवातरः—अव तॄ लङ् सिप्।

वाच्यपरिवर्तनम्—त्वया लघुकरिष्यता अवातीर्यत, त्वं धरित्रीं गुरुं करोषितराम्

तात्पर्यार्थः—त्वं दानवभारातिशयेन भङ्गुरां पृथ्वीं भाररहितां विधास्यन् इह अवतीर्णोऽसि। दैत्यादिभ राक्रान्तभूमिः अधुना धृतत्रिलोकेन त्वया अति-शयभारवती क्रियते।

भाषा—दैत्यों के भार से टूटने वाली इस पृथ्वी को हलकी बनाने की इच्छा से आप स्वर्ग से इस मर्त्यमण्डल पर अवतीर्ण हुए हैं, पर इस समय तीनों लोकको

धारण करनेवाले आप से ही पृथ्वी अत्यन्त भारवती हो रही है ॥ ३६ ॥

महीतलावतीर्णत्वेन दर्शनगोचरत्वं वर्णयति—

निजौजसोज्जासयितुं जगद्द्रुहामुपाजिहीथा न महीतलं यदि ।
समाहितैरप्यनिरूपितस्ततः पदं दृशःस्या कथमीश ! मादृशाम् ॥

अन्वयः—निजौजसा जगद्द्रुहाम् उज्जासयितुं महीतलं न उपाजिहीथाः यदि ततः समाहितैः अपि अनिरूपितः त्वं हे ईश ! मादृशां दृशः पदं कथं स्याः ।

सुधा—निजौजसा = स्वीयतेजसा । जगद्द्रुहां = लोकविद्वेषिणाम् । उज्जासयितुं=मारयितुम् । महीतलं=पृथ्वीतलम् । न उपाजिहीथाः=नावतरेः । यदि= चेत् । ततः=तर्हि । समाहितैः = समाधिनिष्ठैः अपि । अनिरूपितः = अविलोकितः । त्वं = भवान् । हे ईश = हे स्वामिन् । मादृशां = चर्मनेत्राणाम् । दृशः = दृष्टेः । पदं = विषयः । कथं = केन प्रकारेण । स्याः = भवेः । न कथञ्चिदित्यर्थः ।

कोशः—'ओजो बले प्रतापे च' इति विश्वः । 'विष्टपं भुवनं जगत्' इत्यमरः ।

समासादिः—निजौजसा निजेन ओजसेति । जगद्द्रुहां-जगद्भ्यो द्रुह्यन्ति जगद्द्रुहस्तेषाम् । महीतलं—मह्यास्तलमिति । अनिरूपितः—न निरूपितः अनिरूपितः । मादृशां = अहमिव पश्यन्ति इति मादृशः तेषाम् ।

व्याकरणम्—उज्जासयितुम्—उद् जस् स्वार्थे णिच् तुमुन् । जगद्द्रुहां- 'जासिनिप्रहणनाटक्राथपिषां हिंसायाम्' इति शेषे कर्मणि षष्ठी । उपाजिहीथाः— उप हा + लङ् थास् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—भवता अनिरूपितेन त्वया दृशः पदेन कथं भूयेत ।

तात्पर्यार्थः—यदि दैत्यानाम् उज्जासनाय भूतलं नागमश्चेत् तदा योगिभिरपि अदृष्टस्त्वं मादृशां दर्शनविषयः कथं भवे :

भाषा— हे भगवन् ! आप अपने तेज से दैत्यों को मारने के लिये भूतल पर अवतीर्ण न होते तो, योगियों से भी अदृष्ट आप चर्मनेत्र वाले लोगों के दृष्टिविषय किस तरह होते ।

श्रीकृष्णस्य विश्वपालनसामर्थ्यमाह—

उपप्लुतं पातुमदो मदोद्धतैस्त्वमेव विश्वम्भर ! विश्वमीशिषे ।
ऋते रवेः क्षालयितुं क्षमेत कः क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः ॥३८॥

अन्वयः—हे विश्वम्भर ! मदोद्धतैः अदः विश्वं पातुं त्वमेव ईशिषे। क्षपातमस्काण्डमलीमसं नभः क्षालयितुं रवेः ऋते कः क्षमेत ।

सुधा—हे विश्वम्भर = हे जगत्पालक ! । मदोद्धतैः = दर्पवृद्धैः । उपप्लुतम् = उपद्रुतम् । अदः = इदम् । विश्व = लोकम् । पातुम् । त्वम् एव = भवानेव । ईशिषे = समर्थोऽसि । (यतः) क्षपातमस्काण्डमलीमसं = रात्र्यन्धकारनिकरमलिनम् । नभः = आकाशम् । क्षालयितुम् = निर्मलयितुम् । रवेः = सूर्यात् । ऋते= बिना । कः = पुरुषः । क्षमेत = समर्थो भवेत्, न कोपीत्यर्थः ।। ३८ ।।

कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' त्रियामा क्षणदा क्षपा' 'मलीमसन्तु मलिनं कच्चरम्' इति चामरः । 'तमोन्धकारे स्वर्भानौतमः शोके गुणान्तरे' इति विश्वः ।

समासादिः—हे विश्वम्भर-विश्वं विभर्तीति विश्वम्भरस्तत्सम्बुद्धौ । मदोद्धतैः-मदेन ये उद्धतास्तैः । क्षपातमस्काण्डमलीमसं—क्षपायाः तमस्काण्डेन यत् मलीमसं तत् ।

व्याकरणम—उपप्लुतम्–उप प्लु + कर्मणि क्तः । ईशिषे—ईश + लट् से । क्षालयितुम्—क्षल + स्वार्थे णिच् तुमुन् । क्षमेत–क्षम + लिङ् ई त ।

वाच्यपरिवर्तनम—हे विश्वम्भर ! त्वया एव···ईश्यते····केन क्षम्यते ।

तात्पर्यार्थः—हे भगवन् ! यथा रात्र्यन्धकारेण मलिनस्य आकाशस्य निर्मलीकरणे सूर्य एव शक्तः, तथैव दैत्यैः पीडितं विश्वं दैत्यविनाशेन भवानेव पातुं समर्थो नान्यः । तस्मात्त्वया पीडितं विश्वं रक्षणीयम् ।

भाषा—मदोद्धत दानवों से पीडित इस संसार की रक्षा करने के लिए हे विश्वम्भर ! आपही समर्थ हैं, क्योंकि रात्रि के अन्धकारसमूह से मलिन आकाश को स्वच्छ करने के लिए सूर्य को छोड़कर दूसरा कौन समर्थ हो सकता है ।।३८।।

श्रीकृष्णस्य कंसादितुच्छदानवमारणेन निन्दां प्रस्तौति—

करोति कंसादिमहीभृतां वधाज्जनो मृगाणामिव यत्तव स्तवम् ।
हरे ! हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः प्रत्युत सा तिरस्क्रिया ।। ३९ ।।

अन्वयः—जनः मृगाणामिव कंसादिमहीभृतां वधात् तव स्तवं करोति, यत् हे हरे ! सा हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः तव प्रत्युत तिरस्क्रिया (भवति)।

सुधा—जनः = लोकः। मृगाणां = हरिणानामिव अतितुच्छानामित्यर्थः। कंसादिमहीभृतां = कंसप्रभृतिभूपानाम्। वधात् = हननात्। तव = भवतः। स्तवं = स्तुतिम्। करोति = विदधाति। यत् सा = स्तुतिः। हे हरे = हे श्रीकृष्ण हिरण्याक्षपुरः सरासुरद्विपद्विषः = हिरण्याक्षादिदानवहस्तिरिपोः। तव = भवतः। प्रत्युत = वैपरीत्येन। तिरस्क्रिया = तिरस्कारः भवति ॥ ३९ ॥

कोशः—'राजा राट् पार्थिवः क्ष्माभृत्' 'स्तवः स्तोत्रं स्तुतिर्नुतिः' इति चामरः

समासादिः—कंसादिमहीभृताम्=महीं बिभ्रतीति महीभृतः, कंसः आदिर्येषान्ते कंसादयः ते च ते महीभृतश्च तेषाम्। हिरण्याक्षपुरःसरासुरद्विपद्विषः—हिरण्याक्ष एव पुरःसरःयेषां ते च ते असुराश्च ते द्विपा इव तान् द्वेष्टीति तस्य (ब० व्री० तत्पु०)।

व्याकरणम्—महीभृत्—मही भृ + क्विप् तुक्। तिरस्क्रिया—तिरस्पूर्वककृधातोः 'कृञः श च' इति शः यक्।

वाच्यपरिवर्तनम्—जनैः स्तवः क्रियते, तया तिरस्कृयया भूयते।

तात्पर्यार्थः—हस्तिघातिनो सिंहस्य मृगवधवर्णनम् यथाऽकीर्तिकरं तथैव हिरण्याक्षादिमहादैत्यघातकं त्वां कंसादिक्षुद्रदानववधेन जनाः स्तुवन्ति, यत् सा वस्तुतः तव स्तुतिः न, किन्तु निन्दैव।

भाषा—दुनिया जो मृगतुल्य कंसादि राजाओं के वध से आपकी प्रशंसा करती है वह हिरण्याक्षादि हस्तिसदृश महासुरों को मारनेवाले आपकी प्रत्युत निन्दा ही है ॥ ३९ ॥

स्वयं दानववधे प्रवृत्तस्य श्रीकृष्णस्य तस्मिन् प्रेरणस्य पिष्टपेषणसाम्यं दर्शयति—

प्रवृत्त एव स्वयमुज्झितश्रमः क्रमेण पेष्टुं भुवनद्विषामसि।
तथापि वाचालतया युनक्ति मां मिथस्त्वदाभाषणलोलुपं मनः ॥४०॥

अन्वयः—उज्झितश्रमः (सन्) क्रमेण भुवनद्विषां पेष्टुं स्वयम एव प्रवृत्तः असि, तथापि मिथः त्वदाभाषणलोलुपं मनः मां वाचालतया युनक्ति।

सुधा—उज्झितश्रमः = त्यक्तपरिश्रमः सन्। क्रमेण = पर्यायेण। भुवनद्विषां=जगद्द्रुहाम्, लोकद्रोहकरानित्यर्थः। पेष्टुं = हिंसितुम्। स्वयमेव प्रार्थनामन्तरेणैव। प्रवृत्तोऽसि = तत्परोऽसि। तथापि = स्वतः कृतप्रवर्तनेऽपि। मिथः = अन्योन्यम्। त्वदाभाषणलोलुपं = त्वया सह संलापलुब्धम्। मनः = चित्तम्।

माम्। वाचालतया = वाचाटतया। युनक्ति = योजयति। मां वाचालं करोतीति यावत्॥ ४०॥

कोशः—'लोकास्तु भुवने जने' 'मिथोऽन्योन्यं रहस्यपि' 'स्यादाभाषमालापः' चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' 'स्याज्जल्पाकस्तु वाचालो वाचाटो बहुगर्ह्यवाक्' इति चामरः।

समासादिः—उज्झितश्रमः-उज्झितः श्रमो येन सः (ब० व्री०)। भुवनद्विषां-भुवनानि द्विषन्तीति भुवनद्विषः तेषाम्। त्वदाभाषणलोलुपं-त्वया सह यदाभाषणं तस्मिन् लोलुपम् (तत्पु०)। वाचालतया—वाचः कुत्सिताः अस्य सन्तीति वाचालस्तस्य भावः सत्ता तया। कुत्सितार्थस्यो गसंख्यातत्वात्तदर्थे तद्धितप्रत्ययः।

व्याकरणम्—पेष्टुं-पिष् + तुमुन्। भुवनद्विषां-भुवन द्विष् + क्विप् हिंसार्थकधातुयोगे कर्मणि षष्ठी। युनक्ति—युज् + लट् तिप्।

वाच्यपरिवर्तनम्—उज्झितश्रमेण सता प्रवृत्तेन…भूयते। लोलुपेन मनसा अहं युज्ये।

तात्पर्यार्थः—क्रमशः जगद्द्रुहां दैत्यानां विनाशाय स्वयमेव त्वं यत्नं करोषि, अत्र किञ्चिदपि मत्कथनावश्यकता नास्ति, तथापि अन्योन्यं त्वया सहालापाय लुब्धं मे चित्तं किञ्चित् गदितुं वाञ्छति।

भाषा—त्यक्तपरिश्रम आप क्रम से दानवों को मारने के लिये बिना प्रार्थना के प्रवृत्त हुए हैं तथापि आप के साथ वार्तालाप करने में अभिलाषा रखने वाला मेरा मन मुझे बोलने की प्रेरणा कर रहा है॥ ४०॥

विश्वहितकरत्वेनेन्द्रसन्देशः श्रीकृष्णेन त्वया श्रोतव्यः इति स्तौति—

तदिन्द्रसन्दिष्टमुपेन्द्र ! यद्वचः क्षणं मया विश्वजनीनमुच्यते।
समस्तकार्येषु गतेन धुर्यतामहिद्विषस्तद्भवता निशम्यताम्॥४१॥

अन्वयः—तत् हे उपेन्द्र ! इन्द्रसन्दिष्टं विश्वजनीनं यत् वचः क्षणं मया उच्यते तद् अहिद्विषः समस्तकार्येषु धुर्यतां गतेन भवता निशम्यताम्।

सुधा—हे उपेन्द्र ! हे इन्द्रावरज ! इन्द्रसन्दिष्टम्=इन्द्रेण प्रेषितम्। विश्वजनीनं=सकललोकहितकरम्। यत् वचः=यद्वाक्यम्। क्षणं=स्वल्पकालम्। मया = नारदेन। उच्यते = निगद्यते। तत् = वचः। अहिद्विषः = इन्द्रस्य। समस्तकार्येषु = निखिलकर्त्तव्येषु। धुर्यतां = भारवाहकत्वम्। गतेन = प्राप्तेन। भवता = त्वया। निशम्यताम् = आकर्ण्यताम्॥ ४१॥

कोशः—'उपेन्द्र इन्द्रावरजः' 'निर्व्यापारस्थितौ कालविशेषोत्सवयोः क्षणः' इति चामरः। 'सर्पे वृत्रासुरेऽप्यहिः' इति विश्वः।

समासादिः—इन्द्रसन्दिष्टम्-इन्द्रेण यत् सन्दिष्टं तत्। विश्वजनीनं विश्वस्मै जनाय हितम्। अहिद्विपः-अहिं द्वेष्टि इति तस्य। समस्तकार्येषु-समस्तानि च तानि कार्याणि तेषु। धुर्यतां-धुरं वहतीति धुर्यः, तस्य भावः तत्ता ताम्।

व्याकरणम्—विश्वजनीनं—विश्वजन + खः 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरप-दात्खः' इति। धुर्यतां-धुर् + यत् 'धुरो यड्ढकौ' इति ततः तल्। अहिद्विपः-अहिद्विष् क्विप्। निशम्यतां—निशम् + कमणि लोट् त यक्।

वाच्यपरिवर्तनम्—अहं वच्मि भवान् निशामयतु।

तात्पर्यार्थः—हे उपेन्द्र! जगद्धितकरम् इन्द्रसन्दिष्टं वचः अहं कथयामि इन्द्रस्य निखिलकार्येषु भारवाहकतया अभिमतः भवान् समाहितेन मनसा तत् आकर्णयतु।

भाषा—हे उपेन्द्र! संसारहितकारक इन्द्र-सन्देश रूप जो वचन क्षण में मैं कहता हूँ, इन्द्र के सम्पूर्णकार्यों के निर्वाहक आप उस वचन को सुनें ॥४१॥

इन्द्रसन्देशमवतारयति—

अभूदभूमिः प्रतिपक्षजन्मनां भियां तनूजस्तपनद्युतिर्दितेः।
यमिन्द्रशब्दार्थनिषूदनं हरेर्हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते ॥४२॥

अन्वयः—प्रतिपक्षजन्मनां भियाम् अभूमिः तपनद्युतिः दितेः तनूजः अभूत हरेः इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं प्रचक्षते।

सुधा—प्रतिपक्षजन्मनां = शत्रूत्पन्नानाम्। भियां = भयानाम्। अभूमिः= अविषयः। तपनद्युतिः = सूर्यतेजाः। दितेः = कश्यपपत्न्याः। तनूजः = देहजः। दैत्य इत्यर्थः। अभूत् = अभवत्। हरेः = इन्द्रस्य। इन्द्रशब्दार्थनिषूदनं = परमैश्वर्यार्थनिवर्तकम्। यं = दैत्यं हिरण्यपूर्वं कशिपुं हिरण्यकशिपुम् इत्यर्थः। प्रचक्षते = कथयन्ति। पुराविदः इति शेषः॥ ४२॥

कोशः—'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' 'तपनः सविता रविः' 'शोभा कान्ति-र्द्युतिश्छविः' इति चामरः।

समासादिः—प्रतिपक्षजन्मनां—प्रतिकूलः पक्षः यस्य सः तस्माज्जन्म यासां तासाम्। तनूजः—तन्वाः जातः। तपनद्युतिः—तपनस्य द्युतिरिव द्युति-

र्यस्य सः । इन्द्रशब्दार्थनिषूदनम्—इन्दति परमैश्वर्यं लभते इतीन्द्रः स चासौ शब्दश्चेति तस्य यः अर्थः तस्य निषूदनः तम् । हिरण्यपूर्वं-हिरण्यः पूर्वं यस्य तम् ।

व्याकरणम्—भियाम्-भी + क्विप् । प्रचक्षते—प्र चक्ष् + झ । इन्द्रः—इदि + रः नुम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—दितेस्तनूजेनाभावि । निषूदनः यः कशिपुः प्रख्यायते ।

तात्पर्यार्थः—अनुत्पन्नशत्रुः सूर्यसदृशतेजस्वी हिरण्यकशिपुर्नाम दैत्यः आसीत् यः स्वकीयैश्वर्यसम्पदा इन्द्रस्यापि इन्द्रत्वं निराकरोत् ।

भाषा—शत्रु से कभी न डरने वाला सूर्यसदृश तेजस्वी एक दैत्य पूर्वकाल में हो गया, जिसको इन्द्रशब्दार्थ का निवर्तक हिरण्यकशिपु कहते हैं ॥४२॥

तस्यैव दुर्वृत्तं वर्णयति—

समत्सरेणाऽसुर इत्युपेयुषा चिराय नाम्नः प्रथमाभिधेयताम् ।
भयस्य पूर्वावतरस्तरस्विना मनस्सु येन द्युसदां न्यधीयत ॥४३॥

अन्वयः—समत्सरेण असुरः इति नाम्नः चिराय प्रथमाभिधेयताम् उपेयुषा तरस्विना येन द्युसदां मनःसु भयस्य पूर्वावतरः न्यधीयत ।

सुधा-समत्सरेण=इतरशुभद्वेषिणा । असुर इति नाम्नः = संज्ञायाः । चिराय = बहुकालेन । प्रथमाभिधेयताम् = अन्वर्थतया प्रधानार्थताम् । उपेयुषा = प्राप्तवता । तरस्विना = बलवता । येन=हिरण्यकशिपुना । द्युसदां=देवतानाम् । मनःसु = चित्तेषु । भयस्य=भियः । पूर्वावतरः =प्रथमप्रवेशः । न्यधीयत = अस्थाप्यत ॥४३॥

कोशः-'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्' 'चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः' 'दिविषदो लेखा अदितिनन्दनाः' इति चामरः ।

समासादिः—मत्सरेण—मत्सरेण सहितस्तेन । प्रथमाभिधेयताम्—प्रथमश्चासौ योऽभिधेयः तस्य भावस्तत्ता ताम् । पूर्वावतरः-पूर्वश्चासौ अवतर इति । द्युसदाम्—दिवि सीदन्तीति तेषाम् ।

व्याकरणम्—तरस्विना—तरस् अस्यास्तीति तरस् + विनिः 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' इति । द्युसदाम्-दिवि सीदन्तीति दिव + षद् + क्विप् । न्यधीयत नि धा + कर्मणि लङ् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—समत्सरः तरस्वी यः भयस्य पूर्वावतरं न्यधात् ।

तात्पर्यार्थः—दैत्येन्द्रः हिरण्यकशिपुरेव स्वर्गस्थानात् अपि देवानां मनःसु प्रथमं भयोत्पादकः अभूत् ।

भाषा—मत्सरी, असुर इस नाम के प्रथम वाच्यार्थता को प्राप्त हुए जिस बलवान् हिरण्यकशिपु ने देवताओं के चित्तमें भय का प्रथम प्रवेश कराया ।।४२।

हिरण्यकशिपोः दिक्पालविजयं वर्णयति—

दिशामधीशांश्चतुरो यतः सुरानपास्य तं रागहृताः सिषेविरे ।
अवापुरारभ्य ततश्चला इति प्रवादमुच्चैरयशस्करं श्रियः ।।४४।।

अन्वयः—श्रियः दिशाम् अधीशान् चतुरः सुरान् अपास्य तं रागहृताः (सत्यः) यतः सिषेविरे, ततः आरभ्य अयशस्करं चलाः इति उच्चैः प्रवादन् अवापुः ।

सुधा—श्रियः = सम्पत्तयः । दिशाम् अधीशान् = दिक्पालान् । चतुरः = चतुःसंख्याकान् । सुरान् = इन्द्रादीन् देवान् । अपास्य = त्यक्त्वा । तं = हिरण्यकशिपुम् । रागहृताः = अनुरागेण कृष्टाः सत्यः । यतः = यस्मात्कालात् । सिषेविरे = सेवयामासुः । ततः = तत्कालादारभ्य । अयशस्करं=दुष्कीर्त्तिविधायकम् । चलाः = अस्थिराः । इति = एतत् । उच्चैः = महान्तम् । प्रवादं = लोकनिन्दाम् । आपुः = लेभिरे ।।

कोशः—'दिशस्तु ककुभः काष्ठाः' 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' 'लोकस्तु भुवने जने' इति चामरः ।

समासादिः—रागहृताः—रागेण हृताः रागहृताः । अयशस्करम्—अयशः करोतीति तम् ।

व्याकरणम्—दिशां–दिश् + ऋत्विगित्यादिना क्विन् । सिषेविरे–सेव् + लिट् इरे । आरभ्य–आरभ् + क्त्वो ल्यप् । अवापुः–अव आप् + लिट् झि उस् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—श्रीभिः सः सिषेवे । प्रवादः आपे ।

तात्पर्यार्थः—सम्पदः हिरण्यकशिपोः शौर्यादिश्रवणेन अनुरागवशीभूताः सत्यः इन्द्रादिदिक्पालान् विहाय हिरण्यकशिपुमेव असेवन्त, ततः प्रभृत्येव च ताः चलाः इति लोकापवादमलमन्त ।

भाषा—जिस समय से सम्पत्तियां इन्द्रादि चारों दिक्पालों को छोड़कर प्रेम से वशीभूत हो हिरण्यकशिपु ही की सेवा करती भयीं, उसी दिन से दुष्कीर्ति को करने वाले 'चंचल है' इस बड़े लोकापवाद को पाती भयीं ।। ४४ ।।

हिरण्यकशिपुभयात् देवानां दुर्गादिविधानं वर्णयति—

पुराणि दुर्गाणि निशातमायुधं बलानि शूराणि घनाश्च कञ्चुकाः।
स्वरूपशोभैकफलानि नाकिनां गणैर्यमाशङ्क्य तदादि चक्रिरे ॥

अन्वयः—नाकिनां गणैः यम् आशङ्क्य तदादि स्वरूपशोभैकफलानि पुराणि दुर्गाणि चक्रिरे। आयुधं निशातं (चक्रे)। बलानि शूराणि (चक्रिरे)। कञ्चुकाः घनाः (चक्रिरे)।

सुधा—नाकिनां = स्वर्गिणाम्। गणैः = समूहैः। यं = हिरण्यकशिपुम्। आशङ्क्य = बाधकरूपेण संभाव्य। तदादि = तदारभ्य। स्वरूपशोभैकफलानि= स्वरूपशोभैकप्रयोजनानि। पुराणि = नगराणि। दुर्गाणि = परिखाप्राकारादिभिः दुर्गमाणि। चक्रिरे = विदधिरे। आयुधं=शस्त्रम्। निशातं = तीक्ष्णम्। चक्रे = विदधे। बलानि = सेनाः। शूराणि=वीराणि। चक्रिरे। कञ्चुकाः=वारबाणाः। घना = दुर्भेद्याः चक्रिरे ॥ ४५ ॥

कोशः—'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा पत्तनं पुटभेदनम्' 'आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रम्' कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री'। 'बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्' इति चामरः।

समासादिः—तदादि—स आदिर्यस्मिन् तत्। स्वरूपशोभैकफलानि—स्वरूपेण या शोभा सैव एकं फलं येषां तानि।

व्याकरणम्—निशातम्= नि शो + क्त। चक्रे—कृ + लिट् त एश्।

वाच्यपरिवर्तनम्—नाकिनां गणाः कञ्चुकान् घनान् चक्रुः।

तात्पर्यार्थः—अमराः हिरण्यकशिपुभयम् आशङ्क्य परितः परिखाप्राकारादिना निजपुरम् अगम्यं चक्रिरे। शाणोल्लेखनादिना अस्त्रं तीक्ष्णं विदधिरे। सैनिकान् कृत्रिमयुद्धादिव्यापारेण शौर्यवतः चक्रिरे। कवचानि चातिदुर्भेद्यानि विदधिरे।

भाषा—सुरसमूहों ने जिस हिरण्यकशिपु के भय से नगर के किले बनाये। शस्त्रोंको तीक्ष्ण किया। सैन्योंको शूर बनाया। कवचों को अत्यन्त दुर्भेद्य बनाया।

हिरण्यकशिपोर्देवकृतनमस्कारं वर्णयति—

स सञ्चरिष्णुर्भुवनान्तरेषु यां यदृच्छयाऽशिश्रियदाश्रयः श्रियः।
अकारि तस्यै मुकुटोपलस्खलत्करैस्त्रिसन्ध्यं त्रिदशैर्दिशे नमः ॥

अन्वयः—भुवनान्तरेषु सञ्चरिष्णुः श्रियः आश्रयः सः यदृच्छया यां दिशम्

अशिश्रियत्, मुकुटोपलस्खलत्करैः त्रिदशैः त्रिसन्ध्यं तस्यै दिशे नमः अकारि।

सुधा—भुवनान्तरेषु=लोकान्तरेषु। सञ्चरिष्णुः=सञ्चरणशीलः। श्रियः=लक्ष्म्याः। आश्रयः = आधारः। सः = हिरण्यकशिपुः। यदृच्छया = स्वेच्छया। यां = दिशम्। अशिश्रियत्=असेवत। तस्यै दिशे। मुकुटोपलस्खलत्करैः=किरीटरत्नप्रस्खलद्धस्तैः। त्रिदशैः = देवैः। त्रिसन्ध्यं = सन्ध्यात्रये। नमः = नमस्कारः। अकारि = व्यधायि ॥ ४६ ॥

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने' 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' 'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः स्वैरता चेति ताः समाः' इति चामरः।

समीसादिः—भुवनान्तरेषु—अन्यानि यानि भुवनानि तेषु। मुकुटोपलस्खलत्करैः—मुकुटेषु ये उपला तेषु स्खलन्तः कराः येषां तैः। त्रिदशैः—तिस्रो दशा येषां तैः। त्रिसन्ध्यम्—तिसृणां सन्ध्यानां समाहारः तत्।

व्याकरणम्—अशिश्रियत्—श्रि + लुङ् तिप् 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' इति चङ् द्वित्वादिकं च। अकारि = कृ + लुङ् त।

वाच्यपरिवर्तनम्—तेन या दिक् अश्रायि, त्रिदशाः तस्यै दिशे नमः अकार्षुः।

तात्पर्यार्थः—सः स्वेच्छया यां दिशं सिषेवे, देवाः त्रिसन्ध्यं दिङ्नियमं परित्यज्य तद्भयात् तामेव दिशं नमश्चक्रुः।

भाषा—सभी भुवनों में संचरणशील तथा लक्ष्मी का आश्रय वह हिरण्यकशिपु अपनी इच्छा से जिस दिशा में ठहरता था देवता लोग अपने मुकुटके रत्नों पर हाथ रखकर तीनों सन्ध्याकाल में उसी दिशा को नमस्कार करते थे ॥

तस्य हिरण्यकशिपोर्नृसिंहावतारेण कृतं वधं वर्णयति—

सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह! सैंहीमतनुं तनु त्वया।
स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ॥४७॥

अन्वयः—हे नृसिंह! अतनुं सैंही तनुं बिभ्रता सटाच्छटाभिन्नघनेन त्वया सः मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः नखैः उरोविदारं प्रतिचस्करे।

सुधा—हे नृसिंह = नृसिंहावतार भगवन्! अतनुं = विशालाम् सैंहीं = सिंहसम्बन्धिनीम्। तनुं = देहम्। बिभ्रता = धारयता। सटाच्छटाभिन्नघनेन = केशरनिकरविदारितमेघेन त्वया = भवता। सः = हिरण्यकशिपुः। मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः = सुन्दरकामिनीकुचसंसर्गभज्यमानैः। नखैः = नखरैः। उरोविदारं = वक्षःस्थलं विदार्य। प्रतिचस्करे = जघ्ने ॥ ४७ ॥

कोशः—'तनुः शरीरे स्वल्पे च' 'सटा जटाकेसरयोः' 'मुग्धः सुन्दरमूढयोः' इति च विश्वः। 'स्तनौ कुचौ' 'पुनर्भवः कररुहो नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' इति।

समासादिः—नृसिंह–ना सिंह इव नृसिंहस्तत्सम्बुद्धौ, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः' इति समासः। अतनुं न तनुः अतनुः ताम्। सैंहीम्–सिंहस्य इयं सैंही ताम्। सटाच्छटाभिन्नघनेन–सटानां छटाभिः भिन्नाः घनाः येन तेन। मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैः=मुग्धौ यौ कान्तास्तनौ तयोः सङ्गेन भङ्गुराः तैः। उरोविदारम्–उरः विदार्य इत्युरोविदारम्।

व्याकरणम्—सैंहीम्–सिंह+अण् ङीप्। उरोविदारम्–उरस् वि दृ+णमुल्। प्रतिचस्करे—प्रति कृ+लिट् कर्मणि त, हिंसायां प्रतेश्च' इति सुट्।

वाच्यपरिवर्तनम्—त्वं तं प्रतिचस्कर्थ।

तात्पर्यार्थः—एवं जगद्विजयी वज्रकठिनोऽपि सः हिरण्यकशिपुः नृसिंहशरीरं धृत्वा कान्तास्तनसङ्गकुटिलैरपि नखैः त्वया विदारितः इति ते महिमा अवाङ्मनसगोचरः।

भाषा—हे नृसिंह ! विशाल शरीर को धारण कर अपने केसर-समूहों से मेघ को विदीर्ण करनेवाले आपने कोमल कान्ताओं के स्तन के सङ्ग से टेढ़े नखों से वक्षःस्थल फाड़कर उस हिरण्यकशिपु को मारा ॥ ४७ ॥

तस्यैव हिरण्यकशिपो रावणरूपेण जन्मेति वर्णयति—

विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥४८॥

अन्वयः—अथ सः पुनः त्रिदशैः समं रणेन दर्पजन्मनः कण्ड्वाः विनोदम् इच्छन् दिवः क्षतरक्षणं निकामभीषणं रावणो नाम रक्षः बभूव।

सुधा—अथ=अनन्तरम्। सः=हिरण्यकशिपुः। पुनः=भूयः। त्रिदशैः समं=देवताभिः सार्धम्। रणेन=सङ्ग्रामेण। दर्पजन्मनः=अहङ्कारप्रभवायाः। कण्ड्वाः=कण्डूतेः। विनोदं=दूरीकरणम्। इच्छन्=वाञ्छन्। दिवः=स्वर्लोकस्य। क्षतरक्षणं=नष्टावनम्। निकामभीषणम्=अत्यन्तभयानकम्। रावणो[1]

---

१. यस्माल्लोकत्रयं चैतद्द्रावितं भयमागतम्।
तस्मात्त्वं रावणो नाम नाम्ना वीरो भविष्यसि॥
इति रामायणोत्तरकाण्डवचनादिति भावः।

नाम = रावण[1] इति नामधेयम् । रक्षः = राक्षसः । बभूव = अजायत ॥ ४८ ॥

कोशः—'अमरा निर्जरा देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः' 'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भश्चित्तोद्रेकः स्मयो मदः' 'कण्डूः खर्जूश्च कण्डूया' 'इच्छा काङ्क्षा' इति चामरः।

समासादिः—त्रिदशैः तिस्रो दशाः येषां तैः । दर्पजन्मनः—दर्पात् जन्म यस्याः तस्याः । क्षतरक्षणम्–क्षतं रक्षणं येन तत् । निकामं भीषणमिति निकामभीषणम् ।

व्याकरणम्—विनोदम्–वि नुद + घञ् । इच्छन्—इष् + कर्तरि शतृ । बभूव = भू + लिट् तिप् णल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तेन रावण इति नाम्ना बभूवे ।

तात्पर्यार्थः—एवं पञ्चत्वं प्राप्यापि देवताभिः बद्धवैरः निजभुजकण्डूतेः अपनोदमिच्छन् सः रावणो नाम राक्षसो बभूव ।

भाषा—उनके बाद वही हिरण्यकशिपु अहंकारजन्य अपनी खुजलाहटको देवताओं के साथ युद्धसे दूर करनेकी इच्छासे स्वर्गके ऊपर धक्का पहुँचाने वाला अत्यन्त भयानक रावण नामका राक्षस हुआ ॥ ४८ ॥

रावणस्य तपःशौर्यं दर्शयति—

प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य यः शिरोऽतिरागाद्दशमं चिकर्तिषुः ।
अतर्कयद्विघ्नमिवेष्टसाहसः प्रसादमिच्छासदृशं पिनाकिनः ॥४९॥

अन्वयः—यः भुवनत्रयस्य प्रभुः बुभूषुः अतिरागात् दशमं शिरः चिकर्तिषुः इष्टसाहसः इच्छासदृशं पिनाकिनः प्रसादं विघ्नम् इव अतर्कयत् ।

सुधा—यः = रावणः भुवनत्रयस्य = त्रिलोकस्य । प्रभुः = स्वामी । बुभूषुः = भवितुम् इच्छुः । अतिरागात् = प्रेमाधिक्यात् । दशमं शिरः = मूर्धानम् । चिकर्तिषुः = कर्तितुम् इच्छुः । इष्टसाहसः = प्रियसाहसः । इच्छासदृशं = स्ववाञ्छानु-

---

१. सूत उवाच—

रावणो राक्षसश्रेष्ठो मानी मानपरायणः । आराध्य च हरं तत्र कैलासे पर्वतोत्तमे ॥
कियत्कालं समाराध्य प्रसन्नो न हरो यदा । ततश्चायं हिमवतो दक्षिणे वृक्षखण्डके॥
भूमौ गर्तं तदा कृत्वा तत्राऽग्निञ्च समादधौ।तत्समीपे शिवंस्थाप्य हवनंविदधं तथा॥
चकार राक्षसश्रेष्ठो न प्रसन्नस्तथापि ह । तदा शिरांसि छित्त्वा सपूजनंशङ्करस्य च॥
आरब्धं च तदा तेन छिन्नानिनव वै यदा । एकस्मिन्नवशिष्टेतुप्रसन्नः शङ्करस्तदा॥

शिव उवाच—मनसश्चेप्सितं ब्रूहि ददामि तव राक्षस ।

कूलम् । पिनाकिनः = शङ्करस्य । प्रसादं = वरम् । विघ्नम् = अन्तरायम् । इव । अतर्कयत् = चिन्तितवान् ॥ ४९ ॥

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने' 'इभ्य आढ्यो धनी स्वामी त्वीश्वरः पतिरीशिता' 'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' 'इच्छा काङ्क्षा स्पृहेहा तृड् वाञ्छा'' विघ्नोऽन्तरायः' इति चामरः ।

समासादिः—भुवनत्रयस्य—भुवनानां त्रयं तस्य । अतिरागात्—अतिगतो यो रागः तस्मात् । इष्टसाहसः = इष्टं साहसं यस्य सः । इच्छासदृशम् = इच्छायाः सदृशः तम् । पिनाकिनः—पिनाकः अस्यास्ति इति तस्य ।

व्याकरणम्—बुभूषुः—भू = सन्—'सनाशंसभिक्ष उः' इति उः । चिकर्तिषुः—कृत् = सन् उः । अतर्कयत्—तर्क + स्वार्थे णिच् लङ् तिप् । पिनाकिनः–पिनाक + इनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—येन प्रसादः विघ्न इव अतर्क्यत ।

तात्पर्यार्थः—लोकत्रयस्य प्रभुः भवितुमिच्छन् सः रावणः निजैः नवभिः शिरोभिः क्रमशः शिवमपूपुजत्, परं तेन न अप्रीयत, ततो दशमं शिरः कर्त्तितुं वाञ्छन् सः प्रसन्नेन शिवेन दत्तम् अभीष्टमपि वरं विघ्नममन्यत ।

भाषा—जिस साहसप्रेमी रावण ने तीनों लोक के मालिक होने की इच्छा से अत्यन्त प्रेम से अपने दशम मस्तक को काटने की इच्छा रखते हुए महादेव के स्वेच्छानुकूल वरप्रसाद को विघ्न की तरह माना ॥ ४९ ॥

रावणस्य कैलासाचलोत्क्षेपणं वर्णयति—

समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं वरप्रदानस्य चकार शूलिनः ।
त्रसत्तुषाराद्रिसुतससम्भ्रमस्वयङ्ग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयम् ॥५०॥

अन्वयः—यः पृथिवीभृतां वरं समुत्क्षिपन् शूलिनः वरप्रदानस्य त्रसत्तुषाराद्रिसुतासंभ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रयं चकार ।

राक्षस उवाच—
यदि प्रसन्नो देवेश देहि मे बलमुत्तमम् । शिरांसि पूर्ववत्स्वामिन् कुरु मे शङ्कर प्रभो ॥
इतितस्य वचः श्रुत्वा भक्तिमत्त्वाच्चकार सः । यथेप्सितं ददौतस्मैह्यतुलंबलमुत्तमम् ॥
शिरांसिपूर्ववत् कृत्वा नीरुजानितथापुनः । प्रसादंतस्यसम्प्राप्य जगाम भवनं प्रति ॥
इति शिवपुराणम् ।

सुधा—यः पृथिवीभृतां वर = भूधराणां श्रेष्ठम्, कैलासमित्यर्थः । समुत्क्षिपन् = बलदर्पात् उपरि उत्क्षिपन् । शूलिनः = शङ्करस्य । वरप्रदानस्य = वरवितरणस्य । असत्तुषाराद्रिसुतासंभ्रमस्वयंग्रहाश्लेषसुखेन = विभ्यत्पार्वतीस्वयंकृतालिङ्गनजन्यसुखेन । निष्क्रयं = विनिमयम् । चकार = विदधौ ॥ ५० ॥

कोशः—'शिवः शूली महेश्वरः' इत्यमरः ।

समासादिः—पृथिवीभृताम्–पृथिवीं बिभ्रतीति तेषाम् । शूलिनःशूलमस्यास्तीति तस्य । असत्तुषाराद्रि०–असन्त्याः तुषाराद्रिसुतायाः संभ्रमसहितः यः स्वयंग्रहः तेन यः आश्लेषः तेन यत्सुखं तेन ।

व्याकरणम्—समुत्क्षिपन् – सम् उत् क्षिप् = कर्तरि शतृ । पृथिवीभृताम्–पृथिवी भृ + क्विप् । चकार—कृ + लिट् तिप् णल् । शूलिनः—शूल + इनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—येन वरप्रदानस्य निष्क्रयः चक्रे ।

तात्पर्यार्थः—रावणः कदाचित् बलदर्पात् कैलासपर्वतमूर्ध्वं क्षिप्तवान् तदा इतस्ततः पर्वतस्य चलनात् भीतया पार्वत्या शिवप्रार्थनामन्तरेण शिवकण्ठालिङ्गनं कृतम्, तज्जन्यसुखेन सः वरवितरणस्य शिवं प्रति प्रत्युपकृतिं चकार ।

भाषा—जिस रावणने कैलास पर्वत को ऊपर उभाड़ते हुए डरी हुई पार्वती से किये गये कण्ठालिङ्गनजन्य सुखसे महादेवके वर-प्रदानका बदला चुकाया ॥५०॥

रावणस्य स्वर्गलुण्ठनं दर्शयति

पुरीमवस्कन्द लुनीहि नन्दनं मुषाण रत्नानि हरामराङ्गनाः ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विषा बली य इत्थमस्वास्थ्यमहर्दिवं दिवः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—बली यः नमुचिद्विषा विगृह्य पुरीम् अवस्कन्द, नन्दनं लुनीहि, रत्नानि मुषाण, अमराङ्गनाः हर, इत्थम् अहर्दिवं दिवः अस्वास्थ्यं चक्रे ।

सुधा—बली = बलवान् । यः = रावणः । नमुचिद्विषा = इन्द्रेण सह । विगृह्य = विद्विष्य । पुरीम्=अमरावतीम् । अवस्कन्द = अवरुरोध । नन्दनं = तन्नामकोपवनम् । लुनीहि = अलुनात् । रत्नानि = मरकतादीनि । मुषाण = मुमोष । अमराङ्गनाः = देवाङ्गनाः । हर = जहार । इत्थम = अनेन प्रकारेण । अहर्दिवं = रात्रिन्दिवम् । दिवः = स्वर्गस्य । अस्वास्थ्यम् = उपद्रवम् । चक्र = विदधे ॥ ५१ ॥

कोशः—'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा' 'नन्दनं वनम्' सुरलोको द्योदिवौ द्वे' नगरी त्वमरावती' इति चामरः ।

समासादिः—नमुचिद्विषा–नमुचिं द्वेष्टीति तेन । अमराङ्गनाः अमराणां या अङ्गनाः ताः । अहर्दिवम्—अहनि च दिवा चेति । अस्वास्थ्यम्—स्वस्थस्य भावः स्वास्थ्यम् न स्वास्थ्यम् अस्वास्थ्यम् । बलमस्यास्तीति बली ।

व्याकरणम्—अवस्कन्द लुनीहि इत्यादौ सर्वत्र 'क्रियासमभिहारे लोट् लोटो हिस्वौ वा च तध्वमोः' इत्यनुवृत्तौ 'समुच्चयेऽन्यतरस्याम्' इति विकल्पेन कालसामान्ये लोट् तत्प्रयुक्तं तिङादिकार्यं च ।

वाच्य०—बलिना येन पुरी अवस्कन्द्यस्व, लूयस्व, मुष्यस्व, ह्रियस्व ।

तात्पर्यार्थः—रावणः इन्द्रेण सह विरुध्य अहन्यहनि स्वर्गस्य पीडां जनयनासीत्।

भाषा—जिस रावण ने इन्द्र के साथ विरोध करके अमरावती को रोका, रत्नों को लूटा, नन्दन वनको काटा, और देवाङ्गनाओं को हरण किया; उसी तरह रातदिन स्वर्ग में उपद्रव मचाया ॥ ५१ ॥

रावणभयेनेन्द्रस्यातिशय कातरत्वं वर्णयति—

सलीलयातानि न भर्तुरभ्रमोर्न चित्रमुच्चैःश्रवसः पदक्रमम् ।
अनुद्रुतः संयति येन केवलं बलस्य शत्रुः प्रशशंस शीघ्रताम् ।५२॥

अन्वयः—संयति येन अनुद्रुतः बलस्य शत्रुः अभ्रमोः भर्तुः सलीलयातानि न प्रशशंस, उच्चैःश्रवसः चित्रं पदक्रमं न (प्रशशंस)। केवलं शीघ्रतामेव (प्रशशंस) ।

सुधा—संयति = युद्धे । येन = रावणेन । अनुद्रुतः = अनुधावितः । बलस्य शत्रुः = बलारातिः । अभ्रमोः = तन्नामहस्तिन्याः । भर्तुः = पत्युः, ऐरावतस्येत्यर्थः । सलीलयातानि = विलासपूर्वकगमनानि । न प्रशशंस = न श्लाघयामास । उच्चैश्रवसः = तन्नाम्नो निजवाजिनः । चित्रं = नानाप्रकारकम् । पदक्रमं = गतिविचित्रत्वम् । न प्रशशंस । किन्तु केवलम् = एकाम् । शीघ्रताम् = आशुगामित्वमेव । प्रशशंस ॥ ५२ ॥

कोशः—'समुदायः स्त्रियां संयत्समित्याजिसमिद्युधः' 'ऐरावतोऽभ्रमातङ्गैरावणाभ्रमुवल्लभाः' 'हय उच्चैःश्रवा,' इति चामरः ।

समासादिः—सलीलयातानि—लीलया सहितानि सलीलानि तानि च यातानि । पदक्रमम्—पदानां क्रमः पदक्रमस्तम् ।

व्याकरणम्—अनुद्रुतः अनु द्रु + क्त । संयति–संयम् + क्विप् । प्रशशंस + प्रशंस = लिट् तिप् णल् । शीघ्र = तल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—बलस्य शत्रुणा सलीलयातानि न प्रशशंसिरे । पदक्रमः प्रशशंसे । शीघ्रता प्रशशंसे ।

तात्पर्यार्थः—सङ्ग्रामे इन्द्रः ऐरावतस्य उच्चैःश्रवसश्च सविलासगमनं न प्रशशंस, उभयोः केवलम् अतिशीघ्रगमनमेव बहु मेने।

भाषा—संग्राम में रावण से अनुधावित इन्द्र ने अपने ऐरावत हस्ती के विलासपूर्वक गमन को उच्चैःश्रवा की नाना प्रकार की चित्र-विचित्र चाल को पसन्द नहीं किया, किन्तु उन दोनों की शीघ्रता को ही पसन्द किया ॥ ५२ ॥

रावणभयात्पलाय्यान्तर्हितस्येन्द्रस्य उलूकसाम्यमाह—

अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम्।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः॥५३॥

अन्वयः—अधीरलोचनः कौशिकः सहस्ररश्मेः इव यस्य दर्शनं सोढुम् अशक्नुवन् हेमाद्रिगुहागृहान्तरं प्रविश्य बिभ्यत् दिवसानि निनाय।

सुधाः—अधीरलोचनः = चञ्चलनयनः। कौशिकः = महेन्द्रः उलूकश्च। सहस्ररश्मेः = सहस्रांशोः इव। यस्य = रावणस्य। दर्शनं = विलोकनम्। सोढुम् अशक्नुवन् = अपारयन्। हेमाद्रिगुहागृहान्तरं = मेरुपर्वतकन्दरागृहान्तरं प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा। बिभ्यत् = त्रस्यन्। दिवसानि = वासराणि। निनाय = यापयामास ॥ ५३ ॥

कोशः—लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' 'महेन्द्रगुग्गुलूलूकव्यालग्राहिषु कौशिकः' 'भानुर्हंसः सहस्रांशुः' 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः' 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री देवखातबिले गुहा' इति चामरः।

समासादिः—अधीरलोचनः—अधीरे लोचने यस्य सः। सहस्ररश्मेः—सहस्रं रश्मयः यस्य तस्य। हेमाद्रेः या गुहा सैव गृहं तस्यान्तरं तत्।

व्याकरणम्—अशक्नुवन्—न शक्नुवन्, अशक्नुवन्—शक् + शतृ नुम्। सोढुम्—सह + तुमुन्। बिभ्यत्–भी + कर्तरि शतृ द्वित्वम्। निनाय–नी + लिट् तिप् णल्। प्रविश्य—प्र विश् + क्त्वो ल्यप्।

वाच्यपरिवर्तनम्—अधीरलोचनेन कौशिकेन बिभ्यता दिनानि निन्यिरे।

तात्पर्यार्थः—यथा दिवा उलूकः सूर्यभीत्या निजकोटरात् न बहिर्निःसरति, तथैव अयमिन्द्रोऽपि रावणभयात् गृहात् बहिर्न निर्ययौ।

भाषा—सूर्यसदृश जिस रावण के दर्शन को उलूक के सदृश सहन न करता हुआ चञ्चल लोचनवाला इन्द्र सुमेरुपर्वतके गुहारूपी गृहान्तरमें प्रवेश करके डरता हुआ दिनों को बिताया था ॥ ५३ ॥

विष्णोश्चक्रमपि रावणं प्रति विफलमिति दर्शयति—

बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनाद्विकीर्णलोलाग्निकणं सुरद्विषः ।
जगत्प्रभोरप्रसहिष्णु वैष्णवं न चक्रमस्याक्रमताधिकन्धरम् ॥ ५४ ॥

अन्वयः—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् विकीर्णलोलाग्निकणम् अप्रसहिष्णु वैष्णवं चक्रं जगत्प्रभोः अस्य सुरद्विषः अधिकन्धरं न अक्रमत ।

सुधा—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात्=महापाषाणकठिनकण्ठसङ्घर्षणात् । विकीर्णलोलाग्निकणं = विक्षिप्तचञ्चलाग्निस्फुलिङ्गम् । अप्रसहिष्णु = असहनशीलम् । वैष्णवं = विष्णुसम्बन्धि । चक्रं = सुदर्शनमित्यर्थः । जगत्प्रभोः = लोकप्रभोः । अस्य सुरद्विषः = अमरारेः रावणस्य । अधिकन्धरम् = अधिग्रीवम् । न अक्रमत = आक्रमणं न चकार ॥

कोशः—'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' 'त्रिपु स्फुलिङ्गोऽग्निकणः' 'कण्ठो गलोऽथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इति चामरः ।

समासादिः—बृहच्छिलानिष्ठुरकण्ठघट्टनात् = बृहत् शिला इव निष्टुरः य कण्ठः तस्मिन् यद् घट्टनं तस्मात् । विकीर्णलोलाग्निकणम्–विकीर्णाः लोलाः अग्निकणाः यस्मात् तत् । अप्रसहिष्णु—न प्रसहिष्णु तथा । जगत्प्रभोः = जगतां यः प्रभुः तस्य । विष्णोः इदं वैष्णवम् । अधिकन्धरम्– कन्धरायाम् इति, अव्ययीभावः ।

व्याकरणम्—बृहत्–बृह + शतृ । 'महद्बृहज्जगच्छतृवच्च' इति निपातः । अप्रसहिष्णु—प्रसह + इष्णुच् । अक्रमत–क्रमु = लुङ् त । सुरद्विषः–सुरद्विष् + क्विप् । वैष्णवम्—विष्णु = इदमर्थेऽण् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—वैष्णवेन चक्रेण न अक्रम्यत ।

तात्पर्यार्थः—रावणस्य पाषाणसदृशकठोरकण्ठे श्रीविष्णुनाऽपि प्रक्षिप्तं सुदर्शनं चक्रमाघातं प्राप्य विकीर्णचञ्चलाग्निस्फुलिङ्गैः विराजितं सत् न प्रविवेश ।

भाषा—बड़े पाषाणसदृश कठोर कण्ठ में ठोकर लगने से निकली हुई चञ्चल चिनगारियों से युक्त तथा अन्य किसी से असह्य ऐसा श्रीविष्णु का सुदर्शनचक्र जगत् के मालिक उस रावण के गले में नहीं घुस सका ॥ ५४ ॥

रावणस्य कुबेरविजयं वर्णयति—

विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।
निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः ॥

अन्वयः—सः मदेन दन्ती इव विभिन्नशङ्खः कलुषीभवत् निरस्तगाम्भीर्यम् अपास्तपुष्पकं मनुष्यधर्मणः मानसं मुहुः न प्रकम्पयामास इति न ।

सुधा—सः = रावणः । मदेन = अहङ्कारेण, दानोदकेन च । दन्ती इव = हस्ती इव । विभिन्नशङ्खः = विघट्टितकम्बुः विदीर्णशङ्खनिधिश्च । (अतएव) कलुषीभवत् = आविलीभवत् । निरस्तगाम्भीर्यम्=त्याजितगभीरत्वम् । अपास्तपुष्पकम् = दूरीकृतपुष्पकविमानं विदलितप्रसूनं च । मनुष्यधर्मणः = धनाधिपस्य, कुवेरस्य । मानसम् = चित्तं तन्नामकं सरश्च । मुहुः = पुनः पुनः । न प्रकम्पयामास इति न, किन्तु प्रकम्पयामास एव ॥ ५५ ॥

कोशः—'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः' । 'मतङ्गजो गजः' 'शङ्खो निधिविशेषेऽपि', 'कलुषोऽनच्छ आविलः', 'मनुष्यधर्मा धनदो राजराजो धनाधिपः' इति चामरः ।

समासादिः—विभिन्नशङ्खः—विभिन्नः शङ्खो येन सः । निरस्तगाम्भीर्यम्—निरस्तं गाम्भीर्यं यस्य तत् । अपास्तपुष्पकम्—अपास्तानि पुष्पाणि यस्मात् तत् । मनुष्यधर्मणः—मनुष्यस्येव धर्मः यस्य सः तस्य ।

व्याकरणम्—दन्ती—दन्त + इनिः । कलुषीभवत्—कलुष + च्विः, भू-शतृ । अपास्तपुष्पकम्—पुष्प + कप् । प्रकम्पयामास—प्र कम्प + णिच् लिट् णल् । मनुष्यधर्मा—मनुष्य धर्म + अनिच् 'धर्मादनिच् केवलात्' इति ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तेन दन्तिना मानसं प्रकम्पयामासे ।

तात्पर्यार्थः—यथा मदोन्मत्तो गजः मानससरोवरं प्रविश्य तज्जलम् आविलं कुर्वन् शङ्खपुष्पादिकं च विभिन्दन् तत्सरः प्रकम्पयति तथैव मदोन्मत्तःरावणः शङ्खनामकंनिधिं विभिन्दन् अधीरत्वंप्राप्तं पुष्पकविमानरहितं कुबेरस्यचित्तं प्रकम्पयामास।

भाषा—मद से मत्त हस्ती की तरह शङ्ख नामक निधि को तोड़नेवाले जिस रावण ने गाम्भीर्यरहित, भयसे कलुषित और पुष्पकविमान से रहित ऐसे कुबेर के चित्त को प्रकम्पित किया ॥ ५५ ॥

रावणस्य वरुणविजयं वर्णयति—

रणेषु तस्य प्रहिताः प्रचेतसा सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः ।
प्रहर्तुरेवोरगराजरज्जवो जवेन कण्ठं सभयाः प्रपेदिरे ॥५६॥

अन्वयः—रणेषु प्रचेतसा प्रहिताः उरगराजरज्जवः तस्य सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः सभयाः जवेन प्रहर्तुः एव कण्ठं प्रपेदिरे ।

सुधा-रणेषु = युद्धेषु । प्रचेतसा = वरुणेन । प्रहिताः = प्रयुक्ताः । उरगराजरज्जवः=नागराजपाशाः । तस्य=रावणस्य । सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः=सक्रोध

हुङ्कृतिपरावर्तिताः। अतएव सभयाः=भयसहिताः सत्यः। जवेन=वेगेन। प्रहर्तुः=प्रहारकस्य वरुणस्यैव। कण्ठं=गलप्रदेशम्। प्रतिपेदिरे=सम्प्राप्ताः॥५६॥

कोशः—'प्रचेता वरुणः पाशी यादसां=पतिरप्पतिः', 'उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः', कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ', 'भीतिर्भीः साध्वसं भयम्', 'कण्ठो गलः' इति, चामरः।

समासादिः—उरगराजरज्जवः—उरगराजा एव रज्जवः। सरोषहुङ्कारपराङ्मुखीकृताः—सरोषेण हुङ्कारेण पराङ्मुखीकृताः। सभयाः—भयेन सहिताः।

व्याकरणम्—प्रहिताः—प्र हि + क्त। प्रहर्तुः—प्र हृ + कर्तरि तृच्। पराङ्मुखीकृताः—पराङ्मुख + च्विः कृ + क्त। प्रपेदिरे—प्रपद + लिट् झ।

वाच्यपरिवर्तनम्—उरगराजरज्जुभिः कण्ठः प्रपेदे।

तात्पर्यार्थः—रणे रावणं प्रति वरुणेन प्रयुक्तः नागपाशः रावणहुङ्कारेण परावर्तितः सन् वरुणस्यैव कण्ठमबध्नात्।

भाषा—संग्राम में वरुण से प्रयुक्तनागपाश रावणके क्रोध से पराङ्मुख होते हुए डरकर बड़े वेग से वरुण के ही गले में लग गया॥ ५६॥

रावणस्य यमविजयं दर्शयति—

परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः॥५७॥

अन्वयः—अमुना धनुः विधातुम् उत्खातविषाणमण्डलः परेतभर्तुः महिषः भारे हृतेऽपि महतः त्रपाभरात् भृशानतं शिरः दुःखेन उवाह।

सुधा—अमुना=रावणेन। धनुः=शार्ङ्गं चापम्। विधातुं=विरचयितुम्। उत्खातविषाणमण्डलः=उत्पाटितशृङ्गवलयः। परेतभर्तुः=प्रेतराजस्य यमस्य। महिषः=वाहनभूतो लुलायः। भारे=शृङ्गभारे। हृते=अपनीतेऽपि। महतः=बृहतः। त्रपाभरात्=लज्जाभरात्। भृशानतम्=अत्यन्तं नम्रीभूतम्। शिरः मस्तकम्। दुःखेन=कष्टेन। उवाह=दधार॥ ५७॥

कोशः—'धनुश्चापः'। 'समवर्ती परेतराट्', 'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः।

समासादिः—उत्खातविषाणमण्डलः—उत्खातं विषाणयोः मण्डलं यस्य सः। परेतभर्तुः—परेतानां यो भर्ता तस्य। त्रपाभरात्—त्रपायाः यः भरः तस्मात्। भृशानतम्—भृशम् आनतमिति।

व्याकरणम्—विधातुम्–वि धा + तुमुन् । परेतभर्तुः—परेत भृ + तृच् । उत्खातविषाणमण्डलः—उत्खन् + क्त्वा । महतः—मह + अतिप्रत्ययः, शतृवद्भावः । उवाह—वह + लिट् णल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—महिषेण ऊहे ।

तात्पर्यार्थः—रावणः धनुर्निर्मातुं यमवाहनमहिषस्य शृङ्गमण्डलमुत्पपाट । असौ महिषा शृङ्गभारेहृतेऽपि लज्जावशात् बहुकालम् अत्यन्तनम्रीभूतं शिरः वहतिस्म ।

भाषा—रावणने धनुष बनानेके लिये यमराजके वाहन महिषके दोनों सींग उखाड़नेसे शृङ्गरूप भार हलका होने पर भी उस महिष ने लज्जाभार से अत्यन्त नम्र अपने मस्तक को बड़े दुःख से धारण किया ॥ ५७ ॥

रावणस्य सूर्यविजयं दर्शयति—

स्पृशन् सशङ्कः समये शुचावपि स्थितः कराग्रैरसमग्रपातिभिः ।
अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैरलञ्चकारास्य वधूरहस्करः ॥५८॥

अन्वयः—अहस्करः शुचौ समये स्थितः अपि असमग्रपातिभिः कराग्रैः सशङ्कः स्पृशन् अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः अस्य वधूः अलञ्चकार ।

सुधा—अहस्करः = भास्करः । शुचौ समये = ग्रीष्मकाले शुद्धे आचारे च । स्थितोऽपि = वर्तमानोऽपि । असमग्रपातिभिः = असमस्तपतनशीलैः । कराग्रैः किरणाग्रैः हस्ताग्रैश्च । सशङ्क = सभयः । स्पृशन् = परामृशन् । अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः = अनुष्णस्वेदजलबिन्दुमुक्ताफलैः । अस्य = रावणस्य । वधूः = स्त्रीः । अलञ्चकार = भूषयाञ्चकार ॥ ५८ ॥

कोशः—'भास्कराहस्करब्रध्नप्रभाकरविभाकराः', 'समयाः सपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः', बलिहस्तांशवः कराः' 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च' इति चामरः ।

समासादिः—अहस्करः–अहस्करोतीति । असमग्रपातिभिः—असमग्रं पतन्तीति तच्छीलास्तैः । अघर्मघर्मोदकबिन्दुमौक्तिकैः—अघर्माः ये घर्मस्य उदकस्य बिन्दवः ते एव मुक्ताफलानि तैः ।

व्याकरणम्—अहस्करः–अहन् कृ + टच् , र । असमग्रपातिभिः–असमग्र पत + ताच्छील्ये णिनिः । अलञ्चकार—अलं कृ + लिट् तिप् णल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अहस्करेण वध्वः अलञ्चक्रिरे ।

तात्पर्यार्थः—सूर्यः ग्रीष्मसमयेऽपि रावणभयात् असमस्तकिरणैःरावणप्रियाः संस्पृशन् मुक्तासदृशैः स्वेदजलबिन्दुभिः अलञ्चकार ।

भाषा—सूर्य ग्रीष्मसमयमें भी असमग्रप्राप्ति–किरणों से साशङ्क स्पर्श करता हुआ रावणकी स्त्रियोंको ठण्डे पसीनेके बिन्दुरूपी मोतियों से अलंकृतकरता था।

रावणस्य चन्द्रविजयं दर्शयति—

कलासमग्रेण गृहानमुञ्चता मनस्विनीरुत्कयितुं पटीयसा ।
विलासिनस्तस्य वितन्वता रतिं न नर्मसाचिव्यमकारि नेन्दुना ॥५९॥

अन्वयः—कलासमग्रेण गृहान् अमुञ्चता मनस्विनीः उत्कयितुं पटीयसा रतिं वितन्वता इन्दुना विलासिनः तस्य नर्मसाचिव्यं न अकारि इति न ।

सुधा—कलासमग्रेण = कलापरिपूर्णेन । गृहान् = रावणसौधानि ।अमुञ्चता= अपरित्यजता, आश्रयता । मनस्विनीः=मानवतीः । उत्कयितुम् = उत्कण्ठयितुम् । पटीयसा = चतुरतरेण । रतिम् = अनुरागम् । वितन्वता=विस्तारयता । इन्दुना= चन्द्रेण । विलासिनः = विलासशीलस्य । तस्य = रावणस्य । नर्मसाचिव्यं = क्रीडासचिवता । न अकारि = न व्यधायि इति न, किन्तु अकार्येव ॥ ५९ ॥

कोशः—'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्', 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः' 'क्रीडा लीला च नर्म च' इति चामरः ।

समासादिः—कलासमग्रेण—कलाभिः समग्रस्तेन । पटीयसा—अतिशयेन पटुः इति पटीयान् तेन । नर्मसाचिव्यम्–नर्मणि साचिव्यम् ।

व्याकरणम्—अमुञ्चता—मुच् + शतृ । उत्कयितुम्—उत्कशब्दात् णिच्-तुमुन् । मनस्विनी—मनस् + विनिः । पटीयसा—पटु + ईयसुन् । वितन्वता—वि तनु + शतृ । साचिव्यम्—सचिव + ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । अकारि – कृ + कर्मणि लुङ् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—इन्दुः नर्मसाचिव्यम् अकार्षीत् ।

तात्पर्यार्थः—सकलाभिः कलाभिः रावणगृहे विद्यमानश्चन्द्रः मानवतीनां प्रियाणां कामम् उद्दीपयन् विलासिरावणस्य रतिं वर्धयन् नर्मणि सहायताम् अकरोत् ।

भाषा—कलाओं से परिपूर्ण रावणके गृह में विद्यमान, मानवती स्त्रियों को उत्कण्ठित करनेवाले, विलासी रावणके प्रेमको बढ़ानेवाले चन्द्रमाने रतिक्रीड़ामें रावण की सहायता नहीं की यह बात नहीं किन्तु अवश्य सहायता की ॥५९॥

रावणस्य विनायकविजयमाह—

विदग्धलीलोचितदन्तपत्रिकाविधित्सया नूनमनेन मानिना ।
न जातु वैनायकमेकमुद्धृतं विषाणमद्यापि पुनः प्ररोहति ॥६०॥

अन्वयः—मानिना अनेन विदग्धलीलोचितदन्तपत्त्रिकाविधित्सया जातु उद्धृतं वैनायकम् एकं विषाणम् अद्यापि पुनः न प्ररोहति नूनम् ।

सुधा—मानिना = अहङ्कारिणा । अनेन = रावणेन । विदग्धलीलोचित-दन्तपत्त्रिकाविधित्सया = विलासिनीविलासयोग्यदन्तमयकङ्कतिकानिर्मित्सया । जातु = कदाचित् । उद्धृतम् = उत्पाटितम् । वैनायकं = विनायकसम्बन्धि । एकम् = अद्वितीयम् । विषाणं = दन्तः । अद्याऽपि = अद्यत्वेऽपि । पुनः = भूयः । न प्ररोहति = न प्रादुर्भवति । नूनम् ॥ ६० ॥

कोशः—'क्रीडा लीला', 'विनायको विघ्नराजद्वैमातुरगणाधिपाः' इत्यमरः ।

समासादिः—विदग्धलीलोचितदन्तपत्त्रिकाविधित्सया—विधातुमिच्छा विधित्सा, विदग्धानां यः लीलाः तासां उचिता या दन्तपत्त्रिकाः तासां या विधित्सा तया । मानिना—मानः अस्ति अस्यासौ मानी तेन । वैनायकम्-विनयति विघ्नानिति विनायकः, तस्येदं वैनायकम् ।

व्याकरणम्—विधित्सा–वि धा + सन् । मानिना–मान इनिः । वैनायकम्–विनायक + अण् । उद्धृतम्–उद् धृ + क्त । प्ररोहति–प्र रुह् + लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—वैनायकेन एकेन विषाणेन न प्ररुह्यते ।

तात्पर्यार्थः—एकदा विलासिनिजप्रियाणां कङ्कतिकानिर्माणाय रावणो गणेशस्य एकं दन्तमुत्पाटयामास । ततःआरभ्य द्वितीयदन्तप्ररोहाभावात् गणेशः एकदन्तो जातः ।

भाषा—विलासिनी स्त्रियोंके विलासयोग्य गजदन्त की कंघी बनाने की इच्छा से अहङ्कारी इस रावणने गणेशजी के एक दाँत को किसी दिन उखाड़ा था, इसलिये आजतक गणेशजी को दूसरा दाँत नहीं निकला यह तर्कना की जाती है ॥ ६० ॥

रावणस्य वायुवशीकारं दर्शयति—

निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसाऽप्यूरुषु लोलचक्षुषः ।
प्रियेण तस्यानपराधबाधिताः प्रकम्पनेनानुचकम्पिरे सुराः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा अपि ऊरुषु लोलचक्षुषः तस्य प्रियेण प्रकम्पनेन अनपराधबाधिताः सुराः अनुचकम्पिरे ।

सुधा—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा=शुद्धान्तस्थितकामिनीपरिधान-कम्पनेन स्पष्टापराधवता अपि । ऊरुषु=सक्थिषु । लोलचक्षुषः=सतृष्णलोचनस्य ।

तस्य=रावणस्य। प्रियेण=प्रेमपात्रेण। प्रकम्पनेन=वायुना। अनपराधबाधिताः = अपराधं विनैव पीडिताः। सुराः = देवाः। अनुचकम्पिरे = अनुकम्पिताः ॥६१॥

कोशः—'निशान्तवस्त्यसदनं भवनागारमन्दिरम्' 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' 'सक्थि क्लीबे पुमानूरुः' 'लोलश्चसतृष्णयोः', 'लोचनं नयनं नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' इति चामरः।

समासादिः—निशान्तनारीपरिधानधूननस्फुटागसा—निशान्ते याः नार्यः तासां यानि परिधानानि तेषां धूननेन स्फुटम् आगः यस्य तेन। लोलचक्षुषः—लोले च चक्षुषी यस्य। अनपराधबाधिताः—अनपराधे बाधिता ये ते।

व्याकरणम्—प्रकम्पनेन—प्र कम्पि + ल्युट्। अनुचकम्पिरे—अनु कम्पि + लिट् झ इरेच्।

वाच्यपरिवर्तनम्—प्रकम्पनः सुरान् अनुचकम्पे।

तात्पर्यार्थः—अन्तःपुरस्थनारीणां परिधानचालनेन स्फुटापराधवताऽपि नारीणाम् ऊरुषु दर्शनसाभिलाषनेत्रस्य रावणस्य प्रियेण वायुना निरपराधपीडिताः देवाः अनुकम्पिताः।

भाषा—अन्तःपुरस्थित स्त्रियोंकी साड़ियों को ऊपर उड़ाने से स्पष्ट अपराधी होते हुए भी वायु ने ऊरुदर्शन में साभिलाषनेत्र वाले रावणका प्रेमपात्र होकर अपराध न होने पर भी दण्डित हुए देवों को मुक्त करा दिया ॥ ६१ ॥

रावणस्य वह्निविजयं दर्शयति—

तिरस्कृतस्तस्य जनाभिभाविना मुहुर्महिम्ना महसां महीयसाम्।
बभार वाष्पैर्द्विगुणीकृतं तनुस्तनूनपाद्धूमवितानमाधिजैः ॥६२॥

अन्वयः—तस्य जनाभिभाविना महीयसां महिम्ना मुहुः तिरस्कृतः तनुः तनूनपात् आधजैः बाष्पैः द्विगुणीकृतं धूमवितानं बभार।

सुधा—तस्य = रावणस्य। जनाभिभाविना = लोकतिरस्कारिणा। महीयसां = अत्यन्तमहताम्। महसां = तेजसाम्। महिम्ना = माहात्म्येन। मुहुः = वारं वारम्। तिरस्कृतः = कृततिरस्कारः। (अत एव)। तनुः = कृशः। तनूनपात् = अग्निः। आधिजैः = मानसव्यथाजन्यैः। बाष्पैः = नेत्रजलैः। द्विगुणीकृतं = द्विरावृत्तं। धूमवितानं = धूममण्डलं। बभार = दधार ॥ ६२ ॥

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने', 'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः'

'जातवेदास्तनूनपात्', 'पुंस्याधिर्मानसी व्यथा', 'बाष्पो नेत्रजलोष्मणोः' इति चामरः

समासादिः—जनाभिभाविना- जनम् अभिभवति तच्छीलेन। महीयसाम्-अतिशयेन यानि महान्ति तेषाम्। महिम्ना-महतो भावस्तेन। तनूनपात्-तनुं न पातयतीति तनूनपात्। आधिजैः–आधेः ये जाताः तैः। द्विगुणीकृतम्–द्वौ गुणौ अस्येति द्विगुणम्, अद्विगुणं द्विगुणं सम्पद्यमानं कृतमिति द्विगुणीकृतम्। धूमवितानं–धूमस्य यत् वितानं तत्।

व्याकरणम्—जनाभिभाविना-जन अभि भू + णिनिः। महीयसां–महत् + ईयसुन्। महिम्ना–महत् + इमनिच्। तिरस्कृतः–तिरस् कृ + क्त। द्विगुणीकृतं-द्विगुण + च्वि कृ + क्त। बभार–डुभृञ् लिट् तिप् णल्।

वाच्यपरिवर्तनम्—तनूनपाता धूमवितानं बभ्रे।

तात्पर्यार्थः—निखिललोकतिरस्कारिणा रावणस्य तेजसा वारं वारं पराभूतः अग्निरपि रावणसन्निधौ अप्रज्वलन् धूमायमान एव वर्त्तते स्म।

भाषा—सारी दुनियाँ को तिरस्कृत करने वाले अत्यन्त बढ़े चढ़े उस रावण की महिमा से तिरस्कृत अत एव कृश अग्नि मानसपीडाजन्य आँसुओं से द्विगुण धूमसमूहों को धारण करता था ॥ ६२ ॥

रावणस्य नागलोकादिविजयं वर्णयति—

परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥६३॥

अन्वयः—इद्धं तम् आराधयितुं परस्य मर्माविधं निजं द्विजिह्वतादोषम् उज्झतां फणिनाम् अजिह्मगामिभिः सकर्णकैः कुलैः भुजङ्गता न भेजे।

सुधा–इद्धं = दीप्तम्। तं = रावणम्। आराधयितुं = सेवितुं। परस्य = अन्यस्य मर्माविधं = मर्मवेधकम्। निजं = स्वकीयम्। द्विजिह्वतादोषं = सर्पत्वादिदोषम्, विषवत्त्वादिसर्पत्वरूपमिति यावत्। उज्झतां = त्यजतां। फणिनां = नागानाम्। अजिह्मगामिभिः = ऋजुयायिभिः। सकर्णकैः = चक्षुःश्रवस्त्वं त्यक्त्वा प्रकटीकृतकर्णैः। कुलैः = समूहैः। भुजङ्गता = नागता। न भेजे = न सेविता। पिशुनपक्षे–द्विजिह्वतादोषं = पिशुनतारूपं दोषम्। अजिह्मगामिभिः = करचरणादिमद्विग्रहधारित्वात् सरलगमनशीलैः। सकर्णकैः = नियामकसहितैः। भुजङ्गता = विटत्वं। न भेजे। अन्यत्सर्वं पूर्ववत् अवगन्तव्यम् ॥ ६३ ॥

कोशः—'चक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी', 'सजातीयैः कुलं यूथम्' इति चामरः ।

समासादिः—मर्माविधम्—मर्माणि विध्यति यः तम् । द्विजिह्वतादोषम्—द्वे जिह्वे येषां तेषां यो भावः तत्ता तस्यां यो दोषः तम् । फणिनाम्—फणा अस्ति येषां तेषाम् । अजिह्मगामिभिः—अजिह्मं यथा तथा गच्छन्ति तच्छीलैः । भुजङ्गता—भुजं यथा स्यात्तथा गच्छन्तीति तेषां भावः तत्ता ।

व्याकरणम्—मर्माविधम्—मर्मन् व्यध + क्विप् सम्प्रसारणम्, 'नहिवृति' इत्यादिना पूर्वपदस्य दीर्घः । उज्झताम्—उज्झ कर्तरि शतृ । इद्धम्—इन्ध + क्त । आराधयितुम्—आ राध + णिच् तुमुन् । अजिह्मगामिभिः—अजिह्म गम् + ताच्छील्ये णिनिः । भेजे-भज + लिट् कर्मणि त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—फणिनां कुलानि भुजङ्गतां न भेजिरे ।

तात्पर्यार्थः—रावणे लोकप्रभौ सति खलैरपि खलत्वम् सर्पैरपि सर्पत्वमत्यन्त परित्यक्तम्, स्वशरीरस्वभावक्रियादिभिः शान्तत्वं दयाशालित्वं च अवलम्बितम् ॥

भाषा—शक्तिशाली रावण की सेवा करने के लिये दूसरे का मर्मवेधन करने वाले अपने द्विजिह्वता-दोष को छोड़कर सरलता से चलनेवाले नियामक सहित ऐसे सर्पसमूहों ने भुजङ्गता और खलों ने दुष्टता धारण नहीं की ॥६३॥

रावणगजकृतदिग्गजविजयेन रावणस्य निखिललोकविजयित्वं सूचयति—

तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः　कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः ।
गृहीतदिक्कैरपुनर्निवर्तिभिश्चिराय याथार्थ्यमलम्भि दिग्गजैः ॥६४

अन्वयः—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः गृहीतदिक्कैः अपुनर्निवर्तिभिः दिग्गजैः चिराय याथार्थ्यम् अलम्भि ।

सुधा—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः=रावणमतङ्गजसमूहाभिहतैः । (अतएव) कटस्थलप्रोषितदानवारिभिः=गण्डस्थलापगतमदोदकैः । गृहीतदिक्कैः=दिग्गतैः (पलाय्य गृहीतदिगन्तैरित्यर्थः) । अपुनर्निवर्तिभिः = पुनरागमनरहितैः । दिग्गजैः दिग्घस्तिभिः । चिराय = बहुकालम् । याथार्थ्यं = दिक्षु स्थिताः गजाः दिग्गजाः इति नाम्नः सार्थकत्वम् । अलम्भि = प्रापि ॥६४॥

कोशः—'मतङ्गजो गजोनागःकुञ्जरो वारणः करीः' 'गण्डः कटो मदोदानम्,' 'चिराय चिररात्राय' इति चामरः ।

समासादिः—तदीयमातङ्गघटाविघट्टितैः—तस्येमे तदीयाः, ते च मातंगा

श्चेति तेषां या घटा तया ये विघट्टितास्तैः (त० पु०)। कटस्थलप्रोषितदानवारि-भिः—कटस्थलेभ्यः प्रोषितानि दानवारीणि येषां तैः। गृहीतदिक्कैः-गृहीताः दिशः एभिस्तैः। अपुनर्निवर्तिभिः—न पुनः निवर्तन्ते तच्छीलास्तैः। दिग्गजैः-दिक्षु विद्यमानाः गजाः दिग्गजाः तैः। याथार्थ्यम्—अर्थमनतिक्रम्य वर्तन्ते इति यथार्थास्तेषां भावः तत्।

व्याकरणम्—गृहीतदिक्कैः-गृहीत + दिश् 'शेषाद् विभाषा' इति कप्। अपुनर्निवर्तिभिः—न पुनर् निवृतृ + णिनिः। दिग्गजैः—दिक्षु विद्यमानगजैः शाकपार्थिवादित्वान्मध्यमपदलोपिसमासः। याथार्थ्यम्-यथार्थं अर्शआदित्वात् मत्वर्थे अच् ष्यञ्। अलम्भि-लभ + लुङ् त।

वाच्यपरिवर्तनम्—दिग्गजाः याथार्थ्यं लेभिरे।

तात्पर्यार्थः—रावणस्य गजेन्द्रसमूहताडिताः दिग्गजाः पलाय्य निजदिशः चिरकालावस्थानेन दिग्विद्यमानरूपं निजनाम्नः अन्वर्थत्वमलभन्त।

भाषा—रावण के गजसमूह से ताड़ित, गण्डस्यल में शुष्क मदजल वाले, अपनी दिशा में स्थित फिर से न लौटनेवाले दिग्गजों ने बहुत काल तक दिग्गज नाम की अन्वर्थता को पाया ॥ ६४ ॥

रावणस्य सुराङ्गनाविलासं दर्शयति—

अभीक्ष्णमुष्णैरपि तस्य सोष्मणः सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैर्यथा।
सचन्दनाम्भःकणकोमलैस्तथा वपुर्जलार्द्रापवनैर्न निर्ववौ ॥६५॥

अन्वयः—सोष्मणः तस्य वपुः अभीक्ष्णम् उष्णैः अपि सुरेन्द्रवन्दीश्वसिता निलैः यथा निर्ववौ तथा सचन्दनाम्भःकणकोमलैः जलार्द्रापवनैः न निर्ववौ।

सुधा—सोष्मणः=कामज्वरयुक्तस्य। तस्य = रावणस्य। वपुः = शरीरम् अभीक्ष्णम् = अत्यन्तं, सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः = देवश्रेष्ठवन्दीभूतरमणीनां निश्वासवायुभिः। यथा = यादृशम्। निर्ववौ = आनन्दं लेभे। तथा = तादृशम् सचन्दनाम्भःकणकोमलैः = चन्दनयुक्तजलबिन्दुवत्स्निग्धैः। जलार्द्रापवनैः = सलिलसिक्ततालवृन्तवायुभिः। न निर्ववौ = नानन्दं प्राप ॥ ६५ ॥

कोशः—'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः–', 'पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः','आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं जलम्। अम्भोऽर्णस्तोय-पानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इति चामरः।

समासादिः—सोष्मणः—ऊष्मणा सहेति सोष्मा तस्य। सुरेन्द्रवन्दीश्वसितानिलैः—सुराणां यः इन्द्रः तस्य याः वन्द्यः तासां यानि श्वसितानि तान्येवानिलास्तैः। सचन्दनाम्भःकणकोमलैः—चन्दनेन सहितं यत् अम्भः तस्य ये कणाः तैः ये कोमलाः तैः। जलार्द्रापवनैः—जलेन या आर्द्रा तस्याः ये पवनाः तैः।

व्याकरणम्—निर्ववौ— निर् वा + लिट् णल्।

वाच्यपरिवर्तनम्—वपुषा······निर्ववे।

तात्पर्यार्थः—चन्दनादिसौगन्ध्यमिश्रितशीतलैः तालपत्रव्यजनपवनैः कामज्वरतप्तस्य रावणस्य मानसं तथा शान्तिं न प्राप, यथा सुरेन्द्रवन्दीकृतरमणीनां दुःखनिःश्वासेन आनन्दं प्राप।

सुधा—कामज्वर सहित उस रावण के शरीर को देवाङ्गनाओं के अत्यन्त उष्ण निःश्वास वायु से जैसा सुख हुआ वैसा चन्दन सहित जलकण से कोमल तथा जल से सिक्त पंखे की हवा से आनन्द नहीं हुआ ॥ ६५ ॥

रावणस्य कालवशीकारत्वं वर्णयति—

तपेन वर्षाः शरदा हिमागमो वसन्तलक्ष्म्या शिशिरः समेत्य च।
प्रसूनक्लृप्तिं दधतः सदर्तवः पुरेऽस्य वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः ॥

अन्वयः—सदा प्रसूनक्लृप्तिं दधतः ऋतवः वर्षाः तपेन, हिमागमः शरदा शिशिरः वसन्तलक्ष्म्या च समेत्य अस्य पुरे वास्तव्यकुटुम्बितां ययुः।

सुधा—सदा = सर्वकाले। प्रसूनक्लृप्तिं=पुष्पसम्पत्तिम्। दधतः=धारयन्तः। ऋतवः = वसन्तादयः। वर्षाः = प्रावृट्। तपेन = ग्रीष्मर्तुना। हिमागमः = हेमन्तर्तुः। शरदा = शरदृतुना। शिशिरः = शिशिरर्तुः। वसन्तलक्ष्म्या = वसन्तशोभया च। समेत्य = सम्मिल्य। अस्य = रावणस्य। पुरे = नगरे। वास्तव्यकुटुम्बितां = निवासिगृहस्थत्वम्। ययुः = प्रापुः ॥ ६६ ॥

कोशः—'स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्' 'स्त्रियां प्रावृट् स्त्रियां भूम्नि वर्षाः', 'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च' इति चामरः।

समासादिः—हिमागमः—हिमस्य आगमः यस्मिन् सः। वसन्तलक्ष्म्या—वसन्तस्य या लक्ष्मीः तया। प्रसूनक्लृप्तिम् = प्रसूनानां या क्लृप्तिः ताम्। वास्तव्यकुटुम्बिताम्—वसन्तीति वास्तव्याः, कुटुम्बानि सन्ति येषां ते कुटुम्बिनः वास्तव्याश्च ते कुटुम्बिनश्चेति तेषां भावस्तत्ता ताम्।

व्याकरणम्—दधतः—धा + शतृ अभ्यस्तत्वान्नुमभावः । समेत्य–सम् आ इ + क्त्वो ल्यप् । ययुः—या + लिट् झि उस् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—ऋतुभिः......कुटुम्बिता यये ।

तात्पर्यार्थः—वसन्तादयः सर्वे ऋतवः रावणनगरे स्वस्वेतरसम्पत्तिमादाय युगपदेव निवसन्ति स्म ।

भाषा—सर्वदा पुष्पसम्पत्ति को धारण करते हुए वसन्तादि छः ऋतु वर्षा ऋतु ग्रीष्मऋतु से, हेमन्तऋतु-शरद् ऋतु से और शिशिरऋतु वसन्तऋतु से मिलकर इस रावण के नगर में सर्वदा के अधिवासी हुए ॥ ६६ ॥

रावणस्य रामदारापहारकत्वं दर्शयति—

असानवं जातमजं कुले मनोः प्रभाविनं भाविनमन्तमात्मनः ।
मुमोच जानन्नपि जानकीं न यः सदाऽभिमानैकधना हि मानिनः ॥

अन्वयः—अमानवम् अजं मनोः कुले जातं प्रभाविनं (भवन्तम्) आत्मनः अन्तं भाविनं जानन् अपि यः जानकीं न मुमोच । हि मानिनः सदा अभिमानैकधनाः भवन्ति ।

सुधा—अमानवम् = अमनुजम् । अजम्=अजन्यं । मनोः कुले = मनुवंशे । जातं = समुत्पन्नम् । प्रभाविनं = प्रभावशालिनं । भवन्तं=त्वाम् । आत्मनः = निजस्य । अन्तं = विनाशकरम् । भाविनं = भविष्यतं । जानन् अपि=अवगच्छन् अपि, यः = रावणः । जानकीं = वैदेहीं । न मुमोच=न जहौ । हि = यस्मात्कारणात् । मानिनः = मानवन्तः । सदा = सर्वस्मिन्काले । अभिमानैकधनाः= अभिमानमात्रधनाः । भवन्तीति शेषः ॥ ६७ ॥

कोशः—'कुलं वंशे समूहे च' इति नानार्थकोशः ।

समासादिः—अमानवम्–मनोरयम् मानवः तद्भिन्नस्तम् । अजम्–यो न जातः तम् । प्रभाविनम्—प्रकृष्टो भावः प्रभावः सोऽस्यास्ति तं प्रभाविनम् । भाविनम्—अवश्यम् भविष्यतीति भावी तम् । अन्तम्=अन्तयतीति तम् । जानकीम्–जनकस्यापत्यम् स्त्री जानकी ताम् । अभिमानैकधनाः—अभिमानः एवैकधनं येषां ते ।

व्याकरणम्—जानन्—ज्ञा + कर्तरि शतृ । प्रभाविनम्—प्रभाव + इनिः । भाविनम्–भू आवश्यके णिनिः । जानकीम्–जनक + अण् ङीप् । मुमोच–मुच् + लिट् णल् ।

वाच्यपरि०—येन······जानकी न मुमुचे। मानिभिः मानधनैः भूयते।

तात्पर्यार्थः—पूर्वस्मिन् जन्मनि अयमेव रावणः सन् रामावतारे त्वां निजान्तकरं विदन्नपि त्वाद्भार्यां जानकीं जहार।

भाषा—वस्तुतः मानवभिन्न और जन्मरहित होनेपर भी मनुकुल में उत्पन्न प्रभावशाली आपको अपना नाशक जानते हुए भी जिस रावणने सीता को नहीं छोड़ा। ठीक ही है, मानी लोग सर्वदा केवल अभिमान धन वाले होते हैं॥६७॥

रावणस्य रामावतारे कृत वधं वर्णयति—

स्मरत्यदो दाशरथिर्भवन भवानमुं वनान्ताद्वनितापहारिणम्।
पयोधिमाबद्धचलज्जलाविलं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति॥

अन्वयः—भवान् दाशरथिः भवन् वनान्तात् वनितापहारिणम् अमुम् आबद्धचलज्जलाविलं पयोधिं विलङ्घ्य लङ्कां निकषा हनिष्यति, अदः स्मरति(किम्)।

सुधा—भवान् = त्वम्। दाशरथिः = दशरथपुत्रो रामः। भवन् = सन्। वनान्तात् = दण्डकवनमध्यात्। वनितापहारिणम् = सीतापहारकम्। अमुम् = रावणम्। आबद्धचलज्जलाविलम् = सेतुबन्धनात् चञ्चलत्वेन कलुषम्। पयोधिम् = समुद्रम्। विलङ्घ्य = उल्लङ्घ्य। लंकाम् निकषा = लङ्कानिकटे। हनिष्यति = अवधीत्। अदः = तत्। रावणमारणम्, स्मरति = अभिजानातीति कच्चित्?

कोशः—'अटव्यरण्यं विपिनं गहनं काननं वनम्', 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः' 'आपः स्त्री भूम्निवार्वारि सलिलं कमलं जलम्' इति चामरः।

समासादिः – वनान्तात्–वनस्य यः अन्तः तस्मात्। वनितापहारिणम्–वनितामपहरतीति तम्। आबद्धचलज्जलाविलम्–चलन्ति जलानि यस्य सः चलज्जलः स चासौ आबद्धचलज्जलश्च आविलश्चेति तम्। दाशरथिः–दशरथस्यापत्यं पुमान्।

व्याकरणम्—दाशरथिः—दशरथ + अपत्यार्थे इञ्। हनिष्यति—हन् + अभिज्ञावचने लृट् स्य ति। लङ्कां निकषा—'अभितःपरितःसमयानिकषाहाप्रतियोगेऽपि' इति द्वितीया।

वाच्यपरिवर्तनम् - दाशरथिना भवता असौ हनिष्यते, अदः स्मर्यते।

तात्पर्यार्थः – भवान् दशरथात्मजरामावतारेण भुवं स्थितः सन् वनमध्यात् सीतापहारिणम् एनं रावणं जघान इति स्मरति किम्?।

भाषा—आपने दशरथपुत्र होकर दण्डकारण्य से अपनी स्त्री सीता का हरण

करने वाले इस रावण को पुल बांधने से जल चञ्चल होने के कारण कलुष ऐसे समुद्र को लाँघकर लङ्का के पास मारा था इस बात का स्मरण है क्या ? ॥६८॥

रावण एव शिशुपालः इति नटनिदर्शनेन समर्थयति—

अथोपपत्तिं छलनापरोऽपरामवाप्य शैलूष इवैष भूमिकाम् ।
तिरोहितात्मा शिशुपालसंज्ञया प्रतीयते सम्प्रति सोऽप्यसः परैः ॥

अन्वयः—अथ सम्प्रति छलनापरः एषः शैलूषः भूमिकाम् इव अपराम् उपपत्तिम् अवाप्य शिशुपालसंज्ञया तिरोहितात्मा सन् सोऽपि परैः असः प्रतीयते।

सुधा—अथ = रावणदेहत्यागानन्तरम् । सम्प्रति = इदानीम् । छलनापरः =वञ्चनापरः। एषः = रावणः। शैलूषः = नटः । भूमिकाम् = अन्यरूपग्रहणमिव। अपराम् = इतराम् । उपपत्तिम् = रूपम्, जन्मान्तरमित्यर्थः। अवाप्य = लब्ध्वा । शिशुपालसंज्ञया = शिशुपालः इत्याख्यया । तिरोहितात्मा = आच्छादितरूपः । सोऽपि = रावण एव । परैः = अन्यैः । असः = अपूर्वः, भिन्न इत्यर्थः । प्रतीयते = बुद्धयते ॥ ६९ ॥

कोशः—'कायो देहः क्लीबपुंसोः' 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा' इत्यमरः । 'शैलूषो नटभिल्लयोः' 'भूमिका रचनायां स्याम्मूर्त्यन्तरपरिग्रहे' इति च विश्वः ।

समासादिः—छलनापरः–छलना परं यस्य सः । तिरोहितात्मा – तिरोहितः आत्मा यस्य सः। शिशुपालसंज्ञया–शिशुपालः इति या संज्ञा तया। असः–सः न भवतीति ।

व्याकरणम्—शैलूषः—शिलूषस्य ऋषेः अपत्यं पुमान् शैलूषः, शिलूष + अण् । प्रतीयते—प्रति इ + कर्मणि लट् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—छलनापरम् एतं शैलूषं तिरोहितात्मानं सन्तं तमपि परे अतं प्रतीयन्ति ।

तात्पर्यार्थः—यथा कोऽपि नटः रूपान्तरं निर्माय तद्देशवेषभाषणादिभिः इतर इव जनैः प्रतीयते, तथैव स एव रावणः शिशुपालसंज्ञः मनुजदेहस्वीकारेण अत एव दृश्यते ।

भाषा—राक्षसदेह त्यागने के बाद वही रावण कपटतत्पर होता हुआ, रूपान्तर को धारण करने वाले नट के समान जन्मान्तर को प्राप्त कर शिशुपाल इस नाम से अपनी आत्मा को छिपाता हुआ साधारण जनों से दूसरा समझा जाता है ॥ ६९ ॥

शिशुपालस्वरूपं वर्णयति—

स बाल आसीद्वपुषा चतुर्भुजो मुखेन पूर्णेन्दुनिभस्त्रिलोचनः ।
युवा कराक्रान्तमहीभृदुच्चकैरसंशयं सम्प्रति तेजसा रविः ॥७०॥

अन्वयः—सः बालः (सन्) वपुषा चतुर्भुजः आसीत्, मुखेन पूर्णेन्दुनिभः त्रिलोचनः आसीत् । सम्प्रति युवा सः कराक्रान्तमहीभृत् उच्चकैः तेजसा असंशयं रविः अस्ति ।

सुधा—सः=शिशुपालः । बालः=शिशुः सन् । वपुषा=देहेन । चतुर्भुजः=चतुष्करः । आसीत् । मुखेन=वदनेन । पूर्णेन्दुनिभः=पूर्णचन्द्रसदृशः । त्रिलोचनः=त्रिनयनः । आसीत् । सम्प्रति=इदानीम् । युवा=तरुणः । सः । कराक्रान्तमहीभृत्=राजग्राह्यभागेन वशीकृतराजः । (सूर्यपक्षे—किरणव्याप्तपर्वतः) उच्चकैः=अतिमहता । तेजसा=महसा । असंशयं=निःसन्देहम् । रविः=सविता । अस्ति ॥७०॥

कोशः—'गात्रं वपुः संहननं शरीरं वर्ष्म विग्रहः । कायो देहः क्लीबपुंसोः' 'भुजबाहू प्रवेष्टोः दोः', 'वाक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननम्', 'नेत्रमीक्षणं चक्षुरक्षिणी' 'वयस्यस्तरुणो युवा', 'बलिहस्तांशवः कराः' 'तपनः सविता रविः' इति चामरः ।

समासादिः—चतुर्भुजः—चत्वारः भुजाः यस्य सः । पूर्णेन्दुनिभः–पूर्णेन इन्दुना निभः । त्रिलोचनः—त्रीणि लोचनानि यस्य सः । कराक्रान्तमहीभृतः—करैः आक्रान्ता महीभृतः येन सः । असंशयम्–अविद्यमानः संशयः यस्मिन् तत् ।

वाक०—महीभृत्—मही भृ + क्विप् । आसीत्–अस् + लङ् · तिप् इट् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तेन बालेन चतुर्भुजेन पूर्णेन्दुनिभेन त्रिलोचनेन अभूयत् । यूना तेन कराक्रान्तमहीभृता रविणा भूयते ।

तात्पर्यार्थः–शिशुपालरूपः सः रावणः बाल्ये पूर्णचन्द्रबिम्बमुखः चतुर्बाहुश्च आसीत् । इदानीं तु युवावस्थायाम् अतितेजसा साक्षात् सूर्य इव प्रतिभाति ।

भाषा—बाल्यावस्था में चार भुजा, पूर्णचन्द्रतुल्य मुख तथा तीन नेत्रों से युक्त वही शिशुपाल आजकल युवावस्था में करग्रहण से राजाओं को वशीभूत करता हुआ तेज के आधिक्य से सूर्यतुल्य हुआ ॥ ७० ॥

शिशुपालस्य वरलाभाभावेऽपि सुरासुरादिवशीकारकत्वेन लोकोत्तरत्वं दर्शयति—

स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहावग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान्हसत्यसौ ॥ ७१ ॥

अन्वयः—यदृच्छया स्वयं सुरदैत्यरक्षसाम् अनुग्रहावग्रहयोः विधाता असौ अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् दशाननादीन् हसति ।

सुधा— यदृच्छया = स्वेच्छया । स्वयम् = आत्मना । सुरदैत्यरक्षसां = देवदानवराक्षसानाम् । अनुग्रहावग्रहयोः=प्रसादनिग्रहयोः । विधाता=विधायकः । असौ=शिशुपालः । अभिराद्धदेवतावितीर्णवीर्यातिशयान् = अर्चितदेववरप्रदान-लब्धातिशयप्रतापान् । दशाननादीन् = दशमुखादीन् रावणादीन् । हसति = उपहसति ॥ ७१ ॥

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः', 'देवास्त्रिदशा विबुधाः सुराः', 'असुरा दैत्यदैतेयदनुजेन्द्रारिदानवाः' इति चामरः ।

समासादिः—सुरदैत्यरक्षसाम्—सुराश्च दैत्याश्च रक्षांसि चेति तेषाम् (द्वन्द्व) । अनुग्रहावग्रहयोः—अनुग्रहः अवग्रहश्चेति तयोः (त०पु०) । अभिराद्ध-देवतावितीर्णवीर्यातिशयान्—अभिराद्धाभिः देवताभिः वितीर्णः वीर्यातिशयः येभ्यस्तान् । दशाननः आदिः येषां तान् ।

व्याकरणम् विधाता वि धा + तृच् । हसति—हस + कर्तरि लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विधात्रा अमुना दशाननादयः हस्यन्ते ।

तात्पर्यार्थः—शिशुपालः देवदानवराक्षसानां प्रसाददण्डौ स्वयं कुर्वन् पूजितदेवतालब्धवरदानजन्यप्रभाववतो रावणादीन् हसति ।

भाषा—देव दैत्य राक्षसों के ऊपर अपनी इच्छा से अनुग्रह और दण्ड करता हुआ आराधित देवताओं से वर प्राप्त प्रभावशाली रावणादिकों को यह शिशुपाल हँसता है ॥ ७१ ॥

शिशुपालस्य लोकबाधकत्वं वर्णयति—

बलावलेपादधुनाऽपि पूर्ववत्प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिः सुनिश्चला पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि॥७२॥

अन्वयः—जिगीषुणा तेन बलावलेपात् अधुना अपि पूर्ववत् जगत् प्रबाध्यते । सुनिश्चला प्रकृतिः सती योषिदिव भवान्तरेषु अपि पुमांसम् अभ्येति ।

सुधा—जिगीषुणा = जयनशीलेन । तेन=शिशुपालेन । बलावलेपात्=बल-दर्पात् । अधुना=इदानीमपि । पूर्ववत् = पूर्वजन्मनीव, जगत् = भुवनम् । प्रबाध्यते = प्रपीड्यते । तथाहि-सुनिश्चला = स्थिरतरा । प्रकृतिः = स्वभावः । सती = पतिव्रता । योषित् = नारीव । भवान्तरेषु = जन्मान्तरेषु अपि पुमांसम् = नरम् । अभ्येति = प्राप्नोति ॥ ७२ ॥

कोशः—'दर्पोऽवलेपोऽवष्टम्भः,' 'एतर्हि सम्प्रतीदानीमधुना साम्प्रतं तथा', 'विष्टपं भुवनं जगत्', 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्', 'स्त्री योषिदबला योषा नारी सीमन्तिनी वधू,' इति चामरः।

समासादिः—बलावलेपात्—बलस्य यः अवलेपः तस्मात्—(त० पु०)। जिगीषुणा—जेतुं यः इच्छुः तेन जिगीषुणा। भवान्तरेषु—अन्ये भवाः भवान्तराणि तेषु (त० पु०)।

व्याकरणम्—जिगीषुणाः–जि + सन् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उः। पूर्ववत्–पूर्व + वति। 'तेन तुल्यं क्रिया चेद् वतिः' इति। प्रबाध्यते–प्र बाध + कर्मणि लट् त। अभ्येति—अभि इ + लट् तिप्।

वाच्यपरिवर्तनम्—जिगीषुः सः प्रबाधते। सत्या योषिता प्रकृत्या पुमान् अभीयते।

तात्पर्यार्थः—यथा पतिव्रता स्त्री स्वप्नेऽपि परपुरुषमनभिवाञ्छन्ती प्रेत्य जन्मान्तरेऽपि तमेव पूर्वपतिं प्राप्नोति। तथैव शिशुपालस्यापि पूर्वजन्मजो लोकपीडाकरो दुःस्वभावोऽस्मिन्नपि जन्मनि लोकं पीडयति।

भाषा—जीतने की इच्छा करने वाले उस शिशुपाल ने बलके गर्वसे आजकल भी पहले की तरह जगत् को पीडित किया है। ठीक ही है, अत्यन्त निश्चल प्रकृति, पतिव्रता स्त्री के सदृश जन्मान्तर में भी, उस पुरुष को प्राप्त करती है

शिशुपालवधः कृष्णेन कर्त्तव्य इति दर्शयति—

तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम्।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः॥७३॥

अन्वयः–तत् विधेः उल्लंघितशासनम् एनं कीनाशनिकेतनातिथिं विधेहि। तथा हि शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः असाधवः सतां विपादनीयाः भवन्ति।

सुधा—तत्=तस्मात्कारणात्। विधेः=ब्रह्मणः अपि। उल्लंघितशासनम्=अतिक्रान्ताऽऽज्ञम्। एनम्=शिशुपालम्। कीनाशनिकेतनातिथिं=यमगृहाभ्यागतं, विधेहि=कुरु। तथा हि–शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः=अशुभाचारपरिपक्वविपदः। असाधवः=दुर्जनाः। सताम्=सज्जनानाम्। विपादनीयाः=मारणीयाः भवन्ति॥७३

कोशः—'विधिर्विधाने दैवे च' 'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम्', 'अतिथिनां गृहागते' इति चामरः।

समासादिः—उल्लंघित शासनम्=उल्लंघितं शासनं येन सः तम्। कीनाशनिकेतनातिथिम्—कीनाशस्य यन्निकेतनं तस्य यः अतिथिः तम्। शुभेतराचारविपक्त्रिमापदः—शुभात् इतर यः आचारः तेन विपक्त्रिमाः आपदः येषान्ते। असाधवः—न साधवः इति।

व्याकरणम्—विधेहि—वि धा + लोट् सिप् हि। विपक्त्रिमाः—वि पच् 'ड्वितः क्त्रिः, इति क्त्रि , 'क्त्रेर्मम्नित्यम् इति मम्। विपादनीयाः—विपद् + णिच् अनियर्।

वाच्यपरिवर्तनम्—·········उल्लङ्घितशासनः एषः कीनाशनिकेतनातिथिः विधीयताम्। शुभेतराचारविपक्त्रिमापद्भिः असाधुभिः विपादनीयैः भूयते।

तात्पर्यार्थः—ब्रह्माज्ञाविघातकमेनं शिशुपालं व्यापादय। दुष्टाः स्वदुराचारेणैव साधुभिर्व्यापाद्यन्ते।

भाषा—इसलिये ब्रह्मदेव की आज्ञा को उल्लंघित करनेवाले इस शिशुपाल को यम गृह का अतिथि बनाइये। दुराचार से परिपक्व आपत्ति वाले दुष्ट लोग सज्जनोंसे मारे जाने के योग्य होते हैं॥ ७३॥

शिशुपालवधादिन्द्रं सानन्दं कुरु इति नारदस्य कृष्णं प्रत्युक्तिः—

हृदयमरिवधोदयादुदूढद्रढिम दधातु पुनः पुरन्दरस्य।
घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्॥७४॥

अन्वयः—अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम पुरन्दरस्य हृदयं पुनः घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं दधातु।

सुधा—अरिवधोदयात् = शत्रुहननोदयात्। उदूढद्रढिम = धृतदृढत्वम्। पुरन्दरस्य=पुरुहूतस्य, इन्द्रस्येत्यर्थः। हृदयं = वक्षःस्थलम्। पुनः = भूयः। घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वं = निबिडरोमाञ्चयुक्तशचीकुचाग्रत्वरितालिङ्गनजन्यपीडासहत्वम्। दधातु = धारयतु। अस्मिन् पद्ये पुष्पिताग्रा[1] वृत्तम्॥७४॥

कोशः—'वृद्धश्रवाः शुनासीरः पुरुहूतः पुरन्दरः', 'स्तनौ कुचौ' 'पुलोमजा शचीन्द्राणी इति चामरः।

समासादिः—अरिवधोदयात्—अरेः यः वधः सः एव उदयः तस्मात्।

---

१. अयुजि न युगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।
इति लक्षणादिति भावः।

उदूढद्रढिम—उदूढः द्रढिमा येन तत् । घनपुलकपुलोमजाकुचाग्रद्रुतपरिरम्भनिपीडनक्षमत्वम्—घनः पुलकः ययोः तौ च तौ पुलोमजायाः कुचौ तयोः ये अग्रे तयोः द्रुतं यः परिरम्भः तत्र यत् निपीडनं तस्य क्षमत्वम् ।

व्याकरणम्—उदूढद्रढिम–दृढ - इमनिच् 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति, 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति रभावः । दधातु—धा + लोट् तिप् उः ।

वाच्यपरि०—अरिवधोदयात् उदूढद्रढिम्ना पुरन्दरस्य हृदये धीयताम् ।

तात्पर्यार्थः—शिशुपालवधात् निश्चिन्त इन्द्रस्त्वत्प्रसादात् सरोमाञ्चशचीकुचालिङ्गने ब्रह्मास्वादसहोदरमानन्दमनुभवतु ।

भाषा—शत्रुवध होनेसे इन्द्रका हृदय पुनः निबिडरोमाञ्चयुक्त इन्द्राणी के कुचाग्रभाग के शीघ्र आलिङ्गन में उत्पन्न पीडा के सहन करने की योग्यता को धारण करे ।।७४।।

सन्देशश्रवणानन्तरं नारदे स्वर्गं प्रस्थिते सति शिशुपालं प्रति कृष्णक्रोधं वर्णयति-

ओमित्युक्तवतोऽथ शार्ङ्गिण इति व्याहृत्य वाचं नभ-
स्तस्मिन्नुत्पतिते पुरः सुरमुनाविन्दोः श्रियं बिभ्रति ।
शत्रूणामनिशं विनाशपिशुनः क्रुद्धस्य चैद्यं प्रति
व्योम्नीव भ्रुकुटिच्छलेन वदने केतुश्चकारास्पदम् ।।७५।।

इति श्रीमाघकृतौ शिशुपालवधे महाकाव्ये कृष्ण-
नारदसम्भाषणं नाम प्रथमः सर्गः ।

अन्वयः—तस्मिन् सुरमुनौ इति वाचं व्याहृत्य नभः उत्पतिते पुरः इन्दोः श्रियं बिभ्रति सति अथ ओम् इति उक्तवतः चैद्यं प्रतिक्रुद्धस्य शार्ङ्गिणः वदने व्योम्नि इव अनिशं शत्रूणां विनाशपिशुनः केतुः भ्रुकुटिच्छलेन आस्पदं चकार ।

सुधा—तस्मिन्=नारदे । सुरमुनौ=देवर्षौ । इति=पूर्वोक्ताम् । वाचं=वचनं । व्याहृत्य = कथयित्वा । नभः = आकाशम् । उत्पतिते = उद्यति । पुरः = अग्रे । इन्दोः=चन्द्रमसः । श्रियं=शोभाम् । बिभ्रति=धारयति सति । अथ=नारदवचनानन्तरम् । ओम् इत्युक्तवतः=तथास्तु इति कथितवतः । चैद्यं=शिशुपालं प्रति, क्रुद्धस्य = कृतकोपस्य । शार्ङ्गिणः = जनार्दनस्य । वदने = मुखे । व्योम्नि = आकाशे इव । अनिशं = सततम् । शत्रूणां = रिपूणाम् । विनाशपिशुनः = वधसूचकः । केतुः = उत्पातविशेषः । भ्रुकुटिच्छलेन = भ्रूकौटिल्यकपटेन ।

आस्पदम् = अवस्थानम्। चकार = विदधे। अत्र [1]ओमथशब्दौ माङ्गलिकतया प्रयुक्तौ, अन्तेऽपि[2] मङ्गलस्यावश्यकत्वात ॥७५॥

कोशः—'ओम् प्रश्नेऽङ्गीकृतौ रोषे' इति विश्वः। 'केतुर्द्युतौ पताकायां ग्रहोत्पातारिलक्ष्मसु,' पिशुनौ खलसूचकौ', 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ', 'शार्ङ्गी विष्वक्सेनो जनार्दनः' इति चामरः।

समासादिः—शार्ङ्गिणः—शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गम् तदस्यास्तीति तस्य। सुरमुनौ—सुराणां यो मुनिः तस्मिन्। विनाशपिशुनः—विनाशस्य यः पिशुनः सः। भ्रुकुटिच्छलेन—भ्रुवः या कुटिः सैव छलं तेन। अनिशम्—अविद्यमाना निशा यस्मिन् तत्।

व्याकरणम्—उक्तवतः—वच् + कर्तरि भूते क्तवतुः। शार्ङ्गिणः—शार्ङ्ग + इनिः। व्याहृत्य—वि आ हृ + क्त्वो ल्यप्। बिभ्रति—भृ + कर्तरि शतृ, अभ्यस्तत्वान्नुमभावः। क्रुद्धस्य—क्रुध् + कर्तरि क्तः। आस्पदम्—'आस्पदं प्रतिष्ठायाम्' इति निपातः। चकार—कृ + लिट् + तिप् णल्। चैद्यम् = चेदि + ष्यङ् 'वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ्' इति।

वाच्यपरिवर्तनम्—विनाशपिशुनेन केतुना आस्पदं चक्रे।

तात्पर्यार्थः—नारदः एवं वाचं व्याहृत्य आकाशं प्रतस्थे। तदा आकाशे केतुरिव श्रीकृष्णवदने क्रोधेन चैद्यं प्रति भ्रूभङ्गो बभूव।

भाषा—इस तरह सन्देशवचन कहकर नारदजी के आकाश में जाने तथा कृष्णजी के आगे चन्द्र की शोभा को धारण करने पर अङ्गीकार करनेवाले शिशुपाल के प्रतिकूल श्रीकृष्ण के मुखपर शत्रुविनाश का सूचक केतु आकाश में भ्रूभङ्ग के व्याज से स्थिति की ॥ ७५ ॥

इति माघकाव्यस्य सुधाख्य-व्याख्यायां प्रथमः सर्गः समाप्तः।

●

---

१. ओङ्कारश्चाथशब्दश्च द्वावेतौ ब्रह्मणः पुरा।
कण्ठं भित्त्वा विनिर्यातौ तेन माङ्गलिकावुभौ॥ इति वचनादिति भावः।

२. मङ्गलादीनि मङ्गलमध्यानि मंङ्गलान्तानि च शास्त्राणि प्रथन्ते।
वीरपुरुषाण्यायुष्मत्पुरुषाणि च भवन्ति। अध्येतारश्च प्रवक्तारो भवन्ति॥
इति महाभाष्यकारवचनादिति भावः।

द्वितीयः सर्गः

अस्मिन् द्वितीयसर्गे मन्त्रवर्णनाय बीजं क्षरति—

यियक्षमाणेनाहूतः पार्थेनाथ मुरं द्विषन् ।
अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुरासीत्कार्यद्वयाकुलः ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ यियक्षमाणेन पार्थेन आहूतः अभिचैद्यं प्रतिष्ठासुः मुरं द्विषन् कार्यद्वयाकुलः आसीत् ।

सुधा—अथ=शक्रसन्देशश्रुत्यनन्तरम् । यियक्षमाणेन=यागं कर्तुम् इच्छता । पार्थेन=पृथासुतेन, युधिष्ठिरेणेत्यर्थः । आहूतः=आकारितः, अभिचैद्यं=शिशुपालं प्रति । प्रतिष्ठासुः=यियासुः । मुरं=तन्नामकं दैत्यम् । द्विषन्=घातुकः, श्रीकृष्ण इत्यर्थः । कार्यद्वयाकुलः—सुरकार्यसुहृत्कार्यद्वयेन व्याकुलः । आसीत्=अभूत् ।

समासादिः—अभिचैद्यम्—चैद्यम् अभिलक्ष्येति । कार्यद्वयाकुलः—द्वौ अवयवौ यस्य तत् द्वयम्, कार्यस्य यत् द्वयं तेन आकुलः ॥ १ ॥

व्याकरणम्—यियक्षमाणेन—यज् + सन् + शानच् । प्रतिष्ठासुः—प्र + स्था + सन्—उः । आहूतः—आङ् + ह्वेञ् + क्तः । आसीत्—अस् + लङ् + तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—मुरं द्विषता आकुलेन अभूयत ।

तात्पर्यार्थः—राजसूये युधिष्ठिरेण निमन्त्रितः श्रुतेन्द्रसन्देशः श्रीहरिः युधिष्ठिरयज्ञगमनं तथा शिशुपालशत्रुपातनार्थं गमनमिति कार्यद्वये व्यग्रोऽभूत् ।

भाषा—राजा युधिष्ठर से राजसूय यज्ञ में निमन्त्रित किये गये श्रीकृष्णजी इन्द्रसन्देश को करना चाहिये, या पार्थ के याग में जाना चाहिये, इस तरह दो कार्यों में चिन्ताकुल हो गये ॥ १ ॥

सभागृहगमनं वर्णयति—

सार्धमुद्धवसीरिभ्यामथासावासदत्सदः ।
गुरुकाव्यानुगां बिभ्रच्चान्द्रीमभिनभः श्रियम् ॥ २ ॥

अन्वयः—अथ असौ अभिनभः गुरुकाव्यानुगां चान्द्रीं श्रियं बिभ्रत् उद्धवसीरिभ्यां सार्द्धं सदः आसदत् ।

सुधा—अथ = सन्देहानन्तरम् । असौ=हरिः । उद्धवसीरिभ्याम्=उद्धवबलरामाभ्याम् । सार्द्धम्=सह । अभिनभः=आकाशे । गुरुकाव्यानुगाम्=बृहस्पति-

शुक्रानुसृताम् । चान्द्रीम=ऐन्दवीम् । श्रियम्=शोभाम् । विभ्रत्=धारयत् । सदः=सभाम् । आसदत्=प्राप । राजसदःप्रासादत्वेन मन्त्रोचितदेशत्वम् ॥ २ ॥

कोशः—'रेवतीरमणो रामः कामपालो हलायुधः', हिमांशुश्चन्द्रमाचन्द्र इन्दुः कुमुदबान्धवः', 'शुक्रो दैत्यगुरुः काव्य उशना भार्गवः कविः' इति चामरः ।

समासादिः—उद्धवसीरिभ्याम्—उद्धवश्च सीरी च ताभ्याम् । गुरुकाव्यानुगाम्—गुरुश्च काव्यश्च तौ अनुगच्छति सा ।

व्याकरणम्—बिभ्रत्—भृ+शतृ । आसदत्—आ+सद्+लुङ्+तिप् । चान्द्रीम्—चन्द्र+अण्+ङीप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—…अमुना…बिभ्रता आसादि ।

तात्पर्यार्थः—इत्थं सञ्जातसन्देहः श्रीकृष्णो रामेणोद्धवेन च सहितो विचारगृहं प्रविवेश ।

भाषा—सन्देह होने के बाद श्रीकृष्णजी आकाशमें बृहस्पति-शुक्राचार्य से अनुगत चन्द्रकी शोभाको धारण करते हुए बलराम उद्धवके साथ सभागृहमें प्राप्त हुए ॥

श्रीकृष्णोद्धवबलरामाणामग्नित्रयसाम्यं दर्शयति—

जाज्वल्यमाना जगतः शान्तये समुपेयुषी ।
व्यद्योतिष्ट सभावेद्यामसौ नरशिखित्रयी ॥ ३ ॥

अन्वयः—जगतः शान्तये समुपेयुषी जाज्वल्यमाना असौ नरशिखित्रयी सभावेद्यां व्यद्योतिष्ट ।

सुधा—जगतः=भुवनस्य । शान्तये=स्वास्थ्याय । समुपेयुषी=प्राप्तवती । जाज्वल्यमाना=अतिशयेन ज्वलन्ती । असौ=श्रीकृष्णोद्धवबलरामात्मिका । नरशिखित्रयी=दहनसदृशतेजस्वित्रयी । सभावेद्याम=सदःपरिष्कृतभूमौ । व्यद्योतिष्ट=प्रदीप्यत ॥ ३ ॥

कोशः—'विष्टपं भुवनं जगत्' । 'शिखावानाशुशुक्षणिः हिरण्यरेता हुतभुग् दहनो हव्यवाहनः' । 'वेदिः परिष्कृता भूमिः' इति चामरः ।

समासादिः—नरशिखित्रयी—नराः शिखिनः इव तेषां या त्रयी सा । सभावेद्याम्—सभा एव वेदिः तस्याम् ।

व्याकरणम्—व्यद्योतिष्ट—वि+द्युत्+लुङ्+त । जाज्वल्यमाना—ज्वल्+यङ्+लट्+शानच्+टाप् । समुपेयुषी=सम्+उप+इ+क्वसुः ङीप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अमुया व्यद्योति ।

तात्पर्यार्थः—जगदुपद्रवशान्तये सभायां सम्मिलिताः कृष्णोद्धवबलरामाः वेद्यां त्रयोऽग्नय इव बभुः ।

भाषा—जगत् का उपद्रव शान्त करने के लिये एकत्रित हुए, अत्यन्त प्रकाशमान, अग्नित्रय के समान वे श्रीकृष्ण, उद्धव, बलराम, वेदि के सदृश सभा में सुशोभित हुए ॥ ३ ॥

सभास्थतत्पुरुषत्रयस्य चमत्कारितया वर्णनं विधत्ते—

रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमास्ते चकाशिरे ।
एकाकिनोऽपि परितः पौरुषेयवृता इव ॥ ४ ॥

अन्वयः—रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमाः ते एकाकिनः अपि परितः पौरुषेयवृता इव चकाशिरे ।

सुधा—रत्नस्तम्भेषु = रत्नखचितस्तम्भेषु । संक्रान्तप्रतिमाः = संलग्नप्रतिबिम्बाः । ते = कृष्णरामोद्धवाः । एकाकिनः=एकैकाः अपि ! परितः=समन्ततः । पौरुषेयवृताः = पुरुषसमूहयुक्ताः इव । चकाशिरे = दिदीपिरे ॥ ४ ॥

कोशः—'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विश्वगित्यपि' इति चामरः ।

समा०—रत्नस्तम्भेषु—रत्नानां ये स्तम्भास्तेषु । संक्रान्तप्रतिमाः—संक्रान्ता प्रतिमा येषां ते ।

व्याकरणम्—चकाशिरे = काशृ + लिट् + झ । एकाकी=एक + आकिनिच् 'एकादाकिनिच्चासहये' इति ।

वाच्यपरिवर्तनम्—एकाकिभिः अपि पौरुषेयवृतैः इव चकाशे ।

तात्पर्यार्थः—मन्त्रणाय प्रविष्टास्तेऽनुचररहिता अपि रत्नस्तम्भेषु संक्रान्तप्रतिमत्वात् सानुचरा इव ददृशिरे ।

भाषा—वे बलराम, कृष्ण, उद्धव रत्नों के खम्भों में प्रतिबिम्ब पड़ने से अकेले थे तो भी पुरुषसमूहों से चारों ओर से घिरे हुए की तरह देखने में आये ॥ ४ ॥

तानेव उपमान्तरेण वर्णयति—

अध्यासामासुरुत्तुङ्गहेमपीठानि यान्यमी ।
तैरूहे केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा ॥ ५ ॥

अन्वयः—अमी यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि अध्यासामासुः, तैः केसरिक्रान्त-त्रिकूटशिखरोपमा ऊहे ।

सुधा—अमी = रामकृष्णोद्धवाः । यानि उत्तुङ्गहेमपीठानि=उच्चैः कनकमयासनानि । अध्यासामासुः = अधितस्थुः । तैः = कनकपीठैः । केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा = सिंहाधिष्ठितत्रिकूटपर्वतश्रृङ्गसादृश्यम् । ऊहे = बभ्रे ।। ५ ।।

कोशः—'हिरण्यं हेम हाटकम्', 'पीठमासनम्', सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः', 'त्रिकूटस्त्रिककुत्समौ', 'शिखरं श्रृङ्गम्' इति चामरः ।

समासादिः—उत्तुङ्गहेमपीठानि—उत्तुङ्गानि हेम्नः यानि पीठानि तानि । केसरिक्रान्तत्रिकूटशिखरोपमा—केसरिभिः आक्रान्तानि त्रिकूटस्य यानि शिखराणि तेषां या उपमा सा ।

व्याकरणम्—अध्यासामासुः—अधि + आस् + लिट् उस् । ऊहे—वह + लिट् + त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अमीभिः यानि अध्यासामासिरे, तानि त्रिकूटशिखरोपमाम् ऊहुः ।

तात्पर्यार्थः—एतेषामधिष्ठानेन तान्यासनानि सिंहाधिष्ठितत्रिकूटाचल-समानशोभामलभन्त ।

भाषा—श्रीकृष्ण, बलराम, उद्धवजी जिस जिस आसन पर बैठे थे वे आसन सिंह बैठे हुए त्रिकूटाचल के शिखरकी शोभा को धारण करते हुये ।।५।।

श्रीकृष्णकृतं प्रस्तावं दर्शयति—

गुरुद्वयाय गुरुणोरुभयोरथ कार्ययोः ।
हरिर्विप्रतिषेधं तमाचचक्षे विचक्षणः । ६ ।।

अन्वयः—अथ विचक्षणः हरिः गुरुद्वयाय उभयोः गुरुणोः कार्ययोः तं विप्रतिषेधम् आचचक्षे ।

सुधा—अथ = उपवेशनानन्तरम् । विचक्षणः = पण्डितः, लब्धवर्णः इत्यर्थः । हरिः = मुरारिः । गुरुद्वयाय = बलरामोद्धवाभ्याम् । उभयोः = द्वयोः । गुरुणोः = महतोः । कार्ययोः = कर्त्तव्ययोः, यज्ञगमनशिशुपालवधरूपयोरित्यर्थः । तम् = पूर्वोक्तम् । विप्रतिषेधम् = विरोधम् । आचचक्षे = जगाद ।। ६ ।।

कोशः—'लब्धवर्णो विचक्षणः' इत्यमरः ।

समासादिः—गुरुद्वयाय—गुर्वोः यत् द्वयं तस्मै ।

व्याकरणम्—विचक्षणः-वि चक्ष् + ल्युट् + बाहुलकात् । विप्रतिषेधम्—वि + प्रति + षिध् + अच् । आचचक्षे—आ + चक्ष् + लिट् + त + एश् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—हरिणा विप्रतिषेधः आचचक्षे ।

तात्पर्यार्थः—ततो हरिः एकतः सुहृत्कार्यम् अन्यतो देवकार्यम्, एतदुभय-मपि युगपदेव प्राप्तम्; तयोः कतरत् कर्त्तव्यं श्रेष्ठं भवेदिति पप्रच्छ ।

भाषा—बैठनेके बाद श्रीकृष्णजी उद्धव बलराम से उन दोनों भारी कार्यों का विरोध कहने लगे ॥ ६ ॥

श्रीकृष्णोक्तिप्रकारं वर्णयति—

द्योतितान्तःसभैः कुन्दकुड्मलाग्रदतः स्मितैः ।
स्नपितेवाभवत्तस्य शुद्धवर्णा सरस्वती ॥ ७ ॥

अन्वयः—कुन्दकुड्मलाग्रदतः तस्य सरस्वती द्योतितान्तःसभैः स्मितैः स्नपिता इव शुद्धवर्णा अभवत् ।

सुधा—कुन्दकुड्मलाग्रदतः = माध्यपुष्पकलिकाग्रभागतुल्यदन्तस्य । तस्य = श्रीकृष्णस्य । सरस्वती = भारती । द्योतितान्तःसभैः = प्रकाशितसभान्तरभागैः । स्मितैः = ईषद्धास्यैः । स्नपिता इव = प्रक्षालितेव । शुद्धवर्णा = स्पष्टोच्चारणा-दिना निर्मलकान्तिः । अभवत् = अभूत् ॥ ७ ॥

कोशः—'माध्यं कुन्दम्', 'कुड्मलो मुकुलोऽस्त्रियाम्', 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग् वाणी सरस्वती', 'सभासमितिसंसदः' इति चामरः ।

समासादिः—कुन्दकुड्मलाग्रदतः—कुन्दानां ये कुड्मलाः तेषां यानि अग्राणि तानीव दन्ताः यस्य तस्य । शुद्धवर्णा—शुद्धः वर्णः यस्याः सा । द्योति-तान्तःसभैः—द्योतिता अन्तःसभा यैः तानि, तैः ।

व्याकरणम्—स्नपिता—ष्णा + णिच् क्त पुक् टाप् । कुन्दकुड्मलाग्रदतः—'अग्रान्तशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च' इति दन्तस्य दत् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सरस्वत्या स्नपितया इव शुद्धवर्णया अभूयत ।

तात्पर्यार्थः—स्मितपूर्वाभिभाषी श्रीकृष्णो यां वाणीं जगाद; दन्तकान्तिभि-र्वा वाणी सभागृहं प्रकाशितमकरोत् ।

भाषा—कुन्दपुष्प की कली के अग्रभाग के सदृश दन्त वाले श्रीकृष्णजी की

वाणी अन्तःसभा को प्रकाशित करने वाले ईषद्धास्योंसे प्रक्षालित की तरह शुद्ध वर्ण वाली हुई ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णवचनस्योद्धवादिवचनावसरप्रदायकत्वं वर्णयति--

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः ।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥ ८ ॥

अन्वयः---भवद्गिराम् अवसरप्रदानाय नः वचांसि । पूर्वरङ्गः नाटकीयस्य वस्तुनः प्रसङ्गाय भवति :

सुधा---भवद्गिरां=युष्मद्वचनानाम् । अवसरप्रदानाय=अवकाशवितरणाय । नः=अस्माकम् । वचांसि=वचनानि । तथाहि [1]पूर्वरङ्गः=विघ्ननिवारककुशीलवकर्तृकमङ्गलम् । नाटकीयस्य=अभिनेयस्य । वस्तुनः=कार्यस्य । प्रसङ्गाय=प्रवृत्तये भवति ॥ ८ ॥

कोशः---'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इत्यमरः ।

समासादिः---भवद्गिराम्---भवतो गिरस्तासाम् । अवसरप्रदानाय---अवसरस्य यत्प्रदानं तस्मै । पूर्वरङ्गः---पूर्वं रज्यते अस्मिन्निति । नाटकीयस्य---नाटकं भवतीति तस्य ।

व्याकरणम्---नाटकीयस्य---नाटक+छः+ईयादेशः । प्रदानाय-प्रदा+भावे ल्युट् । पूर्वरङ्गः---रज्यत्यस्मिन्निति विग्रहे भावकरणरूपार्थाभावात् 'घञि च भावकरणयोः' इति सूत्रेण नलोपाभावः ।

वाच्यपरिवर्तनम्---नः वचोभिः पूर्वरङ्गेण भूयते ।

तात्पर्यार्थः---अहमत्र कथयामि यत्, स सिद्धान्तो न, किन्तु मद्वचनाकर्णनानन्तरं भवतोः को विचारो जायते तज्ज्ञानार्थमेव ।

भाषा---हमारा वचन आप लोगों को बोलने का अवसर देने के लिये ही है । पूर्वरङ्ग नाटक के उपक्रम के लिये ही होता है ॥ ८ ॥

श्रीकृष्णवचनमेव दर्शयति--

करदीकृतभूपालो भ्रातृभिर्जित्वरैर्दिशाम् ।
विनाऽप्यस्मदलं भूष्णुरिज्यायै तपसः सुतः ॥ ९ ॥

---

१. यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये । कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ इति साहित्यदर्पणवचनादिति भावः ।

अन्वयः—दिशां जित्वरैः भ्रातृभिः करदीकृतभूपालः तपसः सुतः अस्मद्विना अपि इज्यायै अलं भूष्णुः ।

सुधा—दिशाम्=आशानाम् । जित्वरैः=जयनशीलैः । भ्रातृभिः=भीमादिभिः । करदीकृतभूपालः=भागधेयदीकृतमहीपः । तपसः=धर्मस्य । सुतः = पुत्रः, युधिष्ठिर इति यावत् । अस्मद्विना = अस्मानन्तरेणापि । इज्यायै = यागाय । अलम् = पर्याप्तो । भूष्णुः = भविता ॥ ९ ॥

कोशः—'दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः', 'भागधेयः करो बलिः' इत्यमरः । 'तपश्चान्द्रायणादौ स्याद्धर्मे लोकान्तरेऽपि च' इति विश्वः ।

समासादिः—करदीकृतभूपालः—करम् ददतीति करदाः' अकरदाः करदाः सम्पद्यमानाः कृताः करदीकृताः, तथाभूताः भूपालाः यस्य सः ।

व्याकरणम्—जित्वरैः—जि + ताच्छील्ये क्वरप् । करदीकृत—करद च्विः + क्तः । भूष्णुः—भू + ग्स्नुः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—·········भूपालेन तपसः सुतेन भूष्णुना भविष्यते ।

तात्पर्यार्थः—यद्यहम् यागे न गमिष्यामि तदाऽपि युधिष्ठिरयज्ञः समाप्त एव भवेत् ।

भाषा—दिशाओं को जीतने वाले भीमादिक भाइयों द्वारा राजाओं से कर लेने वाले युधिष्ठिर राजा हम लोगों के बिना भी यज्ञ करने के लिये समर्थ होंगे ॥

शिशुपालस्य रोगदृष्टान्तेन तद्वधे आवश्यकत्वं दर्शयति—

उत्तिष्ठमानस्तु परो नोपेक्ष्यः पथ्यमिच्छता ।
समौ हि शिष्टैराम्नातौ वर्त्स्यन्तावामयः स च ॥ १० ॥

अन्वयः—उत्तिष्ठमानः परस्तु पथ्यम् इच्छता नोपेक्ष्यः । हि वर्त्स्यन्तौ आमयः सः च शिष्टैः समौ आम्नातौ ।

सुधा—उत्तिष्ठमानः=उदीयमानः । परः = रिपुस्तु । पथ्यम् = हितम् । इच्छता = वाञ्छता जनेन । नोपेक्ष्यः = नोपेक्षणीयः । हि = यतः वर्त्स्यन्तौ = वृद्धिं प्राप्स्यन्तौ । आमयः = रोगः । स च=रिपुश्च । शिष्टैः = नीतिज्ञमान्यजनैः । समौ = तुल्यौ । आम्नातौ = कथितौ ॥ १० ॥

कोशः—'इच्छा वाञ्छा', 'रोगव्याधिगदामयाः' इति चामरः ।

समासादिः—पथ्यम् = पथः अनपेतमिति ।

व्याकरणम्—उत्तिष्ठमानः—उत् स्था + कर्तरि शानच् । पथ्यम्—पथिन् + यत् 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' इति । उपेक्ष्यः—उप ईक्ष् + योग्यार्थे यत् । आम्नातौ—आ म्ना + क्त । वर्त्स्यन्तौ = वृध् + लृटः स्थाने शतृ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—पथ्यम् इच्छन् उत्तिष्ठमानं परं नोपेक्षेत । आमयं तं च शिष्टाः समौ आम्नातवन्तः ।

तात्पर्यार्थः—यज्ञान्ते जैत्रयात्रायां कृतायां सत्यामुभयमपि कार्यं सेत्स्यतीति न मन्तव्यम् । वर्धमानश्चैद्यो रोग इव असाध्यो भवेत् । यतः शिष्टा एधिष्यमाणं रोगं शत्रुं च समानौ मन्यन्ते ।

भाषा—हित चाहने वाला पुरुष बढ़ने वाले शत्रु की उपेक्षा न करे, क्योंकि शिष्टों ने बढ़ने वाले रोग को और शत्रु को समान माना है ॥ १० ॥

आत्मनि चैद्यकृततिरस्कारस्य सह्यत्वं तत्कृतलोकपीडायाश्चासह्यत्वं दर्शयति—

न दूये सात्वतीसूनुर्यन्मह्यमपराध्यति ।
यत्तु दन्दह्यते लोकमदो दुःखाकरोति माम् ॥ ११ ॥

अन्वयः—सात्वतीसूनुः मह्यम् अपराध्यति यत् न दूये । तु लोकं दन्दह्यते यत् अदः मां दुःखाकरोति ।

सुधा—सात्वतीसूनुः = सात्वत्याः = हरिपितृष्वसुः । सूनुः = पुत्रः शिशुपालः । मह्यम् = माम् । अपराध्यति = द्वेष्टि । यत् = तत् । न दूये = नाहम् परितप्ये । तु = किन्तु । लोकम् = भुवनम् । दन्दह्यते = अतिशयेन दहति । यत् अदः = लोकदहनम् । मां दुःखाकरोति = दुःखितं करोति ॥ ११ ॥

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने', 'पीडा बाधा व्यथा दुःखम्', 'आत्मजस्तनयः सूनुः सुतः पुत्रः' इति चामरः ।

समासादिः—सात्वतीसूनुः—सात्वत्याः, सूनुरिति ।

व्याकरणम्—मह्यम्—'क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः' इत्यनेन सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी । दन्दह्यते—दह + यङ् लट् त । अपराध्यति—अपराध + लट् तिप् दिवादित्वेन श्यन् । दूये—दू + लट् इट् । दुःखाकरोति—दुःख + डाच् कृ + लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सात्वतीसूनुना अपराध्यते अतः न दूयते । लोकः दन्दह्यते अमुनाऽहं दुःखाक्रिये ।

तात्पर्यार्थः—शिशुपालो मम द्रोह करोति अस्मात् मम विषादो न, परन्तु अयं लोकमतिशयेन पीडयति एतेनाहं दुःखितोऽस्मि ।

भाषा—शिशुपाल हमसे द्रोह करता है इससे मुझे कुछ दुःख नहीं पर उसका लोगों को जो यह अत्यन्त पीडित करना है वही मुझे दुःखित करता है ॥ ११ ॥

स्वमतं दर्शयन् परमतशुश्रूषां दर्शयति—

मम तावन्मतमिदं श्रूयतामङ्ग ! वामपि ।
ज्ञातसारोऽपि खल्वेकः सन्दिग्धे कार्यवस्तुनि ॥ १२ ॥

अन्वयः—तावत् मम इदं मतम् । अङ्ग ! वामपि श्रूयताम् । ज्ञातसारः अपि एकः कार्यवस्तुनि सन्दिग्धे खलु ।

सुधा—तावत्=युष्मन्मतश्रवणपर्यन्तम् । मम=मे । इदम्=एतत् । मतम् अभिलाषः । अङ्ग=भोः ! वाम्=युवयोः । अपि मया । श्रूयताम्=आकर्ण्यताम् । ज्ञातसारः=अवधारिततत्त्वार्थः अपि । एकः=एकाकी । कार्यवस्तुनि=कर्तव्यार्थे । सन्दिग्धे=संशेते । खलु=प्रसिद्धम् ॥ १२ ॥

कोशः—'पाऽङ्गहेहेभोः' इत्यमरः ।

समा०—ज्ञातसारः-ज्ञातः सारो येन सः । कार्यवस्तुनि—कार्यं यद्वस्तु तस्मिन् ।

व्याकरणम्—श्रूयताम्—श्रु+लोट् त । सन्दिग्धे—संदिह+लट् तं ।

वाच्यपरिवर्तनम्—मतेन अनेन भूयते । वामपि शृणवानि ज्ञातासारेणापि एकेन सन्दिह्यते ।

तात्पर्यार्थः—पूर्वोक्तं मम मतं युष्मन्मतश्रवणाय न निर्णयाय । तस्मात् युवयोरपि मतं मया अवश्यं श्रोतव्यम् ।

भाषा—आप दोनों के मत सुनने तक ही यह मेरा मत है, इसलिये आप दोनों का मत सुनना आवश्यक है, क्योंकि ज्ञाततत्त्व भी अकेला मनुष्य कर्तव्य कार्य में संदेहयुक्त होता है ॥ १२ ॥

अर्थान्तरन्यासेन श्रीकृष्णमौनं दर्शयति—

यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः ।
विरराम महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥ १३ ॥

अन्वयः—माधवः यावदर्थपदां वाचम् एवम् आदाय विरराम । महीयांसः

प्रकृत्या मितभाषिणः भवन्ति ।

सुधा—माधवः=लक्ष्मीपतिः श्रीकृष्ण इत्यर्थः । यावदर्थपदाम्=अभिधेयसम्मिताक्षरां । वाचं=वाणीम् । एवं=पूर्वोक्तप्रकारेण । आदाय=गृहीत्वा, उक्त्वेत्यर्थः । विरराम=तूष्णीं बभूव । महीयांसः=पूज्यतमाः । प्रकृत्या=स्वभावेन । मितभाषिणः=स्वल्पवचनाः । भवन्ति ॥ १३ ॥

कोशः—'विष्णुर्नारायणः कृष्णो वैकुण्ठो विष्टरश्रवाः । दामोदरो हृषीकेशः केशवो माधवः स्वभूः' । 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इति चामरः ।

समासादिः—माधवः—मायाः धवः इति । यावदर्थपदाम्—यावान् अर्थः यावदर्थम्, तत् पदानि यस्यां ताम् । महीयांसः—अतिशयेन महान्तः इति । मितभाषिणः—मितं भाषितुं शीलं येषां ते । अत्र अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । 'उक्तिरर्थान्तरन्यासः स्यात्सामान्यविशेषयोः' इति लक्षणात् ।

व्याकरणम्—आदाय—आ दा+ल्यप् । विरराम—वि रम्+लिट् णल् 'व्याङ्परिभ्यो रमः' इति परस्मैपदम् । महीयांसः—महत्+ईयसुन् । मित-भाषिणः—मित भाष+ताच्छील्ये णिनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—माधवेन विरेमे । महीयोभिः मितभाषिभिः भूयते ।

तात्पर्यार्थः—इत्थं श्रीहरिः अल्पाक्षरैः निजमतं प्रदर्श्य मौनी बभूव । महताम् ईदृशी एव भाषणप्रणाली भवति, यत् ते वृथा बहु न जल्पन्ति ।

भाषा—श्रीकृष्णजी इस तरह अर्थतुल्य वचनों को बोल कर चुप हो गये; क्योंकि बड़े लोग स्वभावतः परिमित बोलने वाले होते हैं ॥ १३ ॥

अष्टभिः श्लोकैः बलरामं संस्तुवन् तद्वाक्यमवतारयति—

ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा ।
ओष्ठेन रामो रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ॥ १४ ॥

अन्वयः—ततः सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना ओष्ठेन (उपलक्षितः) रामः (जगाद) ।

सुधा—ततः=श्रीकृष्णवचनानन्तरम् । सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा=चैद्यशत्रुतिरस्कारस्मरणजन्यपश्चात्तापेन स्फुरता । रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना=रेवतीवदनचुम्बनप्रसिद्धेन । ओष्ठेन=रदनच्छदेन । (उपलक्षितः) रामः=रेवतीरमणः (जगाद=व्याजहार) ॥ १४ ॥

कोशः—'सपत्नारिद्विषद्', 'ओष्ठाधरौ तु रदनच्छदौ दशनवाससी', 'सुन्दरी रमणी रामा', 'रेवतीरमणो रामः कामपालो हलायुधः' इति चामरः !

समासादिः—सपत्नापनयस्मरणानुशयस्फुरा—सपत्नस्य येऽपनयाः तेषां स्मरणेन यः अनुशयः तेन स्फुरतीति तेन। रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना—रामायाः ओष्ठौ बिम्बे इव तयोः यच्चुम्बनं तेन प्रसिद्धस्तेन।

व्याकरणम्—स्फुरा-स्फुर्+क्विप्। रामोष्ठबिम्बचुम्बनचुञ्चुना—रामोष्ठबिम्बचुम्बन-चुञ्चुप् 'तेनवित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' इति। चुम्बनचुञ्चुना इत्यत्र 'इत्थम्भूतलक्षणे' तृतीया। जगाद=गद+लिट् णल्।

वाच्यपरिवर्तनम्—रामेण (जगदे)।

तात्पर्यार्थः—ततः शिशुपालापकारं स्मृत्वा कोपजन्यस्फुरणवता बिम्बफलसदृशेन रेवतीमुखचुम्बनप्रसिद्धेन ओष्ठेन उपलक्षितः रामः (जगाद)।

भाषा—उसके बाद शिशुपालकृत अपकारों के स्मरण से क्रोध होने के कारण स्फुरित होने वाले, बिम्बफल सदृश रेवतीके ओष्ठचुम्बन से प्रसिद्ध ऐसे ओष्ठोंसे शोभायमान बलभद्रजी बोले ॥ १४ ॥

रामस्योद्धवचने उत्तरपक्षत्वप्रापकत्वं दर्शयति—

विवक्षितामर्थविदस्तत्क्षणप्रतिसंहृताम्।
प्रापयन्पवनव्याधेर्गिरमुत्तरपक्षताम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—विवक्षितां तत्क्षणप्रतिसंहृताम् अर्थविदः पवनव्याधेः गिरम् उत्तरपक्षतां प्रापयन् (जगाद)।

सुधा—विवक्षिताम्=वृद्धत्वाभिमानेन प्रथमम् वक्तुमिष्टाम्। तत्क्षणप्रतिसंहृताम्=विवक्षाकाले रामानुसरणानुरुद्धाम्। अर्थविदः=कार्यज्ञस्य। पवनव्याधेः=वायुरोगवतः, उद्धवस्येत्यर्थः। गिरम्=वाचम्। उत्तरपक्षताम्=सिद्धान्तत्वम्। प्रापयन्=लम्भयन्। जगाद ॥ १५ ॥

कोशः—'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु', 'रोगव्याधिगदामयाः' इति चामरः।

समासादिः—तत्क्षणप्रतिसंहृताम्—स एव क्षणः तत्क्षणः तस्मिन् या प्रतिसंहृता ताम्। अर्थविदः—अर्थं वेत्तीति तस्य। पवनव्याधेः—पवनेन व्याधिर्यस्य तस्य। उत्तरपक्षताम्—उत्तरः यः पक्षः तस्य भावस्तत्ता ताम्।

व्याकरणम्—विवक्षिताम्—वि वच+सन् ततः कर्मणि क्तः । प्रापयन्—प्र आप्+णिच शतृ नुम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—प्रापयता रामेण जगदे ।

तात्पर्यार्थः—विवक्षोरुद्धवस्य वचनमुत्तरं कुर्वन् रामः प्रथमं जगाद ।

भाषा—कहने के लिये इष्ट परन्तु उसी क्षण बलभद्र के अनुसरण से प्रतिसंहृत, कार्यका जानने वाले उद्धव के वचन को उत्तरपक्ष बनाते हुए ॥ १५ ॥

रामस्य मदिरास्वादजन्यरक्तिमयुक्तलोचनवत्त्वं वर्णयति—

घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युती ।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ ॥ १६ ॥

अन्वयः—मदिरास्वादमदपाटलितद्युती रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ घूर्णयन् जगाद ।

सुधा—मदिरास्वादमदपाटलितद्यूती=मद्यपानजन्यमदरक्तीकृतकान्ती । रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे=रामामुखोच्छिष्टपवित्रपुटे । दृशौ=लोचने । घूर्णयन्=भ्रामयन् । जगाद=उवाच ॥ १६ ॥

कोशः—'श्वेतरक्तस्तु पाटलः', 'शोभा कान्तिर्द्युतिश्छविः', 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्', 'लोचनं नयनं नेत्रम्' इति चामरः ।

समासादिः—मदिरास्वादपाटलितद्युती—मदिरायाः यः स्वादः तेन पाटलिता द्युतिर्ययोस्ते (त० पु० बहु०) । रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे—रेवत्याः यद्वदनं तस्मिन् यदुच्छिष्टं तेन परिपूते पुटे ययोस्ते ।

व्याकरणम्—घूर्णयन्—घूर्ण+णिच् कर्तरि शतृ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—घूर्णयता ।

तात्पर्यार्थः—मदिरास्वादोन्मत्तो रामो नयने घूर्णयन् जगाद ।

भाषा—मदिरास्वादजन्य मद से लाल हुई है कान्ति जिनकी ऐसे तथा रेवती के वदनोच्छिष्ट से पवित्र है पुट जिनके ऐसे नेत्रों को इधर उधर घुमाते हुए ॥ १६ ॥

रामस्याभिमानोष्णमुखानिलैर्म्लानवनमालत्वं दर्शयति—

आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम् ।
म्लापयन्नभिमानोष्णैर्वनमालां मुखानिलैः ॥ १७ ॥

अन्वयः—आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीं वनमालाम् अभिमानोष्णैः मुखानिलैः म्लापयन् (जगाद) ।

सुधा—आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम्=आलिङ्गनलुब्धस्त्रीकुचकाठिन्योपद्रष्ट्रीं । वनमालाम् = आपादलम्बिनीं मालाम् । अभिमानोष्णैः=अहङ्कृतिपरितप्तैः । मुखानिलैः=मुखमारुतैः । म्लापयन् = म्लानतां प्रापयन् । (जगाद) ॥

कोशः—'लुब्धोऽभिलाषुकस्तृष्णक् समौ लोलुपलोलुभौ', 'वधूर्जाया स्नुषा स्त्री च', 'स्तनौ कुचौ', 'पृषदश्वो गन्धवहो गन्धवाहानिलाशुगाः', 'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः' इति चामरः ।

समासादिः—आश्लेषलोलुपवधूस्तनकार्कश्यसाक्षिणीम्—आश्लेषे लोलुपायाः वध्वाः स्तनयोः यत्कार्कश्यं तस्य या साक्षिणी ताम् । अभिमानोष्णैः—अभिमानेन ये उष्णाः तैः । मुखानिलैः—मुखस्य येऽनिलास्तैः ।

व्याकरणम्—कार्कश्यसाक्षिणीम्—कर्कश + ष्यञ् ब्राह्मणादित्वात् । साक्षी-'साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम' इति-निपातितसाक्षिशब्दात् स्त्रियां ङीप् । म्लापयन्—म्लै + णिच् कर्तरि शतृ पुक् नुम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—म्लापयता ।

तात्पर्यार्थः—रतौ आलिङ्गनसमये कुचकाठिन्यानुभवकर्त्रीं वनमालां क्रोधोष्णमुखमारुतेन म्लानां कुर्वन् जगाद ।

भाषा—आलिङ्गन में क्षुब्ध प्रिया के स्तनकाठिन्य को अनुभव करनेवाली वनमाला को अहङ्कार से सन्तप्त निःश्वासवायु से मलिन करते हुए ॥ १७ ॥

बलरामस्य शिशुपालद्वेषजन्यरक्ताङ्गगतस्वेदबिन्दुयुक्तत्वं दर्शयति—

दधत्सन्ध्याऽरुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः ।
द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः ॥ १८ ॥

अन्वयः—सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः स्वेदविप्रुषः दधत् (जगाद) ।

सुधा—सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः = सायङ्कालीनरक्ताकाशस्फुरन्नक्षत्रसदृशीः । द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः = सक्रोधरक्तावयवविद्यमानाः । स्वेदविप्रुषः = निदाघजलबिन्दून् । दधत् = धारयन् ॥ १८ ॥

कोशः—'सायं सन्ध्या पितृप्रसूः', 'अरुणो भास्करेऽपि स्यात्', 'व्योम पुष्क-

रमम्बरम्', 'नक्षत्रमृक्षं मं तारा तारकाऽप्युडु वा स्त्रियाम्', 'द्विषद्द्वेषणदुर्हृदः', 'पृषन्ति विन्दुपृषताः पुमांसो विप्रुषः स्त्रियाम्' इति चामरः ।

समासादिः—सन्ध्यारुणव्योमस्फुरत्तारानुकारिणीः—सन्ध्यायाम् अरुणे व्योम्नि स्फुरन्त्यः याः ताराः ताः अनुकुर्वन्तीति ताः । द्विषद्द्वेषोपरक्ताङ्गसङ्गिनीः—द्विषदि द्वेषेण उपरक्ते अङ्गे सङ्गिनीः ।' स्वेदविप्रुषः—स्वेदस्य याः विप्रुषः ताः ।

व्याकरणम्—तारानुकारिणीः—तारा—अनु कृ+णिनि । ङीप् । अङ्गसङ्गिनीः—अङ्गसङ्ग+णिनिः ङीप् । दधत्—धा+कर्तरि शतृ, 'जक्षिदि'त्यादित्वेनाभ्यस्तत्वान्नुमभावः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—दधता ।

तात्पर्यार्थः—क्रोधरक्ते शरीरे सायङ्कालरक्ताकाशे नक्षत्राणीव घर्मबिन्दून् धारयन् जगाद ।

भाषा—सायङ्कालीन लाल आकाश में चमकने वाली ताराओं का अनुकरण करने वाले, शत्रु के ऊपर क्रोध होने से उपरक्त हुए अङ्गों पर विद्यमान स्वेदबिन्दुओं को धारण करते हुए ।। १८ ।।

कुण्डलस्यपद्मरागमणिकान्तिसंवलितकृष्णोत्तरासङ्गस्य चूतपल्लवसाम्यं दर्शयति—

प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा ।
कृष्णोत्तरासङ्गरुचं विदधच्चौतपल्लवीम् ।। १९ ।।

अन्वयः—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा कृष्णोत्तरासङ्गरुचं चौतपल्लवीं विदधत् ।

सुधा—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा=देदीप्यमानकुण्डलस्यूतमाणिक्यभङ्गकान्त्या । कृष्णोत्तरासङ्गरुचम्=नीलोत्तरीयकान्ति । चौतपल्लवीम्=आम्रपल्लववद्धूम्राम् । विदधत्=कुर्वन् । जगाद ।। १९ ।।

कोशः—'कुण्डलं कर्णवेष्टनम्', 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः', 'कृष्णे नीलासितश्यामकालश्यामलमेचकाः', 'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' 'आम्रश्चूतो रसालोऽसौ' इति चामरः ।

समासादिः—प्रोल्लसत्कुण्डलप्रोतपद्मरागदलत्विषा—कुण्डलयोः प्रोतानि तानि पद्मरागस्य दलानि तेषां या त्विट् तथा । कृष्णोत्तरासङ्गरुचम्—कृष्णः यः उत्तरासङ्गः तस्य या रुक् ताम् । चौतपल्लवीम्—चूतपल्लवस्येयं चौतपल्लवी ताम् ।

व्याकरणम्--चौतपल्लवीम्-चूतपल्लव + अण् ङीप् । विदधत्-विं धा + शतृ ।

वाच्यपरि०--विदधता ।

तात्पर्यार्थः--बलभद्रस्य प्रावारः कुण्डलप्रोतपद्मरागदलकान्त्या संचलितः सन् चूतपल्लवसदृशो जातः ।

भाषा—चमकने वाली तथा कुण्डलोंमें जड़ित पद्मरागके टुकड़ों की कान्तिसे काले उपवस्त्र की कान्तिको आम्रपल्लव की कान्ति के सदृश बनाते हुए ॥१९॥

बलभद्रस्य रेवतीमुखामोदलब्धसंस्कारमदिरास्वादकर्तृत्वं दर्शयति—

ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया ।
मुखामोदं मदिरया कृतानुव्याधमुद्वमन् ॥ २० ॥

अन्वयः—ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया मदिरया कृतानुव्याधं मुखामोदम् उद्वमन् जगाद ।

सुधा--ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया = रेवतीमुखान्तःस्थितया प्राप्तसौरभया । मदिरया = सुरया । कृतानुव्याधम् = विहितसंसर्गम् । मुखमोदम् निजमुखसौरभम् । उद्वमन् = उद्गिरन् । जगाद ॥ २० ॥

कोशः--'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्', 'संस्कारो गन्धमाल्याद्यैर्यः स्यात्तदधिवासनम्' 'आमोदः सोऽतिनिर्हारी' इति चामरः ।

समासादिः--ककुद्मिकन्यावक्त्रान्तर्वासलब्धाधिवासया—ककुद्मिनः या कन्या तस्याः वक्त्रान्तः वासेन लब्धः अधिवासः यया तया । मुखामोदम् = मुखस्य आमोदः तम् । कृतानुव्याधम्--कृतः अनुव्याधः तम् ।

व्याकरणम्—उद्वमन् – उद् वम + कर्तरि शतृ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—उद्वमता ।

तात्पर्यार्थः—कथनावसरे राममुखात् प्राक्पीतरेवतीमुखमदिरायाः सुगन्धो निःससार ।

भाषा—रेवतीके मुखके भीतर स्थिति होनेके कारण प्राप्त किया है सौरभको जिसने ऐसी मदिरासे किया है संसर्ग जिसने ऐसे मुखगन्धको निकालते हुए ॥२०॥

वदनकमलभ्रमेणागतभ्रमराणां दशनकान्तिभिः शुक्लत्वं दर्शयति —

जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन्मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥ २१ ॥

अन्वयः—वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः मधुलिहः उदग्रदशनांशुभिः श्वैत्यं नयन् जगाद ॥ २१ ॥

सुधा—वदनच्छद्मपर्यन्तपातिनः = मुखकमलप्रान्तसञ्चारिणः । मधुलिहः = भ्रमरान् । उदग्रदशनांशुभिः = उन्नतदन्तकिरणैः । श्वैत्यं = शुक्लत्वं । नयन् = लम्भयन् । जगाद ।

कोशः—'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्', 'मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः', 'रदना दशना दन्ताः', 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्तिघृणिरश्मयः' 'शुक्लशुभ्रशुचिश्वेतविशदश्वेतपाण्डराः' इति चामरः ।

समासादिः—वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः=वदनं छद्म यस्य तत् वदनच्छद्मम्, तत् तत्पद्मं च तस्य पर्यन्ते पतन्तीति तान् । मधुलिहः = मधु लिहन्तीति मधुलिहस्तान् । उदग्रदशनांशुभिः उदग्राः ये दशनानाम् अंशवः तैः ।

व्याकरणम्—श्वैत्यम्—श्वेत + गुणवचनत्वात् ष्यञ् । पर्यन्तपातिनः—पर्यन्त पत् + णिनिः । नयन्—नी + कर्तरि शतृ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—नयता जगदे ।

तात्पर्यार्थः—मदिरागन्धेन कमलभ्रान्त्या तन्मुखपर्यन्तभ्रमणशीलाः भ्रमराः भाषणसमये दन्तकान्त्या शुक्ला जाताः ।

भाषा—मुखकमल के आसपास घूमने वाले भ्रमरों को दाँतों की उत्पन्न कान्तियों से शुभ्र बनाते हुए बलरामजी बोले ॥ २१ ॥

रामवचनस्वरूपमाह—

यद्वासुदेवेनादीनमनादीनवमीरितम् ।
वचसस्तस्य सपदि क्रिया केवलमुत्तरम् ॥ २२ ॥

अन्वयः—वासुदेवेन अदीनम् अनादीनवम् यत् ईरितं तस्य वचसः सपदि क्रिया केवलम् उत्तरम् ।

सुधा—वासुदेवेन = कृष्णेन । अदीनम्=अकातरम् । अनादीनवम्=दोषरहितम् । यद्=उत्तिष्ठमान इत्यादि वचः । ईरितम्=उक्तं । तस्य वचसः=पूर्वोक्तवाक्यस्य । सपदि=तत्क्षणे । क्रिया=अनुष्ठानमेव । केवलम् उत्तरम्=समाधानम् ॥

कोशः—'दोष आदीनवो मतः', 'सद्यः सपदि तत्क्षणे' 'प्रतिवाक्योत्तरे समे' इत्यमरः ।

समासादिः—अदीनम्—न दीनमिति । अनादीनवम्=न विद्यते आदीनवो यस्मिन् तत् ।

व्याकरणम्—वासुदेवेन—वसुदेव+अण् । अदीनम्—नञ् दी+क्तः । ईरितम्—ई+णिच् क्तः । उत्तरम्—उद् तॄ+अप् ।

वाच्यपरि०—वासुदेवः ईरितवान् तस्य क्रियया केवलेन उत्तरेण भूयते ।

तात्पर्यार्थः—कृष्णवचनमोजोयुक्तं दोषरहितं चास्ति, अतः तस्याविचारितेन शीघ्रमेव अनुष्ठानम् उत्तरम् ।

भाषा—श्रीकृष्ण ने ओजोयुक्त दोषरहित जो वचन कहा, उसका उत्तर शीघ्र क्रिया करना ही है ॥ २२ ॥

कृष्णवचनस्यानुल्लङ्घनीयत्वं दृष्टान्तेन समर्थयते—

नैतल्लघ्वपि भूयस्या वचो वाचाऽतिशय्यते ।
इन्धनौघधगप्यग्निस्त्विषा नात्येति पूषणम् ॥ २३ ॥

अन्वयः—लघु अपि एतद्वचः भूयस्या वाचा न अतिशय्यते । इन्धनौघधक् अपि अग्निः त्विषा पूषणं न अत्येति ।

सुधा—लघु=स्वल्पमपि । एतद्वचः=इदं वाक्यम् । भूयस्या=अधिकतरया । वाचा=वाण्या । न अतिशय्यते=नातिक्रम्यते । तथाहि—इन्धनौघधक्=दारुराशिदाहकः अपि । अग्निः=वह्निः । त्विषा=तेजसा । पूषणं=सूर्यं । न अत्येति=न अतिक्रामति ॥ २३ ॥

कोशः—'भाषितं वचनं वचः' 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' 'काष्ठं दार्विन्धनं त्वेधइध्ममेधः समित् स्त्रियाम्' 'अग्निर्वैश्वानरो वह्निर्वीतिहोत्रो धनञ्जयः' 'मिहिरारुणपूषणः' इति चामरः ।

समासादिः—इन्धनौघधक्—इन्धनानाम् यः ओघः तं दहतीति सः ।

व्याकरणम्—ओघधक्—ओघ दह+क्विप् । अतिशय्यते—अति शीङ्+कर्मणि लट् यक् त । अत्येति—अति इ+लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—भूयसी वाक् न अतिशेते । इन्धनौघदहा अग्निना पूषा न अतीयते ।

तात्पर्यार्थः—स्वल्पमपि श्रीकृष्णवचनं सारगर्भत्वात् प्रचुरतयाऽपि वाचा विजितं न भवति ।

भाषा—सङ्क्षिप्त भी श्रीकृष्ण का वचन अन्य विस्तृत वचन से नहीं जीता जा सकता, क्योंकि लकड़ी के समूहों को जलाने वाला भी अग्नि अपने तेज से सूर्य को नहीं जीत सकता ॥ २३ ॥

सङ्क्षिप्तश्रीकृष्णवचनस्य सूत्रभूतत्वात् बलरामवचनस्य भाष्यरूपत्वं दर्शयति—

संक्षिप्तस्याप्यतोऽस्यैव वाक्यस्यार्थगरीयसः ।
सुविस्तरतरा वाचो भाष्यभूता भवन्तु मे ॥ २४ ॥

अन्वयः—अतः सुविस्तरतराः मे वाचः सङ्क्षिप्तस्य अपि अर्थगरीयसः अस्यैव वाक्यस्य भाष्यभूताः भवन्तु ।

सुधा—अतः=अस्मात्कारणात् । सुविस्तरतराः=सुष्ठु अत्यन्तप्रचुराः । मे=मम । वाचः=वचनानि । सङ्क्षिप्तस्य=स्वल्पाक्षरस्य अपि । अर्थगरीयसः=गुरुतरार्थवतः, [1]सूत्रसदृशस्येत्यर्थः । अस्य वाक्यस्य एव भाष्यभूताः=भाष्यसदृशाः । भवन्तु=जायन्ताम् ॥ २४ ॥

कोशः—'विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः' 'भाषितं वचनं वचः' इति चामरः । 'जन्तौ भूतं क्लीबं समेऽतीते चिरे त्रिषु' इति वैजयन्ती ।

समासादिः—सुविस्तरतराः=सुष्ठु विस्तरः यासां ताः सुविस्तराः, अतिशयिताश्च ताश्चेति । अर्थगरीयसः=अतिशयेन गुरुः गरीयः । अर्थेन गरीयः, तस्य । भाष्यभूताः=भाष्येण तुल्याः इति नित्यसमासः ।

व्याकरणम्-संक्षिप्तस्य—सम् क्षिप्+क्त । सुविस्तरतराः—सु वि स्तृ+अप्, ततः अतिशायने तरप् । अर्थगरीयसः—अर्थगुरु+ईयसुन् गुरोर्गरादेशः । भवन्तु भू+लोट्+झि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—मे वाग्भिः भाष्यभूताभिः भूयताम् ।

तात्पर्यार्थः—हरिवचनस्य संक्षिप्तत्वेनार्थगुरुत्वेन च सर्वेषां यथावत् ज्ञातुम् अशक्यत्वान्मद्वचनं भाष्यरूपेण जायताम् ।

भाषा—इसलिये अत्यन्त विस्तृत हमारे वचन, संक्षिप्त होने पर भी अर्थगाम्भीर्य युक्त श्रीकृष्णजी के वाक्य के भाष्यतुल्य हों ॥ २४ ॥

---

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥ इति वचनादिति भावः ।

शिशुपालं प्रति यानं निश्चित्य तस्मिन् उद्धवप्रतिबन्धकत्वं मनसि निधाय त्रिभिः श्लोकैः प्रत्याख्यानं दर्शयति—

विरोधिवचसो मूकान्वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥ २५ ॥

अन्वयः—कृतिनां गिरः विरोधिवचसः वागीशानपि मूकान् कुर्वते, अनुलोमार्थान् जडानपि प्रवाचः कुर्वते ।

सुधा—कृतिनाम्=कुशलानाम् । गिरः=वाण्यः । विरोधिवचसः=अननुकूलभाषिणः । वागीशानपि=वाक्पतीनपि । मूकान्=वचनहीनान् । कुर्वते=विदधते । अनुलोमार्थान्=अनुकूलवादिनः । जडान्=मूर्खानपि । प्रवाचः=धृष्टवचनान् । कुर्वते ॥

कोशः—'कृती कुशल इत्यपि', 'गीर्वाग्वाणी', वागीशो वाक्पतिः समौ' इति ।

समासादिः—विरोधिवचसः—विरोधीनि वचांसि येषां तान् । वागीशान्—वाचामीशाः तान् । अनुलोमार्थान्—अनुलोमः अर्थः येषां तान् । प्रवाचः—प्रकृष्टा वाक् येषां तान् ।

व्याकरणम्—कृती—कृत + इनिः । कुर्वते—कृ + लट् झ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—गीर्भिः वागीशाः मूकाः जडाः प्रवाचः क्रियन्ते ।

तात्पर्यार्थः—निपुणगिरः विरोधिनः पण्डितानपि मूकान् कुर्वन्ति, मूर्खांश्च प्रगल्भान् कुर्वन्ति ।

भाषा—निपुण लोगों की वाणियां विरोधि वचन वाले बृहस्पतितुल्यों को भी मूक बना देती हैं, अनुकूल अर्थ वाले मूर्खों को भी वचनपटु बना देती हैं ॥२५॥

आत्महितेच्छुना स्वामिना बुद्धिफलरूपतयाऽऽग्रहो न कर्तव्य इति न्यायेन प्रतिकूलमपि शास्त्रविद्वचनं ग्राह्यमेव इति शङ्कामादायाह—

षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥ २६ ॥

अन्वयः—दुर्मेधसः अपि ग्रन्थान् अधीत्य गुणाः षट्, शक्तयः सिद्धयश्च तिस्रः, उदयाः त्रयः, इति व्याकर्तुम् अलम् ।

सुधा—दुर्मेधसः = मन्दबुद्धयः अपि । ग्रन्थान् = कामन्दकीयादिनीतिपुस्तकानि । अधीत्य=पठित्वा । गुणाः=सन्धिविग्रहादयः । षट्=षट्संख्याकाः, शक्तयः=

प्रभावोत्साहमन्त्रजन्याः । सिद्धयः=पूर्वोक्तशक्तित्रयलभ्याः प्रभावादयश्च । तिस्रः=त्रिसंख्याकाः । उदयाः=वृद्धिक्षयस्थानरूपाः । त्रयः=त्रिसङ्ख्यकाः । भवन्तीति व्याकर्तुम्=व्याख्यातुम् । अलम्=समर्थाः भवन्ति ॥ २६ ॥

कोशः—'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासन द्वैधमाश्रयः । षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः । क्षयः स्थान च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम्' 'अलम्भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इति चामरः ।

समासादिः—दुर्मेधसः—दुष्टा मेधा येषां ते ।

व्याकरणम्—दुर्मेधसः—दुर्मेधा + असिच 'नित्यमसिच्प्रजामेधयोः' इति । सिद्धयः—सिध् + क्तिन् । उदयाः=उत् इ + अच् । अधीत्य—अधि इ + क्त्वो ल्यप् । व्याकर्तुम्—वि आ कृ + तुमुन् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—दुर्मेधोभिः भूयते ।

तात्पर्यार्थः—मूर्खा अपि नीतिशास्त्राण्यधीत्य गुणाः षट्, शक्तयः सिद्धयश्च तिस्रः इत्यादि व्याख्यातुं समर्था एव, परन्तु ते पण्डिता न, ये किल यथातर्थं प्रयोगं जानन्ति ते एव पण्डिता इति भावः ।

भाषा—मूर्ख भी नीतिशास्त्रों को पढ़कर गुण ६ प्रकार के होते हैं, शक्तियां, सिद्धियां और उदय तीन प्रकार के होते हैं, यह बात कहने के लिए समर्थ होते हैं ॥ २६ ॥

ननु शास्त्रप्रतिपादितार्थस्याख्यानकर्तैव शास्त्रवित्, स एव ग्राह्यवचनश्च भवतीत्याशङ्क्य प्राह—

अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।
निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ॥ २७ ॥

अन्वयः—अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्मिनः वाग्जालं निमित्तात् अपराद्धेषोः धानुष्कस्य वल्गितम् इव वृथा ।

सुधा—अनिर्लोडितकार्यस्य=अविचारितकर्तव्यस्य । वाग्मिनः=प्रगल्भभाषिणः । वाग्जालम्=वचनसमूहः । निमित्तात्=लक्ष्यात् । अपराद्धेषो=च्युतशरस्य । धानुष्कस्य=धनुर्धरस्य । वल्गितम्=आत्मश्लाघा इव । वृथा=निष्फलम् ॥ २७ ॥

कोशः—'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' 'अपराद्धपृषत्कोऽसौ लक्ष्याद्यश्च्युतसायकः' इति ।

समासादिः—अनिर्लोडितकार्यस्य—न निर्लोडितम् कार्यं येन तस्य । वाग्जालम्—वाचां यज्जालम् तत् । अपराद्धेषोः—अपराद्धः इषुः यस्य तस्य । धानुष्कस्य-

धनुः प्रहरणम् यस्य तस्य ।

व्याकरणम्—वाग्मी—वाच् = ग्मिनिः । धानुष्कस्य = धनुः + ठक्, ठस्य 'इसुसुक्तान्तात्कः' इति कः । वल्गितम् वल्ग—क्त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—वाग्जालेन वल्गितेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—ये च प्रयोगे असमर्थाः किं कार्यम्, किमकार्यमिति यथार्थम् न जानन्ति तेषां शास्त्रव्याख्यानम्; लक्ष्यात् प्रभ्रष्टसायकस्य धन्विनः आत्मप्रशंसनमिव निष्फलम् ।

भाषा—कार्य का विचार न करनेवाले वाग्मी पुरुष का वाग्जाल लक्ष्य से च्युत वाण वाले धनुर्धारी की आत्मस्तुति की तरह निष्फल होता है ।। २७ ।।

गुणशक्त्यादीनां पाठ एव न मन्त्रः इति सम्प्रति सिद्धेः स्वरूपं दर्शयति—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्माऽन्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ।।२८।।

अन्वयः—सर्वकार्यशरीरेषु अङ्गस्कन्धपञ्चकम् मुक्त्वा सौगतानाम् आत्मा इव महीभृताम् अन्यः मन्त्रः न अस्ति ।

सुधा—सर्वकार्यशरीरेषु = शरीरेषु इव निखिलसन्ध्यादिकार्येषु । [1]अङ्ग-[2]स्कन्धपञ्चकम् = स्कन्धपञ्चकमिव अङ्गपञ्चकम् । मुक्त्वा = त्यक्त्वा । सौगतानाम् = शून्यवादिनाम् । आत्मा = क्षेत्रज्ञः । इव = यथा, महीभृताम् = राज्ञाम् । अन्यः = अङ्गपञ्चकातिरिक्तः । मन्त्रः = रहस्यकर्त्तव्यविचारः नास्ति ।। २८ ।।

कोशः—'शरीरं वर्ष्म विग्रहः', 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः', 'सौगतः शून्यवादिनि', क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इति चामरः ।

समासादिः—सर्वकार्यशरीरेषु—सर्वाणि च तानि कार्याणि तानि शरीराणी-

---

१. सहायाः साधनोपाया विभागो देशकालयोः । विपत्तेश्च प्रतीकारः सिद्धिः पञ्चाङ्गमिष्यते ।। इति कामन्दकीयवचनादिति भावः ।

२. रूपवेदनाविज्ञानसंज्ञासंस्काराः पञ्च स्कन्धाः । तत्र विषयप्रपञ्चो रूपस्कन्धः । तज्ज्ञानप्रपञ्चो वेदनास्कन्धः । आलयविज्ञानसन्तानो विज्ञानस्कन्धः । नामप्रपञ्चः संज्ञास्कन्धः । वासनाप्रपञ्चः संस्कारस्कन्धः । एवं पञ्चधा परिवर्तमानो ज्ञानसन्तान एवात्मा । एवं सौगतानां सिद्धान्तादिति भावः ।

वेति तेषु (कर्मधारयोपमितसमासौ) । अङ्गस्कन्धपञ्चकम्—पञ्च एव पञ्चकम्, अङ्गानि स्कन्धाः इवेति तेषां यत्पञ्चकं तत् । सौगतानाम्— सुगतः भक्तिर्येषां तेषाम् । महीभृताम्—महीं बिभ्रतीति तेषाम् ।

व्याकरणम्—सौगतानाम्—सुगत+'भक्तिः' इत्यनेन अण् । आत्मा—अत+मनिन । मन्त्रः—मत्रि+अच इदित्त्वात्नुम् । अस्ति-अस्+लट तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—आत्मना अन्येन मन्त्रेण न भूयते ।

तात्पर्यार्थः—यथा बौद्धमते शरीरेषु स्कन्धपञ्चकेभ्यः अन्यः आत्मा नास्ति तथैव राज्ञः अपि सन्धिविग्रहादिभ्यः अन्यः कश्चन् मन्त्रो न विद्यते ।

भाषा—जिस तरह शून्यवादियों के मत में स्कन्धपञ्चक को छोड़कर शरीरमें अन्य आत्मा नहीं है, उसी तरह सन्धि-विग्रहादि कार्यों में अङ्गपञ्चक से अतिरिक्त मन्त्र नहीं है ।। २८ ।।

शीघ्रकार्यविधानविलम्बे दोषमाह—

मन्त्रो योध इवाधीरः सर्वाङ्गैः संवृतैरपि ।
चिरं न सहते स्थातुं परेभ्यो भेदशङ्कया ।। २९ ।।

अन्वयः—संवृतैः अपि सर्वाङ्गैः (उपलक्षितः) मन्त्रः अधीरः योधः इव परेभ्यः भेदशङ्कया चिरं स्थातुं न सहते ।

सुधा—संवृतैः=संगुप्तैः । सर्वाङ्गैः=पूर्वोक्तैः । सहायादिभिः उपलक्षितः । मन्त्रः=रहस्यकार्यविचारः । अधीरः=कातरः । योधः=भटः इव । परेभ्यः=इतरेभ्यः । भेदशङ्कया=इतरज्ञानभेदशङ्कया । चिरं=बहुकालम् । स्थातुं=वर्तितुम् । न सहते=न मर्शति ।। २९ ।।

कोशः—'अङ्गं प्रतीकोऽवयवः', 'भटा योद्धाश्च योद्धारः' इति चामरः ।

समासादिः—सर्वाङ्गैः—सर्वाणि यानि अङ्गानि तैः । भेदशङ्कया—भेदस्य या शङ्का तया ।

व्याकरणम्—योधः—युध्+अच् । संवृतैः-सं वृ+क्तः । स्थातुम्—स्था+तुमुन । सहते—सह+लट् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—मन्त्रेण अधीरेण योधेन इव न सह्यते ।

तात्पर्यार्थः—कर्तव्यविचारो निश्चयसमये एव अनुष्ठेयः । अन्यथा सङ्ग्रामे अधीरभट इव भिद्यते ।

भाषा—सम्पूर्ण गुप्त अङ्गों से युक्त मन्त्र कातर योधा की तरह दूसरे से भेद की शङ्का होने के कारण बहुत देर तक ठहरने के लिये समर्थ नहीं होता ॥२९॥

निखिलनीतिविचारेण कर्तव्यकार्ये विलम्बो न कर्तव्य इति मनसि निधाय जगाद—

आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ ३० ॥

अन्वयः—आत्मोदयः परज्यानिः इति द्वयम् इयती नीतिः । तत् ऊरीकृत्य कृतिभिः वाचस्पत्यं प्रतायते ।

सुधा—आत्मोदयः=निजाभिवृद्धिः परज्यानिः=शत्रुहानिः इति द्वयम् इयती=एतावती । नीतिः=नयः । तत्=द्वयम् । ऊरीकृत्य=अङ्गीकृत्य । कृतिभिः=कुशलैः । वाचस्पत्यम्=गोष्पतित्वम् । प्रतायते=विस्तार्यते ॥३०॥

कोशः—'ऊरीकृतमुररीकृतमङ्गीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम्', 'कृती कुशल इत्यपि', 'जीव आङ्गिरसो वाचस्पतिः' इति चामरः ।

समासादिः—आत्मोदयः—आत्मनः उदयः सः । परज्यानिः—परस्य या ज्यानिः सा । वाचस्पत्यम्—वाचस्पतेः यो भावः तत् ।

व्याकरणम्—इयती—इदं+वतुप् 'किमिदंभ्यां वो घः' इति वस्य घः ङीप् । ऊरीकृत्य—ऊरी+कृ+क्त्वो ल्यप् । नीतिः—नी+क्तिन् । प्रतायते—प्रतन+लट् त, 'तनोतेर्यकि' इत्यनेन विकल्पेन आत्वम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—द्वयेन इयत्या नीत्या भूयते । कृतिनः प्रतन्वन्ति ।

तात्पर्यार्थः—आत्माभ्युदयः शत्रुहानिरिति द्वयमेव नीतिविषयः, तदाश्रित्यैव नीतिमर्मज्ञानां वाक्प्रपञ्चः ।

भाषा—अपना अभ्युदय और शत्रु की हानि यही दो इस नीति के विषय हैं । नीतिनिपुण लोग उसी को अङ्गीकार करके वाक्प्रपञ्च को फैलाते हैं ॥३०॥

समृद्धस्य परविनाशेन किं प्रयोजनमित्याशङ्क्याह

तृप्तियोगः परेणापि महिम्ना न महीयसाम् ।
पूर्णश्चन्द्रोदयाकाङ्क्षी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥ ३१ ॥

अन्वयः—महीयसां परेणापि महिम्ना तृप्तियोगः न । अत्र पूर्णः चन्द्रोदयाकाङ्क्षी महार्णवः दृष्टान्तः ।

सुधा—महीयसां = महात्मनाम् । परेणापि = प्रचुरतरेणापि । महिम्ना = अणिमादिना ऐश्वर्येण । तृप्तियोगः = सन्तोपलाभः न भवति । अत्र = तृप्त्यभावविषये । पूर्णः = सकलः । अपि चन्द्रोदयाकाङ्क्षी = चन्द्रोदयवाञ्छावान् । महार्णवः = महासमुद्रः । एव दृष्टान्तः = निदर्शनः ।। ३१ ।।

कोशः—'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः', 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः' इति चामरः ।

समासादिः—महीयसाम्—अतिशयेन महान्तः इति तेषाम् । महिम्ना—महतः भावः तेन । तृप्तियोगः—तृप्तेः यः योगः सः । चन्द्रोदयाकाङ्क्षी—चन्द्रस्योदयम् आकाङ्क्षते इति ।

व्याकरणम्—महीयसाम्—महत् + ईयसुन् । महिम्ना—महत् + इमनिच् । आकाङ्क्षी—आ काङ्क्ष + णिनिः । अर्णवः—अर्ण + वः, 'अर्णसो लोपश्च' इति सलोपः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तृप्तियोगेन न भूयते । पूर्णेन चन्द्रोदयाकाङ्क्षिणा महार्णवेन दृष्टान्तेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—राज्ञा अभ्युदये अलम्मतिः न कार्या । परिपूर्णोऽपि समुद्रः पुनरपि स्वाभ्युदयाय चन्द्रोदयम् आकाङ्क्षते एव । तस्मात्स्वाभिवृद्धौ सन्तोषबुद्धिः न कार्या ।

असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः सन्तुष्टाश्च महीभृतः ।
सलज्जा गणिका नष्टा निर्लज्जाश्च कुलाङ्गनाः ।।

इत्युक्तत्वादिति भावः ।

भाषा—बड़े लोगों की अत्यन्त अधिक ऐश्वर्य से भी तृप्ति नहीं होती है । पूर्ण होने पर भी चन्द्रोदय की आकाङ्क्षा करने वाला महासमुद्र इस विषय में दृष्टान्त है ।। ३१ ।।

स्वल्पसम्पदा तृप्तिर्मन्यते चेत्तत्र दोषमाह—

सम्पदा सुस्थिरंमन्यो भवति स्वल्पयाऽपि यः ।
कृतकृत्यो विधिर्मन्ये न वर्धयति तस्य ताम् ।। ३२ ।।

अन्वयः—यः स्वल्पया अपि सम्पदा सुस्थिरंमन्यः भवति तस्य तां कृतकृत्यः विधिः न वर्धयति इति मन्ये ।

सुधा—यः = जनः । स्वल्पया = स्तोकया । अपि सम्पदा = ऐश्वर्येण

सुस्थिरम्मन्यः = कृतकृत्यमानी भवति । तस्य = जनस्य । तां = सम्पत्तिम् । कृतकृत्यः = कृतार्थः । विधिः—दैवम् । न वर्धयति—न एधयति । इति मन्ये—तर्कये ॥३२॥

कोशः—'सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च', विधिर्विधाने दैवे च' इति चामरः ।

समासादिः—सुस्थिरम्मन्यः—सुस्थिरम् आत्मानं मन्यते इति । कृतकृत्यः—कृतं कृत्य येन सः ।

व्याकरणम्—सुस्थिरम्मन्यः—सु स्थिर मन् + खश् 'आत्ममाने खश्च' इति 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुम् । मन्ये—मन + लट् इट् । वर्धयति—वृध् + णिच् लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सुस्थिरंमन्येन भूयते । सा कृतकृत्येन विधिना न वर्ध्यते मन्यते मया ।

तात्पर्यार्थः—यः जनः स्वल्पयाऽपि सम्पदा कृतकृत्यम् आत्मानं मन्यते तस्य कृतार्थः विधिः सम्पत्ति न एधयति ।

भाषा—जो पुरुष अल्प ऐश्वर्य से भी अपने को कृतकृत्य समझता है, कृतकृत्य दैव उसके ऐश्वर्य को नहीं बढ़ाता ॥ ३२ ॥

शत्रोः समूलोत्पाटने एव श्रेयः इति दर्शयति—

समूलघातमघ्नन्तः परान्नोद्यन्ति मानिनः ।
प्रध्वंसितान्धतमसस्तत्रोदाहरणं रविः ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मानिनः परान् समूलघातम् अघ्नन्तः न उद्यन्ति । तत्र प्रध्वंसितान्धतमसः रविः उदाहरणम् ।

सुधा—मानिनः = अभिमानवन्तः । परान् = शत्रून् । समूलघातम् अघ्नन्तः = साश्रयम् अनुन्मूलयन्तः । न उद्यन्ति = न उदयन्ते । तत्र = हत्वैवाभ्युदये । प्रध्वंसितान्धतमसः = विनाशितगाढान्धकारः । रविः = सविता । उदाहरणम् = निदर्शनम् ॥ ३३ ॥

कोशः—'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः', 'अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः', 'ध्वान्ते गाढेऽन्धतमसम्', 'तपनः सविता रविः' इति चामरः ।

समासादिः—समूलघातम्—मूलेन सह समूलं तत् हत्वेति । अघ्नन्तः—न घ्नन्तः इति । मानिनः—मानः अस्ति येषामिति । प्रध्वंसितान्धतमसः—अन्धं तमः इति अन्धतमसं तत्प्रध्वंसितं येन सः ।

व्याकरणम्—समूलघातम्–समूल हन + 'समूलाकृतजीवेषु हन्कृञ्ग्रहः' इति णमुल्, 'कषादिषु तथाविध्यनुप्रयोगः' इति हन्धातोरनुप्रयोगः । अन्धतमसः—अन्ध तमस् + अच् । उद्यन्ति – उत् इ + झि । उदाहरणम्—उद् आ हृ + करणे ल्युट् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—मानिभिः अघ्नद्भिः उदीयते । रविणा उदाहरणेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—यथा सूर्यः निःशेषं तिमिरमनुच्छिद्य नोदयं लभते तथैव मनस्वी अपि शत्रून् समूलमनुन्मूल्य उदयं न प्राप्नोतीति भावः ।

भाषा—समूलशत्रुओं को न मारने वाले मानी लोग उदयको नहीं पाते । अन्धकार को निःशेष नष्ट करने वाला सूर्य ही इस विषय में दृष्टान्त है ॥३३॥

शत्रोः अनुत्पाटने प्रतिष्ठायाः दुर्लभत्वं समर्थयति—

विपक्षमखिलीकृत्य प्रतिष्ठा खलु दुर्लभा ।
अनीत्वा पङ्कतां धूलिमुदकं नावतिष्ठते ॥ ३४ ॥

अन्वयः—विपक्षम् अखिलीकृत्य प्रतिष्ठा दुर्लभा खलु । उदकं धूलिं पङ्कताम् अनीत्वा न अवतिष्ठते ।

सुधा—विपक्षं = शत्रुम् । अखिलीकृत्य = अविनाश्य । प्रतिष्ठा = सम्मानः । दुर्लभा = दुष्प्राप्या । खलु = निश्चयेन । उदक–सलिलं । धूलि–रजः । पङ्कतां = कर्दमताम् । अनीत्वा = अप्राप्य । न अवतिष्ठते = न तिष्ठति ॥ ३४ ॥

कोशः—'द्विड्विपक्षाहितमित्रदस्युशात्रवशत्रवः', 'सलिलं कमलं जलम्', 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः पांसुर्ना न द्वयो रजः', 'पङ्कोऽस्त्री शादकर्दमौ' इति चामरः ।

समासादिः—अखिलीकृत्य–अखिलं खिलं सम्पद्य इति खिलीकृत्य । दुर्लभा· दुःखेन लभ्यते इति ।

व्याकरणम्—अखिलीकृत्य–अखिल च्विः कृ + क्त्वो ल्यप् । प्रतिष्ठा– प्रति स्था = षिदादित्वादङ् । अनीत्वा–न नी + क्त्वा नञ्पूर्वकत्वात् ल्यप् न । अवतिष्ठते - अव स्था + लट् त 'समवप्रविभ्यः स्थः' इति तङ् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—प्रतिष्ठया दुर्लभया भूयते । उदकेन न अवस्थीयते ।

तात्पर्यार्थः—शत्रूणां निःशेषतयाऽनुच्छेदे आत्मनः प्रतिष्ठा सर्वथैव दुर्लभा । जलं हि धूलिं कर्दमम् अविधाय नैव स्वस्थ भवति ।

भाषा--शत्रु का विनाश किये बिना दुनिया में प्रतिष्ठा दुर्लभ है, जल धूलि को कीचड़ बनाये बिना नहीं ठहर सकता—यह इस विषय में दृष्टान्त है॥ ३४॥

शत्रुशेषः आत्मनः सुखप्राप्तिप्रतिबन्धकः इति सूचयति—

ध्रियते यावदेकोऽपि रिपुस्तावत्कुतः सुखम् ।
पुरः क्लिश्नाति सोमं हि सैंहिकेयोऽसुरद्रुहाम् ॥ ३५ ॥

अन्वयः—एकः अपि रिपुः यावत् ध्रियते तावत् सुख कुतः ? हि सैंहिकेयः असुरद्रुहाम् पुरः सोमं क्लिश्नाति ।

कोशः—एकः अपि=स्वयमेकाकी । अपि रिपुः=वैरी । यावत्=यावत्कालपर्यन्तम् । ध्रियते=अवतिष्ठते । तावत्=तावत्कालपर्यन्तम् । सुखम्=शमं । कुतः=कस्माद्भवेत् ? हि=यतः । सैंहिकेयः=राहुः । असुरद्रुहाम्=सुराणाम् । पुरः=अग्रे । सोमम्=चन्द्रमसम् । क्लिश्नाति=पीडयति ॥ ३५ ॥

कोशः—'एके मुख्यान्यकेवलाः', 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः', 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः सैंहिकेयो विधुन्तुदः', 'चन्द्रमाश्चन्द्रः' इति चामरः ।

समासादिः सैंहिकेयः सिंहिकायाः अपत्यम् पुमान् सैंहिकेयः । असुरद्रुहाम्—असुरेभ्यो द्रुह्यन्तीति तेषाम् ।

व्याकरणम्—सिंहिका-ढक् 'स्त्रीभ्यो ढक्' इति । असुरद्रुहाम्—असुर द्रुह+क्विप् ध्रियते-धृ+लट् त । क्लिश्नाति—क्लिश्+ना+लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—एकेन रिपुणा सुखेन । सैंहिकेयेन'''सोमः क्लिश्यते ।

तात्पर्यार्थः—अयमेकाकी शिशुपालः शत्रुः अस्माकं किमपि कर्तुम् न शक्ष्यति इति न मन्तव्यम् । एक एव राहुः अनेकदेवेषु स्थितेष्वपि चन्द्रं ग्रसत्येव 'अग्नेः शेषमृणाच्छेषं शत्रुशेषं न शेषयेत्' इति भावः ।

भाषा--एक भी शत्रु जब तक रहता है तब तक सुख कहाँ से मिल सकता है ! क्योंकि राहु सब देवों के सामने चन्द्र को ग्रहण कर लेता है ॥ ३५ ॥

चैद्यस्य क्षुद्रत्वादकिञ्चित्करत्वमाशङ्क्य तस्य बलवत्तां हिताहितबलाबलविवेकं प्रथमं दर्शयति—

सखा गरीयान् शत्रुश्च कृत्रिमस्तौ हि कार्यतः ।
स्यातामित्रौ मित्रे च सहजप्राकृतावपि ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कृत्रिमः सखा शत्रुश्च गरीयान् । हि तौ कार्यतः (जातौ) । सहजप्राकृतौ अपि अमित्रौ मित्रे च स्याताम् ।

सुधा—कृत्रिमः = क्रियया निर्वृत्तः । सखा=मित्रं । शत्रुः = रिपुः च । गरीयान्=गुरुतरः । हि = यतः । तौ=कृत्रिममित्रशत्रू । कार्यतः=उपकारापकार-रूपकार्यविधायकत्वात् । जातौ = निर्वृत्तौ । सहजप्राकृतौ=सहजमित्रं मातृष्व-सेयपितृष्वसेयादि, सहजशत्रुः पितृव्यतत्पुत्रादिः एतावित्यर्थः, उभौ अपि = तु । अमित्रौ = शत्रू । मित्रे = सखायौ च स्याताम् ।। ३६ ।।

कोशः—'अथ मित्रं सखा सुहृत्', 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इति चामरः ।

समासादिः—कृत्रिमः-क्रियया निर्वृत्तः । गरीयान्-अतिशयेन गुरुः । सहजप्राकृतौ—सह जातः सहजः, प्रकृत्या सिद्धः प्राकृतः, सहजश्च प्राकृतश्चेति (द्वन्द्वः) । अमित्रौ—न मित्रे इति तौ ।

व्याकरणम्—गरीयान्—गुरु—ईयसुन् 'प्रियस्थिर—' इति गुरोर्गरादेशः । कृत्रिमः—कृ + क्त्रिः मप् । स्याताम्—अस् + लिङ् तस् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—कृत्रिमेण सख्या शत्रुणा च गरीयसा भूयते । ताभ्याम्……। सहजप्राकृताभ्याम् अमित्राभ्यां च भूयते ।

तात्पर्यार्थः—कार्यवशादेवात्यन्तिकरिपुः सखा वा जायते । सहजप्राकृतौ तु नात्यन्तिकौ शत्रू सखायौ वा ।

भाषा—कृत्रिम मित्र और शत्रु ही श्रेष्ठ होते हैं, क्योंकि वे दोनों कार्य-वशात् होते हैं । सहज और प्राकृत तो शत्रु भी मित्र हो जाता है, और मित्र भी शत्रु हो जाता है ।। ३६ ।।

ननु चैद्यस्यास्मत्पैतृष्वसेयत्वेन मित्रत्वात्सन्धानार्हत्वम्, न तु यानार्हत्व-मित्यत आह—

उपकर्त्राऽरिणा सन्धिर्न मित्रेणापकारिणा ।
उपकारापकारौ हि लक्ष्यं लक्षणमेतयोः ।। ३७ ।।

अन्वयः—उपकर्त्रा अरिणाऽपि सन्धिः कार्यः, अपकारिणा मित्रेणापि सन्धिः न कार्यः । हि उपकारापकारौ एतयोः लक्षणम् लक्ष्यम् ।

सुधा—उपकर्त्रा = उपकारकारिणा । अरिणा = रिपुणा अपि । सन्धिः = सन्धानम् । कार्यः=कर्तव्यः । अपकारिणा=अपकारकारिणा । मित्रेण=सुहृदाऽपि । सन्धिः = मेलनम् । न कार्यः । हि यस्मात् । उपकारापकारौ=उपक्रियाऽपक्रिये । एतयोः = मित्रामित्रयोः । लक्षणम्=असाधारणो धर्मः । लक्ष्यम्=ज्ञेयम् ॥ ३७ ॥

कोशः—'रिपौ वैरिसपत्नारि', 'अथ मित्रं सखा सुहृत्' इति चामरः ।

समासादिः—उपकारापकारौ = उपकरणम् इति उपकारः, अपकरणम् इत्यपकारः, भावे घञ् । उपकारश्च अपकारश्च तौ (द्वन्द्वः) ।

व्याकरणम्—उपकारापकारौ–उप कृ + घञ् , अप कृ + घञ् । उपकर्त्रा–उप कृ + तृच् । अपकारिणा = अप कृ + णिनिः । लक्षणम्–लक्ष + ल्युट् । लक्ष्यम्–लक्ष + ण्यत् । अकारस्योपधाभिन्नत्वादुभयत्र न वृद्धिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सन्धि कुर्यात् ।.........सन्धि न कुर्यात् ।.........लक्षयेत् ।

तात्पर्यार्थः—रिपुरपि उपकारकारी चेत् सन्धानयोग्यः, मित्रमपि अपकारकारि चेत् अवश्यं यातव्यम् ।

भाषा—उपकार करने वाले शत्रु से भी सन्धि करनी चाहिये तथा अपकार करने वाले मित्र से भी सन्धि नहीं करनी चाहिये । क्योंकि उपकार और अपकार ये दोनों मित्र और शत्रु के लक्षण हैं ॥ ३७ ॥

शिशुपालस्यापकारकारित्वं दर्शयति—

त्वया विप्रकृतश्चैद्यो रुक्मिणीं हरता हरे ! ।
बद्धमूलस्य मूलं हि महद्वैरतरोः स्त्रियः ॥ ३८ ॥

अन्वयः—हे हरे ! रुक्मिणीं हरता त्वया चैद्यः विप्रकृतः । हि बद्धमूलस्य वैरतरोः स्त्रियः महत् मूलम् ।

सुधा—हे हरे=हे मुरारे ! । रुक्मिणीम्=तन्नाम्नीं भीष्मककन्याम् । हरता = अपहर्त्रा । त्वया = भवता । चैद्यः=शिशुपालः । विप्रकृतः=वैमनस्यं प्रापितः । हि = तथाहि । बद्धमूलस्य = प्ररूढमूलस्य । वैरतरोः = विरोधवृक्षस्य । स्त्रियः= कामिन्यः । महत् = बृहत् । मूलम् = कारणम् ॥ ३८ ॥

कोशः—'वैरं विरोधो विद्वेषः', 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इति चामरः ।

समासादिः—बद्धमूलस्य—बद्धं मूलम् यस्य तस्य । वैरतरोः—वैरमेव तरुः तस्य ।

व्याकरणम्—हरता—हृ + कर्तरि शतृ । विप्रकृतः—वि + प्र + कृ + क्तः । चैद्यः—चेदि + ञ्यङ् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—......हरन् त्वाम् चैद्यं विप्रकृतवान् । स्त्रीभिः महता मूलेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—हे हरे ! रुक्मिणीहरणात् त्वमपि चैद्यस्य कृत्रिमः शत्रुरसि । प्ररूढमूलविरोधवृक्षस्य स्त्रियः महत्कारणम् ।

भाषा—हे हरे ! रुक्मिणी को हरण करते हुए आपने शिशुपाल को विरुद्ध किया । क्योंकि बद्धमूल वाले वैररूपी वृक्ष का मूल कारण स्त्रियां ही होती हैं ।

शिशुपालस्य निजपुर्याम् आक्रमणरूपम् अपकारं दर्शयति—

त्वयि भौमं गते जेतुमरौत्सीत्स पुरीमिमाम् ।
प्रोषितार्यमणं मेरोरन्धकारस्तटीमिव ॥ ३९ ॥

अन्वयः—त्वयि भौमं जेतुम् गते सति सः इमां पुरीम् प्रोषितार्यमणम् मेरोः तटीम अन्धकार इव अरौत्सीत् ।

सुधा—त्वयि = भवति । भौमम् = भूपुत्रम् । नरकासुरम् इति यावत् । जेतुम् = वशीकर्तुम् । गते = प्राप्ते सति । सः=शिशुपालः । इमां पुरीम्=द्वारकानगरीमित्यर्थः । प्रोषितार्यमणम् = प्रोषितसूर्यम् । मेरोः=कनकाचलस्य । तटीम्= सानुम् । अन्धकारः = तिमिरम् इव । अरौत्सीत् = रुरोध ॥ :९ ।'

कोशः—'सूरसूर्यार्यमादित्यद्वादशात्मदिवाकराः', 'मेरुः सुमेरुर्हेमाद्रिः', 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इति चामरः ।

समासादिः—भौमम् = भूमेः अपत्यम् पुमान् यः तम् । प्रोषितार्यमणम् = प्रोषितः अर्यमा यस्याः ताम् ।

व्याकरणम्—भौमम्—भूमि + अण् । जेतुम्—जि + तुमुन् । अन्धकारः—अन्धं करोतीत्यर्थे अन्ध कृ + अण् । अरौत्सीत्—रुध् + लुङ् + तिप् वृद्धिः ।

वाच्यपरि०—तेन इयम् पुरी प्रोषितार्यमा तटी अन्धकारेणेव अरोधि ।

तात्पर्यार्थः—नरकासुरविजये त्वयि व्यापृते सति सः द्वारकाम् रुरोध, अतः शिशुपालोऽपि कृत्रिमशत्रुरेव ।

भाषा—नरकासुर को जीतने के लिये आपके जाने पर उस शिशुपाल ने

इस द्वारिका पुरी को, परदेश को गये हैं सूर्यनारायण जिसके ऐसी सुमेरु की तटी को अन्धकार की तरह रोका था ॥ ३९ ॥

शिशुपालस्यासह्यमपकारान्तरं दर्शयति—

आलप्यालमिदं बभ्रोर्यत्स दारानपाहरत् ।

कथाऽपि खलु पापानामलमश्रेयसे यतः ॥ ४० ॥

अन्वयः सः बभ्रोः दारान् अपाहरत् इति यत् इदम् आलप्य अलम् । अतः पापानां कथा अपि अश्रेयसे अलम् खलु ।

सुधा—सः = चैद्य । बभ्रोः = तन्नाम्नः यादवविशेषस्य । दारान् = भार्याम् । अपाहरत् = जहार । इति यत् । इदम् = एतत् दारापहरणं तत्कर्म । आलप्य = सम्भाष्य अलम्, नोच्चारणीयमित्यर्थः । यत् = यस्मात्कारणात् । पापानां = पापकारिणामित्यर्थः । कथा = नामग्रहणादिकमपि । अश्रेयसे = अकल्याणाय । अलम् = समर्था ॥ ४० ॥

कोशः—'अस्त्री पङ्कं पुमान् पाप्मा पापं किल्बिषकल्मषम्', 'श्वःश्रेयसं शिवं भद्रं कल्याणं मङ्गलं शुभम्', 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इति चामरः।

समासादिः—न श्रेयः अश्रेयः तस्मै अश्रेयसे ।

व्याकरणम्—पापानाम्—पाप + अर्शआदित्वात् अच् । अपाहरत्—अप हृ + लङ् तिप् । आलप्य—आ लप् + क्त्वो ल्यप् ।

वाच्यपरिवर्तनम् – तेन दाराः अपाह्रियन्त ।……कथयाऽपि भूयते ।

तात्पर्यार्थः—अहो ! शिशुपालः यादवविशेषबभ्रुभार्याम् अपाहरत् इति नालपनीयम् । पापिनः कथाऽपि अमङ्गलोत्पादिका ।

भाषा—उस शिशुपाल ने बभ्रु नामके यादव की स्त्री का जो हरण किया यह बात कहना भी योग्य नहीं । क्योंकि पापी लोगों की कथा भी अमङ्गल के लिये होती है ॥ ४० ॥

एवं शिशुपालः कृत्रिमशत्रुरेवेति समर्थयति—

विराद्ध एवं भवता विराद्धा बहुधा च नः ।

निर्वर्त्यतेऽरिः क्रियया स श्रुतश्रवसः सुतः ॥ ४१ ॥

अन्वयः—एवं भवता विराद्धः बहुधा नः च विराद्धा श्रुतश्रवसः सुतः सः क्रियया अरिः निर्वर्त्यते ।

सुधा--एवं = पूर्वोक्तप्रकारेण । भवता = त्वया । विराद्धः = अपकृतः । बहुधा = बहुप्रकारेण । नः = अस्माकं च । विरुद्धा = विरोधकर्ता । श्रुतश्रवसः= तन्नाम्न्याः श्रीकृष्णपितृष्वसुः । सुतः = पुत्रः । सः = शिशुपालः । क्रियया = पूर्वोक्तदारापहारादिव्यापारेण । अरिः = शत्रुः । निर्वर्त्यते = निष्पाद्यते ।। ४१ ।।

कोशः—'सुतः पुत्रः', 'रिपौ वैरिसपत्नारि' इति चामरः ।

समासादिः--विराधयतीति विराद्धा ।

व्याकरणम्—विराद्धः— वि राध + क्त । बहुधा— बहु + धाच् । विराद्धा- वि राध + तृच् । निर्वर्त्यते—निर् वृत् + णिच् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विराद्ध विराद्धारं सुतं तं क्रिया अरिं निर्वर्तयति ।

तात्पर्यार्थः—एवं भवता विप्रकृतः अस्माकं बहुधा विराद्धा सः चैद्यः क्रियया अत्यन्त कृत्रिमः शत्रुः ।

भाषा—इस तरह आपसे विरुद्ध और बहुत प्रकारसे हम लोगोंसे भी विरोध करनेवाला श्रुतश्रवा का पुत्र वह शिशुपाल क्रिया से शत्रु बनाया जा रहा है ।।४१।।

वैरं जाते औदास्यमनर्थकरमित्याह--

विधाय वैरं सामर्षे नरोऽरौ य उदासते ।
प्रक्षिप्योदर्चिषं कक्षे शेरते तेऽभिमारुतम् ।। ४२ ।।

अन्वयः— ये नरः सामर्षे अरौ वैरं विधाय उदासते, ते कक्षे उदर्चिषं प्रक्षिप्य अभिमारुतं शेरते ।

सुधा—ये नरः = ये पुरुषाः । सामर्षे = सकोपे । अरौ=शत्रौ । वैरं = विरोधं । विधाय = कृत्वा । उदासते = उदासीना भवन्ति । ते = नराः । कक्षे = गुल्मे । उदर्चिषम् = अग्नि । प्रक्षिप्य=संस्थाप्य । अभिमारुतं=वायुसम्मुखे । शेरते = स्वपन्ति ।। ४२ ।।

कोशः—'स्युः पुमांसः पञ्चजनाः पुरुषाः पूरुषा नरः', 'रिपौ वैरिसपत्नारि', 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघाः' इति चामरः । 'कक्षस्तु गुल्मे दोर्मूले' इति वैजयन्ती ।

समासादिः--सामर्षे--अमर्षेण सहितः तस्मिन् । उदर्चिषम्--उद्गतानि अर्चींषि यस्य तम् । अभिमारुतम्--मारुतमभिलक्ष्य इति ।

व्याकरणम्— विधाय--वि धा + क्त्वो ल्यप् । उदासते--उद् आस् + लट् झ । प्रक्षिप्य–प्र क्षिप + क्त्वो ल्यप् । शेरते--शीङ् + लट् झ रुट् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—यैः नृभिः उदास्यते तैः शय्यते।

तात्पर्यार्थः—यः नरः कुपितशत्रुणा सह विरोधं विधाय औदासीन्यं करोति, सः लतागुल्मे अग्निं प्रक्षिप्य वायुसम्मुखे शेते। अतः औदासीन्यं न कर्तव्यम्।

भाषा—जो मनुष्य कुपित शत्रु से विरोध करके उदासीन होते हैं वे लतागुल्म में अग्नि फेंक कर (उसके पास) वायु के सम्मुख सोते हैं ।। ४२ ।।

शिशुपालस्य बान्धवत्वेनापराधः सोढव्यः इत्याशङ्क्य अपराधस्य समभिहारत्वादसह्यत्वमाह—

मनागनभ्यावृत्त्या वा कामं क्षाम्यतु यः क्षमी।
क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं क्षमेत कः॥ ४३ ॥

अन्वयः—यः क्षमी स मनाक् अनभ्यावृत्त्या वा विराध्यन्तं कामं क्षाम्यतु. क्रियासमभिहारेण विराध्यन्तं कः क्षमेत।

सुधा—यः क्षमी=सहनशीलः। स मनाक्–ईषत्। अनभ्यावृत्त्या=एकवारमित्यर्थः। वा विराध्यन्तं=विरोधं कुर्वाणम्। कामम्=अत्यन्तम्। क्षाम्यतु=सहताम्। क्रियासमभिहारेण=पौनःपुन्येन। विराध्यन्तम्=अपकुर्वाणम्। कः=जनः। क्षमेत=सोढुं शक्नुयात्। न कोऽपीत्यर्थः ॥ ४३ ॥

कोशः—'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इत्यमरः।

समासादिः—अनभ्यावृत्त्या—न अभ्यावृत्तिः अनभ्यावृत्तिः तया। क्रियासमभिहारेण—क्रियायां यः समभिहारः तेन।

व्याकरणम्—क्षाम्यतु—क्षम=लोट्, तिप्, दिवादित्वात् श्यन्, दीर्घः। विराध्यन्तम्=विराध+कर्तरि शतृ। क्षमेत—क्षम+लिङ् त।

वाच्यपरिवर्तनम्—येन क्षमिणा भूयते तेन विराध्यन् क्षम्यताम्, विराध्यन् केन क्षम्येत।

तात्पर्यार्थ—शान्तः सहनस्वभावो जनः अल्पम् एकवारं वा शत्रुकृतमपकारं सहताम्; परन्तु मुहुः प्रचुरं च अपकारं कः सोढुं शक्नुयात्? तस्मात् चैद्यापराधः न सोढुं शक्यः।

भाषा—जो मनुष्य सहनशील है वह थोड़े अथवा एक बार शत्रु से किये गये अपराध को अत्यन्त सहन कर लेगा परन्तु बार-बार किये हुए अपराध को कौन सहन कर सकता है? ॥ ४३ ॥

परिभवे पराक्रमस्यैव ग्राह्यत्व दर्शयति—

अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः ।
पराक्रमः परिभवे वैयात्यं सुरतेष्विव ॥ ४४ ॥

अन्वयः—अन्यदा योषितः लज्जा इव पुंसः (अन्यदा) क्षमा भूषणम् । परिभवे तु सुरतेषु योषितः वैयात्यम् इव पराक्रमः भूषणम् ।

सुधा—अन्यदा=सुरतेतरकाले । योषितः=स्त्रियः । लज्जा इव=व्रीडा इव । पुंसः=पुरुषस्य । अन्यदा=परिभवव्यतिरिक्तकाले । क्षमा=तितिक्षा । भूषणम्=अलङ्कारः । परिभवे तु=शत्रुतिरस्कारे तु । सुरतेषु=रतिषु । योषितः=नार्याः । वैयात्यं=धृष्टत्वम् इव । पराक्रमः=पौरुषमेव । भूषणम्=आभरणम् ॥४४॥

कोशः—'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा', 'अलङ्कारस्त्वाभरणं परिष्कारो विभूषणम्' 'अनादरः परिभवः परिभावस्तिरस्क्रिया', 'धृष्टे धृष्णुर्वियातश्च' इति चामरः ।

समासादिः—भूषणम्—भूष्यतेऽनेनेति । पराक्रमः—पराक्रम्यतेऽनेनेति । सुरतेषु—सुष्ठु यानि रतानि तेषु ।

व्याकरणम्—अन्यदा—अन्य+दा । क्षमा—क्षम+भिदादित्वादङ् । भूषणम्=भूष+ल्युट् । वैयात्यम्—वि यात+ष्यञ् ।

वाच्य०—लज्जया क्षमया भूषणेन भूयते । वैयात्येनेव पराक्रमेण भूषणेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—निधुवनभिन्नकाले स्त्रीणां यथा लज्जा भूषणम् तथैव पराभवव्यतिरिक्तकाले पुरुषाणां क्षमा भूषणं भवति । परन्तु सुरतौ स्त्रीणां लज्जा इव पुरुषाणां परिभवकाले क्षमा दूषणमेव । तस्मात्क्षमा न कर्तव्या इति ।

भाषा—सुरतक्रीडाव्यतिरिक्त समय में स्त्री की लज्जा की तरह पराभवव्यतिरिक्त काल में पुरुष का क्षमा भूषण होता है । पराभव काल में तो सुरतसमय में स्त्री की धृष्टता की तरह पराक्रम ही भूषण होता है ॥ ४४ ॥

शत्रुकृतपराभवं सहमानस्य जन्म व्यर्थमेवेति दर्शयति—

मा जीवन् यः परावज्ञादुःखदग्धोऽपि जीवति ।
तस्याजननिरेवास्तु जननीक्लेशकारिणः ॥ ४५ ॥

अन्वयः—यः परावज्ञादुःखदग्धः मा जीवन् सन् अपि जीवति, जननीक्लेशकारिणः तस्य अजननिः एव अस्तु ।

सुधा—यः=जनः। परावज्ञादुःखदग्धः=अरिकृतापमानदुःखतप्तः। (अतएव) मा जीवन्=निन्दितजीवी सन् अपि। जीवति=प्राणान् धारयति। जननीक्लेशकारिणः=केवलं मातुः गर्भधारणप्रसवादिदुःखविधायिनः। तस्य=पुरुषस्य। अजननिः=जन्माभाव एव। अस्तु=भवतु॥ ४५॥

कोशः—'जनयित्री प्रसूर्माता जननी', 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इति चामरः।

समासादिः—परावज्ञादुःखदग्धः—परस्य अवज्ञया यत् दुःखं तेन दग्धः। जननीक्लेशकारिणः—जनन्याः क्लेशं करोति तच्छीलस्तस्य।

व्याकरणम्—मा जीवन्—मा जीव+लट्, तस्य 'माङ्याक्रोश इति वाच्यम्' इति वार्तिकेन कर्तरि शतृ। जननीक्लेश—कृ+णिनि। अस्तु—अस्+लोट् तिप्।

वाच्यपरिवर्तनम्—येन दग्धेन मा जीवता जीव्यते, अजनन्या भूयताम्।

तात्पर्यार्थः—यः शत्रुकृततिरस्कारपीडितोऽपि जीवति तस्य जनन्याः केवलं गर्भधारणप्रसवादिदुःखकारितया अजन्मैव वरमिति भावः।

भाषा—जो मनुष्य शत्रुकृततिरस्कारजन्य दुःख से पीडित हो कर अतएव निन्दितजीवी हो कर भी जीता है, माता को केवल गर्भधारणादि दुःख देने वाले उसका जन्म न होना ही उचित है॥ ४५॥

परिभवे दोषान्तरमाह—

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः॥ ४६॥

अन्वयः—यत् रजः पादाहतं सत् उत्थाय मूर्धानम् अधिरोहति तत् अपमाने अपि स्वस्थात् देहिनः वरम् एव।

सुधा—यत् रजः=धूलिः। पादाहतं=चरणताडितम्। सत् उत्थाय=उड्डीय। मूर्धानं=मस्तकम्। अधिरोहति=आरूढं भवति। तत्=रजः। अपमाने=तिरस्कारे सत्यपि। स्वस्थात्=उदासीनात्। देहिनः=प्राणिनः अपेक्षया। वरम्=श्रेष्ठमेव॥ ४६॥

कोशः—'पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः', 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः', 'देवाद् वृते वरः श्रेष्ठे त्रिषु' इति चामरः।

समासादिः—पादाहतम्—पादाभ्यां यत् आहतं तत् । स्वस्थात्—स्वस्मिन् तिष्ठतीति स्वस्थस्तस्मात् । देहिनः=देहः अस्यास्तीति तस्मात् ।

व्याकरणम्—हतम्—हन्+क्त । उत्थाय—उद् स्था+क्त्वो ल्यप् । अधिरोहति—अधि रुह्+लट् तिप् । देहिनः—देह+इनि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—येन रजसा·········हतेन सता मूर्धा अधिरुह्यते तेन वरेण भूयते ।

तात्पर्यार्थः—अचेतना अपि धूलिः पादताडिता सती पादाघातकर्तुः मूर्धानमेव कोपेनाक्रामति, यः पुनः नरः सचेतनो भूत्वाऽपि शत्रुकृतेऽपराधे उदासीनो भवति स तु धूलेः अपेक्षयाऽपि तुच्छतरः तस्मात् अभियानमेव श्रेयः इति भावः ।

भाषा—जो धूलि लोगों का पादाघात होने पर उनके मस्तक पर चढ़ती है, वह शत्रु से अपमान होने पर भी स्वस्थ रहने वाले मनुष्य से अच्छी है ।।४६।।

सत्यपरिभवे स्वस्थस्य दोषान्तरमाह—

असम्पादयतः कश्चिदर्थं जातिक्रियागुणैः ।
यदृच्छाशब्दवत्पुंसः संज्ञायै जन्म केवलम् ।। ४७ ।।

अन्वयः—जातिक्रियागुणैः कश्चित् अर्थम् असम्पादयतः पुंसः जन्म यदृच्छाशब्दवत् संज्ञायै केवलम् ।

सुधा—जातिक्रियागुणैः=ब्राह्मणादियज्ञादिशौर्यादिभिः । कश्चित्=कमपि । अर्थम्=सुकृतकीर्तिपौरुषादिरूपम् । असम्पादयतः=असाधयतः । पुंस=नरस्य । जन्म=उत्पत्तिः । यदृच्छाशब्दवत्=स्वेच्छाकल्पितडित्थादिशब्दवत् । संज्ञायै=नाम्ने । केवलम् एव ।। ४६ ।।

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः', 'जनुर्जननजन्मानि जनिरुत्पत्तिरुद्भवः' इति चामरः ।

समासादिः—जातिक्रियागुणैः—जातिश्च क्रिया च गुणश्च तैः । असम्पादयतः—न सम्पादयतीति तस्य । यदृच्छाशब्दवत्—यदृच्छाशब्दस्यैवेति ।

व्याकरणम्—असम्पादयतः—न सं पद+णिच् कर्तरि शतृ । यदृच्छाशब्दः+'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—जन्मना केवलेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—यः स्वकीयजातिक्रियागुणैः तत्सदृशम् अलौकिकं कमप्यर्थं न करोति, तस्य जन्म निरर्थकमेव। तस्मात्क्षत्रियजातिसदृशम् अभियानं कर्तव्यमेव।

भाषा—ब्राह्मणादिजाति, यागादिक्रिया और शौर्यादिगुणों से किसी भी पुरुषार्थका सम्पादन न करने वाले पुरुष का जन्म, स्वेच्छा से बनाए हुए 'डित्थ' आदि शब्द की तरह केवल नाममात्र के लिये ही है ।। ४७ ।।

इदानीं पौरुषं समर्थयति--

तुङ्गत्वमितरा नाद्रौ नेदं सिन्धावगाधता ।
अलङ्घनीयताहेतुरुभयं तन्मनस्विनि ॥ ४८ ॥

अन्वयः--अद्रौ तुङ्गत्वम्, इतरा नः सिन्धौ अगाधता, इदं न। मनस्विनि तु अलङ्घनीयताहेतुः तत् उभयम् ।

सुधा--अद्रौ = शैले । तुङ्गत्वम्=उन्नतत्वम् वर्तते । इतरा=अगाधता न। सिन्धौ=सागरे । अगाधता=अतलस्पर्शिता वर्तते । इदम्=तुङ्गत्वम् न । मनस्विनि = मानिनि तु । अलङ्घनीयताहेतुः = अलङ्घ्यत्वकारणम् । तत् उभयं = तुङ्गत्वमगाधता चेति द्वयं वर्तते ।। ४८ ।।

कोशः--'अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः', 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः', 'अगाधमतलस्पर्शे इति चामरः ।

समासादिः—अगाधता—अविद्यमानः गाधः यस्मिन् तस्य भावः । अलङ्घनीयताहेतुः—न लङ्घितुं योग्यः तस्य भावः तत्ता तस्याः हेतुः । तुङ्गत्वम् = तुङ्गस्य भावस्तुङ्गत्वम् ।

व्याकरणम्--उभयम्—उभौ अवयवौ यस्य तत् । उभ+अयच् । तुङ्गत्वम्--तुङ्ग+त्व । अगाधता—अगाध+तल् । उभयत्र–'तस्य भावस्त्वतलौ' इति । मनस्विनि--मनस्+प्रशंसायां विनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्--तुङ्गत्वेन भूयते, इतरया न, अगाधतया भूयते, अनेन न :'''हेतुना तेन उभयेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—पर्वते तुङ्गत्वं समुद्रे अतलस्पर्शवत्त्वमिति उभयत्र एकैकमलङ्घनीयत्वे कारणम् । वीरपुरुषे तु तत् उभयं वर्तते । तस्मात् समुद्रपर्वताभ्यां श्रेष्ठेन मनस्विना पौरुषमेव सर्वदा आश्रयणीयम् ।

भाषा—पर्वत में ऊँचाई है गहरापन नहीं है । समुद्र में अथाह स्पर्श है

ऊंचाई नहीं है । मनस्वी पुरुष में तो अलङ्घनीयता के ये दोनों कारण मौजूद हैं ।। ४८ ।।

विरोधे सति अपौरुषाश्रयणे अनर्थान्तरमाह--

तुल्येऽपराधे स्वर्भानुर्भानुमन्तं चिरेण यत् ।
हिमांशुमाशु ग्रसते तन्म्रदिम्नः स्फुटं फलम् ।। ४९ ।।

अन्वयः--स्वर्भानुः अपराधे तुल्ये अपि भानुमन्तं चिरेण, हिमांशुम् आशु ग्रसते इति यत् म्रदिम्नः फलं स्फुटम् एव ।

सुधा--स्वर्भानुः = राहुः । अपराधे = अपकारे । तुल्ये = समाने अपि । भानुमन्तम् = सूर्यम् । चिरेण=बहुकालेन । हिमांशुम्=चन्द्रम् च । आशु=शीघ्रमेव । ग्रसते=आक्राम्यति । इति यत् तत्=चन्द्रग्रसनरूपम् कार्यम् । म्रदिम्नः = मार्दवस्य । फलम्=परिणामः । स्फुटम्=स्पष्टमेव ।। ४९ ।।

कोशः—'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' 'चिराय चिररात्राय' 'हिमांशुश्चन्द्रमाश्चन्द्रः' इति चामरः ।

समासादिः--स्वर्भानुः--स्वः भाति यः सः । भानुमन्तम्--भानवः अस्य सन्तीति भानुमान् तम् । हिमांशुम्–हिमाः अंशवः—यस्य तम् ।

व्याकरणम्—म्रदिम्नः--मृदु + पृथ्वादित्वादिमनिच् ; 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति ऋकारस्य रेफः । ग्रसते–ग्रस् + लट् + त । तुल्ये-तुला + सम्मितार्थे यत् । अपराधे--अप राध + घञ् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—स्वर्भानुना·········भानुमान् हिमांशुः ग्रस्यते···तेन··· फलेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः--मृदुप्रकृतिः चन्द्रः मुहुः राहुणा ग्रस्यते, तेजस्वी सूर्यस्तु कदाचिदेव । तस्मात् रात्रौ सर्वदा तीव्रेण भवितव्यम् । अन्यथा चन्द्रवत् सर्वदा परिभूयेत ।

भाषा--दोनों का अपराध बराबर होने पर भी राहु सूर्य को बहुत दिन के बाद और चन्द्रमा को शीघ्र अर्थात् बार-बार जो ग्रहण करता है, यह नम्रता का ही फल स्पष्ट है ।। ४९ ।।

एतदेव भङ्ग्यन्तरेणाह--

स्वयं प्रणमतेऽल्पेऽपि परवायावुपेयुषि ।
निदर्शनमसाराणां लघुर्बहुतृणं नरः ।। ५० ।।

अन्वयः—असाराणां निदर्शनं बहुतृणं लघुः नरः अल्पे अपि परवायौ उपेयुषि स्वयं प्रणमते ।

सुधा—असाराणां=साररहितानाम्, बलरहितानामित्यर्थः । निदर्शनम्= दृष्टान्तः । बहुतृणम्=तृणसदृशः । लघुः=पौरुषहीनः । नरः=मनुष्यः । अल्पे अपि=ईषदपि । परवायौ=शत्रुवायौ । उपेयुषि=प्राप्ते सति । स्वयं=स्वत एव । प्रणमते=नम्रीभवति ॥ ५० ॥

कोशः—'सारो बले स्थिरांशे च' 'मनुष्या मानुषा मर्त्या मनुजा मानवा नराः' 'किञ्चिदीषन्मनागल्पे' इति चामरः ।

समासादिः—असाराणाम्—न विद्यते सारः तेषाम् । परवायौ–परः वायुरिवेति तस्मिन् (उपमितसमासः)

व्याकरणम्—प्रणमते—प्र णम्+लट् त । बहुतृणम्—बहु तृण+ बहुच् 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' इति । निदर्शनम्—नि दृश्+ल्युट् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—निदर्शनेन बहुतृणेन लघुना नरेण प्रणम्यते ।

तात्पर्यार्थः—यथा साररहितानि तृणानि अत्यल्पेऽपि वायौ वाति सति उड्डीयन्ते, तथैव लघुः नरः अत्यल्पेनापि शत्रुणा कृताक्रमणः सन् स्वयं प्रणमति ।

भाषा—साररहित वस्तु का दृष्टान्त स्वरूप तथा तृणसदृश पौरुषहीन मनुष्य थोड़े भी शत्रुरूप वायु के प्राप्त होने पर स्वयं ही नम्र हो जाता है ॥५०॥

पराक्रमशालिनः पुरुषस्य विजयित्वमाह—

तेजस्विमध्ये तेजस्वी दवीयानपि गण्यते ।
पञ्चमः पञ्चतपसस्तपनो जातवेदसाम् ॥ ५१ ॥

अन्वयः- दवीयान् अपि तेजस्वी तेजस्विमध्ये गण्यते । पञ्चतपसः तपनः जातवेदसाम् पञ्चमः ।

सुधा—दवीयानपि=विप्रकृष्टोऽपि । तेजस्वी=प्रभावशाली पुरुषः । तेजस्विमध्ये=पराक्रमवतां मध्ये । गण्यते=गणितो भवति । तथाहि पञ्चतपसः= पञ्चाग्निसाधकस्य जनस्य । तपनः=रविः । जातवेदसाम्=वह्नीनां । पञ्चमः= पञ्चमसंख्यापूरकः । तत्र सूर्यस्यैव पञ्चमाग्नित्वेन ग्रहणादित्यर्थः ॥ ५१ ॥

कोशः—'तेजः प्रभावे' 'स्याद् दूरं विप्रकृष्टकम्' इति चामरः ।

समासादिः—अतिशयेन दूरो दवीयान् । तेजस्विमध्ये—तेज एषामस्ति

ते तेजस्विनः, तेषां मध्यं तस्मिन् । पञ्चतपसः=पञ्चभिः साध्यं तपो यस्य स पञ्चतपास्तस्य । पञ्चानां पूरणः पञ्चमः ।

व्याकरणम्—तेजस्वी–तेजस्+विनिः । दवीयान्–दूर+ईयसुन्, 'स्थूल-दूर-' इत्यादिसूत्रेण रलोपः, गुणश्च । पञ्चमः=पञ्चन्+डट्, मडागमः ।

वाच्यपरिवर्तनम्–दवीयांसं तेजस्विनं (जनाः) गणयन्ति । तपनेन पञ्चमेन ।

तात्पर्यार्थः—यथा दूरस्थोऽपि सूर्यः प्रतापात् पञ्चाग्निषु लोकैर्गण्यते तथा प्रतापशाली पुरुषः दूरस्थोऽपि पुरुषार्थित्वेन प्रसिद्धो भवति ।

भाषा–दूर रहने वाला भी पराक्रमी पुरुष प्रतापशालियों में गिना जाता है। पञ्चाग्निसाधन करने वाले पुरुष का (दूरस्थ) सूर्य ही पञ्चम अग्नि होता है।।

शत्रोरुपरि अनाक्रमणे कीर्तिविस्तारः दुर्लभः इत्याह—

अकृत्वा हेलया पादमुच्चैर्मूर्धसु विद्विषाम् ।
कथङ्कारमनालम्बा कीर्तिर्द्यामधिरोहति ॥ ५२ ॥

अन्वयः—उच्चैः विद्विषां मूर्धसु हेलया पादम् अकृत्वा अनालम्बा कीर्तिः कथङ्कारं द्याम् अधिरोहति ।

सुधा—उच्चैः=तुङ्गेषु । विद्विषां=शत्रूणाम । मूर्धसु=मस्तकेषु । हेलया=अनादरेण । पदम्=चरणम् । अकृत्वा=अनिधाय । अनालम्बा=निराश्रया । कीर्तिः=यशः । कथङ्कारम्=केन प्रकारेण । द्याम्=स्वर्गम् । अधिरोहति–उपरि गच्छति ॥

कोशः—'मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्' 'यशः कीर्तिः समज्ञा च' 'सुरलोको द्योदिवौ द्वे स्त्रियां क्लीवे त्रिविष्टपम्' इति चामरः ।

समासादिः—विद्विषाम्–विशेषेण द्विषन्तीति तेषाम् । अनालम्बा=न विद्यते आलम्बः यस्याः सा (ब० व्री०) । निराश्रया–न विद्यते आश्रयः यस्याः सा (ब० व्री०) :

व्याकरणम्—विद्विषाम्—वि द्विष्+क्विप् । अकृत्वा—नञ् कृ+क्त्वा, नञ्पूर्वकत्वात् क्त्वो ल्यबादेशो न । कथङ्कारम्–कथं कृ+णमुल् । अधिरोहति–अधि रुह+लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अनालम्बया कीर्त्या द्यौः अधिरुह्यते ।

तात्पर्यार्थः—यः शत्रूञ्जयति तस्य कीर्तिकथां देवा अपि गायन्ति, किमुत मर्त्याः । तस्मात् कीर्तिमभिवाञ्छता नरेण पौरुषमेव सेवनीयम् ।

भाषा—शत्रुओं के ऊँचे सिर पर हेला से पाँव न रखने पर निराश्रय कीर्ति किस तरह स्वर्ग पर चढ़ सकती है ? ॥ ५२ ॥

पौरुषानङ्गीकारे दोषान्तरं दर्शयति—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः ।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—अङ्काधिरोपितमृगः चन्द्रमा मृगलाञ्छनः निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथः केसरी मृगाधिपः ।

सुधा—अङ्काधिरोपितमृगः = उत्सङ्गस्थापितहरिणः । चन्द्रमाः—चन्द्रः । मृगलाञ्छनः = मृगाङ्कः । निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथः = निष्ठुरं यथा तथा ध्वस्तमृगसमूहः । केसरी = सिंहः । मृगाधिपः = मृगेन्द्रः । जात इति शेषः ॥ ५३ ॥

कोशः—'चन्द्रमाश्चन्द्रः' 'कलङ्काङ्कौ लाञ्छनं च' 'सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः' इति चामरः ।

समासादिः—अङ्काधिरोपितमृगः—अङ्कमधिरोपितः मृगः येन सः । मृगलाञ्छनः—मृगः लाञ्छनं यस्य सः । निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथः—निष्ठुरं यथा तथा क्षिप्तानि मृगयूथानि येन सः । मृगाधिपः—मृगाणामधिपः यः सः । केसरी—केसरः अस्ति अस्य ।

व्याकरणम्—मृगाधिपः—मृग अधि पा + कः । केसरी—केसर + इनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—…मृगेण चन्द्रमसा…लाञ्छनेन भूयते । …यूथेन केसरिणा मृगाधिपेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—दयया निजाङ्कमृगस्थापनात् चन्द्रः मृगाङ्को जातः । सिंहस्तु तानेव निर्दयं व्यापाद्य मृगेन्द्रो जातः । अतः रिपौ मार्दवं सर्वथा दुष्कीर्तिकरमेव ।

भाषा—गोद में मृग रखने से चन्द्र मृगाङ्क हुआ और निर्दयता से मृगों को मारने से सिंह मृगेन्द्र हुआ ॥ ५३ ॥

सान्त्वनं प्रत्याचष्टे द्वाभ्यां श्लोकाभ्याम्—

चतुर्थोपायसाध्ये तु रिपौ सान्त्वमपक्रिया ।
स्वेद्यमामज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिञ्चति ॥ ५४ ॥

अन्वयः—चतुर्थोपायसाध्ये रिपौ तु सान्त्वम् अपक्रिया । स्वेद्यम् आमज्वरं कः प्राज्ञः अम्भसा परिषिञ्चति ।

सुधा—चतुर्थोपायसाध्ये = दण्डोपायसाध्ये । रिपौ = शत्रौ । सान्त्वं = साम प्रयोगः । अपक्रिया = अपकारः भवति । तथा हि -स्वेद्य =स्वेदनिष्कासनार्हम् । आमज्वरम् = अपरिपक्वज्वरम् । कः प्राज्ञः = बुद्धिमान् । अम्भसा = जलेन । परिषिञ्चति = सेचनं करोति ।। ५४ ।।

कोशः—'रिपौ वैरिसपत्नारि' 'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः' 'अम्भोऽर्णस्तोय-पानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इति चामरः ।

समासादिः—चतुर्थोपायसाध्ये—चतुर्थेनोपायेन यः साध्यस्तस्मिन् । आम-ज्वरम्— आमः यः ज्वरस्तम् ।

व्याकरणम्—अपक्रिया—अपकृ + 'कृञः श च' इति शः । स्वेद्यम्—स्विद् + हलन्तलक्षणोण्यत् । परिषिञ्चति—परि सिच + लिट् तिप् षत्वम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सान्त्वेन अपक्रियया भूयते । स्वेद्यः आमज्वरः केन प्राज्ञेन परिषिच्यते ।

तात्पर्यार्थः—आमज्वरतप्तस्य जनस्योपरि जलसेकवत् दण्डयोग्ये शत्रौ सामोपायः सर्वथा आपत्तिकरः ।

भाषा—दण्ड देने के योग्य शत्रु में प्रिय वचन अपकाररूप होता है। पसीना निकालने योग्य कच्चे बुखार में कौन बुद्धिमान जल से सेचन करता है? अर्थात् कोई भी नहीं करता है ।। ५४ ।।

तदेवाह—

सामवादाः सकोपस्य तस्य प्रत्युत दीपकाः ।
प्रतप्तस्येव सहसा सर्पिषस्तोयबिन्दवः ।। ५५ ।।

अन्वयः—सकोपस्य तस्य सामवादाः सहसा प्रतप्तस्य सर्पिषः तोयबिन्दवः इव प्रत्युत दीपकाः ।

सुधा—सकोपस्य=सक्रोधस्य । तस्य = शिशुपालस्य । सामवादाः = सान्त्व-वचनानि । सहसा=झटिति । प्रतप्तस्य=अग्निसयोगेनातीव तप्तस्य । सर्पिषः=घृतस्य । तोयबिन्दवः=जलबिन्दव इव । प्रत्युत=वैपरीत्येन । दीपकाः=उद्दीपनकराः ।। ५५ ।।

कोशः—'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघा रुट्क्रुधौ स्त्रियौ' 'सामसान्त्वमुभे समे' 'अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्' इति चामरः ।

समासादिः—सकोपस्य—कोपेन सह वर्तते इति तस्य। सामवादाः साम्नः ये वादास्ते। तोयबिन्दवः—तोयस्य ये बिन्दवस्ते।

व्याकरणम्—दीपकाः—दीप + कर्तरि ण्वुल् 'ण्वुल्तृचौ' इति। प्रतप्तस्य-प्र तप + क्त।

वाच्यपरिवर्तनम्—सामवादैः तोयबिन्दुभिः दीपकैः भूयते।

तात्पर्यार्थः—अग्निसन्तप्ते घृते जलबिन्दवः इव कुपिते शत्रौ सामवचनम् उद्दीपकमेव, तस्मात् शिशुपाले प्रियवचनं नैव युक्तम्।

भाषा—क्रुद्ध शत्रु के प्रति प्रिय वचन अग्निसन्तप्त घी के ऊपर जलबिन्दु की तरह चिड़चिड़ाने वाले होते हैं॥ ५५॥

सिद्धान्तिते याने उद्धवादीनां निषेधमाशङ्क्याह—

गुणानामायथातथ्यादर्थं विप्लावयन्ति ये।
अमात्यव्यञ्जना राज्ञां दूष्यास्ते शत्रुसंज्ञिताः॥ ५६॥

अन्वयः—गुणानाम् आयथातथ्यात् अर्थं ये विप्लावयन्ति अमात्यव्यञ्जनाः शत्रुसंज्ञिताः ते राज्ञां दूष्याः।

सुधा—गुणानां = सन्ध्यादिगुणानाम्। आयथातथ्यात् = अयथायोग्यात्, अयथार्थज्ञानादित्यर्थः। ये = जनाः। अर्थं = प्रयोजनम्। विप्लावयन्ति = विघातयन्ति। अमात्यव्यञ्जनाः = मन्त्रिचिह्न मात्रधारिणः। शत्रुसंज्ञिताः = प्रच्छन्नशत्रवः। ते राज्ञां दूष्याः = राजभिः दूषयितुं योग्याः। दोषमुद्भाव्य निःसारणीयाः इति यावत्॥ ५६॥

कोशः—'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः' 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' 'मन्त्री धीसचिवोऽमात्यः' इति चामरः।

समासादिः—आयथातथ्यात्—तथात्वम् अनतिक्रम्य इति यथातथम्, न यथातथम्, अयथातथं तस्य यो भावस्तस्मात्। अमात्यव्यञ्जनाः—अमात्यानां व्यञ्जनं येषां ते। शत्रुरिति संज्ञा सञ्जाता येषां ते।

व्याकरणम्—आयथातथ्यात्—यथातथ + ष्यञ् ब्राह्मणादित्वात्। अमात्यव्यञ्जनाः—वि अञ्जु + करणे ल्युट्। शत्रुसंज्ञिताः—शत्रुसंज्ञा + तारकादित्वादितच्।

वाच्यपरिवर्तनम्—अर्थः यैः विप्लाव्यते अमात्यव्यञ्जनान् शत्रुसंज्ञितान् तान् राजानः दूषयेयुः।

तात्पर्यार्थः—अन्यस्मिन्नुपाये योक्तव्ये अन्यमेवोपायं प्रयुज्य ये प्रमोः

प्रयोजनं विघातयन्ति, प्रच्छन्नशत्रवः ते मन्त्रिरूपधरा अपि राजभिः तत्राविद्य-मानमपि दोषमारोप्य बहिर्निःसारयितव्याः । तस्मादुद्धवादीनां वचनं न ग्राह्यम् इति भावः ।

भाषा—सन्धिविग्रहादि गुणों के यथायोग्य प्रयोग न होनेके कारण मालिक के कार्य को जो लोग नष्ट कर देते हैं, मंत्री का चिह्न धारण करने वाले वास्तविक छिपे हुये शत्रु ऐसे वे लोग राजाओं से दोषारोप करके हटाये जाने लायक होते हैं ॥

अभियानमपि काले एव इत्याशङ्क्य यानयोग्यकालोऽप्ययमेवेत्याह—

स्वशक्त्युपचये केचित्परस्य व्यसनेऽपरे ।
यानमाहुस्तदासीनं त्वामुत्थापयति द्वयम् ॥ ५७ ॥

अन्वयः—केचित् स्वशक्त्युपचये यानम् आहुः, अपरे परस्य व्यसने यानम् आहुः । तत् द्वयम् आसीनं त्वाम् उत्थापयति ।

सुधा—केचित् = एके । नीतिज्ञाः । स्वशक्त्युपचये[1] = निजशक्तिवृद्धौ । यानम् = अभिगमनम् । आहुः = वदन्ति । अपरे = इतरे नीतिज्ञास्तु । परस्य = शत्रोः । [2]व्यसने = विपदि यानम् आहुः । तद्द्वयं=मतभेदेन प्रतिपादितं पक्षद्वयमपि । आसीनम् = उदासीनम्, उद्योगमकुर्वाणमित्यर्थः । त्वां = भवन्तम् । उत्थापयति=प्रेरयति ॥ ५७ ॥

कोशः—'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः' 'अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थि-परिपन्थिनः' 'व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे' इति चामरः ।

समासादिः—स्वशक्त्युपचये–स्वस्य या शक्तिः तस्याः उपचयः तस्मिन् ।

व्याकरणम्—आहुः–ब्रू + लट् सि आहादेशः । उत्थापयति—उद् स्था + णिच् लट् तिप् पुक् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—कैश्चित् यानम् ऊचे । अपरैश्च यानम् ऊचे । तेन द्वयेन आसीनस्त्वम् उत्थाप्यसे ।

तात्पर्यार्थः—एके नीतिज्ञाः स्वशक्तिसमृद्धौ अन्ये तु शत्रौ आपन्नगने यानं

---

१. प्रायेण सन्तो व्यसने रिपूणां यातव्यमित्येव समादिशन्ति ।
तथा विपक्षे व्यसनानपेक्षो क्षमो द्विषन्तं मुदितः प्रतीयात् ॥
इति कामन्दकीयवचनादिति भावः ।

२. तदा यायाद्विगृह्यैव व्यसने चोत्थिते रिपोः । इति मानवीयवचनादिति भावः ।

कार्यमिति वदन्ति । तत् अद्य वयं स्वशक्तिशालिनः, शिशुपालस्त्वसमर्थः इति उभयलाभात् शिशुपालः अवश्यमेव यातव्यः ।

भाषा—कोई लोग अपनी शक्ति बढ़ने पर (शत्रु पर) आक्रमण करना, यह कहते हैं । और दूसरे लोग तो शत्रु के ऊपर विपत्ति पड़ने के समय आक्रमण करना चाहिये, यह कहते हैं । ये दोनों (पक्ष) उदासीन होकर बैठे हुए आपको उभाड़ रहे हैं, अर्थात् प्रेरणा कर रहे हैं ॥ ५७ ॥

स्वशक्त्युपचयमेव प्रथमं दर्शयति—

लिलङ्घयिषतो लोकानलङ्घ्यानलघीयसः ।
यादवाम्भोनिधीन् रुन्धे वेलेव भवतः क्षमा ॥ ५८ ॥

अन्वयः—लोकान् लिलङ्घयिषतः अलङ्घ्यान् अलघीयसः यादवाम्भोनिधीन् भवतः क्षमा वेला इव रुन्धे ।

सुधा—लोकान् = जनान् लिलङ्घयिषतः = लङ्घयितुमिच्छतः । अलङ्घ्यान् = इतरैर्लङ्घयितुमशक्यान् । अलघीयसः = महीयसः । यादवाम्भोनिधीन् = यादवमहोदधीन् । भवतः = तव । क्षमा = सहनशीलता । वेला = कूलम् । इव रुन्धे = रुणद्धि ॥ ५८ ॥

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने' 'उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान्सागरोऽर्णवः' इति चामरः । 'वेला कूलतरङ्गयोः' इति विश्वः ।

समासादिः—अलङ्घ्यान्—न लङ्घयितुं ये शक्यास्तान् । यादवाम्भोनिधीन्—यादवा अम्भोनिधयः इवेति तान्, 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति उपमितसमासः ।

व्याकरणम्—लिलङ्घयिषतः—णिजन्ताल्लङ्घधातोः सन्, ततः कर्तरि शतृ । अलघीयसः = नञ् लघु + ईयसुन् । रुन्धे—रुध् + लट् त श्नम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—लिलङ्घयिषन्तः अलङ्घ्याः अलघीयांसः । यादवाम्भोनिधयः क्षमया वेलया रुध्यन्ते ।

तात्पर्यार्थः—इतरैः आक्रमितुमशक्याः यादवाः तीरं दृष्ट्वा अम्भोनिधेः इव केवलं भवतः क्षमां दृष्ट्वा उदासते । तस्मात् शान्तिस्त्वया न कर्त्तव्या ।

भाषा—लोगों को लङ्घन करने की इच्छा करने वाले स्वयं दूसरे लोगों से

आक्रमण होने में अशक्य ऐसे तथा अत्यन्त बढ़े चढ़े हुए समुद्र की तरह यादवों को किनारे की तरह आप की क्षमा रोकती है ॥ ५८ ॥

इदानीमाक्रमणेन तु क्लेशं विनैव विजयलाभः इत्याह—

विजयस्त्वयि सेनायाः साक्षिमात्रेऽपदिश्यताम् ।
फलभाजि समीक्ष्योक्ते बुद्धेर्भोग इवात्मनि ॥ ५९ ॥

अन्वयः—सेनायाः विजयः फलभाजि साक्षिमात्रे त्वयि समीक्ष्योक्ते आत्मनि बुद्धेः भोगः इव अपदिश्यताम् ।

सुधा—सेनायाः=चम्वाः । विजयः=जयः । फलभाजि=फललाभि । साक्षिमात्रे=उदासीने एव । त्वयि=भवति । समीक्ष्योक्ते=सांख्योक्ते । आत्मनि=पुरुषे । बुद्धेः=महत्तत्त्वस्य । भोगः=सुखदुःखसाक्षात्कारः इव । अपदिश्यतां=व्यवह्रियताम् ॥ ५९ ॥

कोशः—'पृतनाऽनीकिनी चमूः' 'क्षेत्रज्ञ आत्मा पुरुषः' इति चामरः । 'सांख्यं समीक्ष्यम्' इति त्रिकाण्डशेषः ।

समासादिः—समीक्ष्योक्ते—समीक्ष्येण उक्तं तस्मिन् । साक्ष्येव साक्षिमात्रं तस्मिन् फलभाजि=फलं भजते इति तस्मिन् ।

व्याकरणम्—अपदिश्यताम्—अप दिश्+लोट् त । भोगः—भुज+घञ् 'चजोः कु घिण्ण्यतोः' इति कुत्वम् । फलभाजि—फल भज+ण्विः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विजयं भोगम् अपदिशन्तु ।

तात्पर्यार्थः—यथा पुष्करपलाशवन्निर्लेपेऽपि पुरुषे महत्तत्त्वस्य सुखदुःखानुभवः व्यवह्रियते तथैव साक्षिमात्रे एव त्वयि यादवाः चैद्यं विजित्य विजयफलं दास्यन्ति । तस्मात् विजययात्रायां त्वयि क्लेशलेशोऽपि न ।

भाषा—सेना से किये हुए विजयके साक्षिस्वरूप फलको पाने वाले आप में सांख्यशास्त्र में कहे हुए आत्मा में महत्तत्व के सुखदुःखानुभव की तरह व्यवहार किया जाय ॥ ५९ ॥

परस्य व्यसनमाह—

हते हिडिम्बरिपुणा राज्ञि द्वैमातुरे युधि ।
चिरस्य मित्रव्यसनी सुदमो दमघोषजः ॥ ६० ॥

अन्वयः—हिडिम्बरिपुणा द्वैमातुरे राज्ञि युधि हते चिरस्य मित्रव्यसनी दमघोषजेः सुदमः ।

सुधा—हिडिम्बरिपुणा = भीमेन । द्वैमातुरे=जरासन्धे । राज्ञि=नृपे । युधि=सङ्ग्रामे । हते=मारिते सति । चिरस्य = बहुकालात् । मित्रव्यसनी=सुहृद्-भ्रंशवान । दमघोषजः=दमघोषपुत्रः शिशुपालः । सुदमः=आक्रमितुं शक्यः ॥६०॥

कोशः—'चिरायचिररात्रायचिरस्याद्याश्चिरार्थकाः' मित्रं सखा सुहृत्' 'व्यसनं विपदि भ्रंशे' इति चामरः ।

समासादिः—हिडिम्बरिपुणा–हिडिम्बस्य यो रिपुः तेन । तेनं । द्वैमातुरे-द्वयोर्मात्रोरपत्यं यः पुमान् तस्मिन् । मित्रव्यसनी–मित्रस्य यद्व्यसनं तदस्ति यस्मिन् । सुदमः-सुखेन दम्यते इति सः । दमघोषजः—दमघोषाज्जातः यः सः ।

व्याकरणम्—द्वैमातुरे–द्वि मातृ + अण् 'मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः' इत्युदादेशश्च । युधि + भावे क्विप् । हते—हन् + कर्मणि क्तः नलोपश्च । दमघोषजः—दमघोष — जन् + डः । मित्रव्यसनी–मित्र व्यसन + इनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—मित्रव्यसनिना दमघोषजेन सुदमेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—अस्य परममित्रं मगधेश्वरो दिग्विजये भीमेन मल्लयुद्धे मारितः । अतोऽत्यन्तं मित्रशोकसन्तप्तः शिशुपालः एकाकित्वात् । सुवध्यः । तस्मात् इदानीमेव यानमुचितम् ।

भाषा—भीमसे, जरासन्ध राजा के सङ्ग्राम में मारे जाने पर, बहुत काल से मित्रशोकसे दुःखी यह दमघोषका पुत्र शिशुपाल, अनायास ही से मारने योग्य है॥

आपदि यानस्य वीरे लज्जाकरत्वमिति दर्शयति—

नीतिरापदि यद्गम्यः परस्तन्मानिनो ह्रिये ।
विधुर्विधुन्तुदस्येव पूर्णस्तस्योत्सवाय सः ॥ ६१ ॥

अन्वयः—परः आपदि गम्यः इति नीतिः यत् तत् मानिनः ह्रिये भवति । पूर्णः सः तस्य विधुः विधुन्तुदस्येव उत्सवाय भवति ।

सुधा—परः = शत्रुः । आपदि = विपत्तिकाले । गम्यः = आक्रमणीयः । इति नीतिः = नयः । यत् तत् = आपद्गमनं । मानिनः = शौर्याभिमानवतः पुरुषस्य । ह्रिये=लज्जायै भवति । पूर्णः—मित्रसाहाय्यसहितः परिपूर्णशरीरश्च । सः—

रिपुः । तस्य = मानिनः पुरुषस्य । विधुः = सुधांशुः । विधुन्तुदस्य = राहोः इव । उत्सवाय = आनन्दाय । भवतीति शेषः ॥ ६१ ॥

कोशः—'गर्वोऽभिमानोऽहङ्कारो मानश्चित्तसमुन्नतिः' 'विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुः' 'तमस्तु राहुः स्वर्भानुः' इति चामरः ।

समासादिः—मानिनः मानः अस्ति अस्य । विधुन्तुदः—विधुं तुदतीति तस्य ।

व्याकरणम्—मानिनः—मान + इनिः । गम्यः—गम + यत् । नीतिः—नी + क्तिन् । विधुन्तुदस्य = विधु तुद् + खच् 'विध्वरुषोस्तुदः' इति, अजन्तलक्षणो मुम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—परेण……गम्येन भूयते नीत्या येन भूयते तेन ह्रिये भूयते । पूर्णेन तेन विधुना भूयते ।

तात्पर्यार्थः—आपदि गमनमिति या नीतिः सा दुर्बलानाम्, बलवानेव शत्रुः यातव्य इति च बलवतामिति वय मन्यामहे । अत्र परिपूर्णः चन्द्रः बलवता राहुणा आक्रम्यते इति दृष्टान्तः ।

भाषा—शत्रु विपत्ति के समय आक्रमण करने योग्य है, यह नीति शौर्याभिमान रखनेवाले लोगों के लिये लज्जाकर है । समृद्धिशाली शत्रु मानी पुरुषके लिये, राहु के लिये पूर्ण चन्द्र की तरह आनन्द के लिये होता है ॥ ६१ ॥

तर्हि पूर्वप्रतिपादितमन्वादिशास्त्रेण विरोधो भवेदित्याशङ्क्याह—

अन्यदुच्छृङ्खलं सत्त्वमन्यच्छास्त्रनियन्त्रितम् ।
सामानाधिकरण्यं हि तेजस्तिमिरयोः कुतः ॥ ६२ ॥

अन्वयः—उच्छृङ्खलं सत्त्वम् अन्यत्. शास्त्रनियन्त्रितं सत्त्वम् अन्यत् । तेजस्तिमिरयोः सामानाधिकरण्यं कुतः ।

सुधा—उच्छृङ्खलं = निरर्गल । सत्त्वं = बलम् । अन्यत् = इतरत्, शास्त्रनियन्त्रितं = मनुकामन्दकादिशास्त्रप्रतिपादितम् । सत्त्वं = बलम् । अन्यत् = भिन्नम् । अत्र दृष्टान्तमाह—तेजस्तिमिरयोः = आलोकान्धकारयोः सामानाधिकरण्यम् = एकाधारत्वम । कुतः = कथं सम्भवेत् ? न कथमपि इत्यर्थः ॥ ६२ ॥

कोशः—सत्त्वं स्वभावे उत्साहे बले च' इति कोशान्तरम् । 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः ।

समासादिः—उच्छृङ्खलम्—उच्छिन्नं शृङ्खलं येन तत् । शास्त्रनियन्त्रितम्—

शास्त्रेण यत् नियन्त्रितं तत् । तेजस्तिमिरयोः—तेजश्च तिमिरं चेति तयोः । सामानाधिकरण्यम्—समानम् अधिकरणं ययोः तयोः भावः ।

व्याकरणम्—शास्त्रनियन्त्रितम्—शास्त्र नि यन्त्र+क्त इडागमः । सामानाधिकरण्यम्+ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ् । कुतः—किम्+तसिः 'कु तिहोः' इति किमः कुरादेशः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—उच्छृङ्खलेन सत्त्वेन अन्येन भूयेते, शास्त्रनियन्त्रितेन सत्त्वेनान्येन भूयते । सामानाधिकरण्येन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—स्वसामर्थ्यजं निष्प्रतिबन्धं बलम् अन्यदेव, नीतिशास्त्रानुसारेण लभ्यं बलं च अन्यदेव । उभयोः बलयोः एकाश्रयत्व कथमपि न सम्भवति । तस्मात् अस्माभिः निरर्गलबलशालिभिः चैद्यः अभियातव्यः, न तु कालः प्रतीक्ष्यः ।

भाषा—अप्रतिरुद्ध बल दूसरा है और शास्त्रानुसरण करने से होने वाला बल दूसरा है ये दोनों बल एक जगह किसी तरह नहीं रह सकते । (इस लिये निष्प्रतिबन्धबलवाले हम लोग इसी समय चैद्य के ऊपर आक्रमण करें । समय की राह देखना ठीक नहीं है) ॥ ६२ ॥

अभिगमने कार्यमाह—

इन्द्रप्रस्थगमस्तावत्कारि मा सन्तु चेदयः ।
आस्माकदन्तिसान्निध्याद्वामनीभूतभूरुहः ॥ ६३ ॥

अन्वयः—इन्द्रप्रस्थगमः मा कारि । तावत् चेदयः आस्माकदन्तिसान्निध्यात् वामनीभूतभूरुहः सन्तु ।

सुधा—इन्द्रप्रस्थगमः = इन्द्रप्रस्थनाम्नः राजधानीभूतनगरस्य प्रस्थानं मा कारि । तावत् = प्रथमं । चेदयः = चेदिदेशाः । आस्माकदन्तिसान्निध्यात् = स्वकीयगजसामीप्यात् । वामनीभूतभूरुहः = ह्रस्वीभूतवृक्षाः । सन्तु = भवन्तु ॥ ६३ ॥

कोशः—'दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपो द्विपः । मतङ्गजो गजः', 'खर्वो ह्रस्वश्च वामनः'—'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः' इति चामरः ।

समासादिः—आस्माकदन्तिसान्निध्यात्—अस्माकमिमे आस्माकाः ते च ते दन्तिनश्चेति तेषां यत्सान्निध्यं तस्मात् । वामनीभूतभूरुहः—अवामनाः वामनाः सम्पद्यमानाः वामनीभूताः भूरुहः येषां ते ।

व्याकरणम्—आस्माकदन्तिसान्निध्यात्—अस्मच्छब्दादण्अस्माकादेशश्च, दन्त + इनिः, सन्निधि + स्वार्थे ष्यञ् । सन्तु--अस् + लोट् झि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—······गमं मा कार्षीः ।······चेदिभि······भूरुड्भिः भूयताम् ।

तात्पर्यार्थः—युधिष्ठिरयागे गमनं मा कुरु । वयं चेदिदेशानेव गच्छामः । अस्माकं गजाः तद्देशस्थवृक्षभङ्गं कुर्वन्तु ।

भाषा--पहले इन्द्रप्रस्थ नगर में गमन मत करिये । चेदिदेश हम लोगों के हाथियों के सान्निध्य से, नाटे हैं वृक्ष जिसमें ऐसा हो जाय ।। ६३ ।।

आक्रमणप्रकारमाह--

निरुद्धवीवधासारप्रसारा गा इव व्रजम् ।
उपरुन्धन्तु दाशार्हाः पुरीं माहिष्मतीं द्विषः ॥ ६४ ॥

अन्वयः—दाशार्हाः निरुद्धवीवधासारप्रसाराः सन्तः व्रजं गाः इव माहिष्मतीं पुरीं द्विषः उपरुन्धन्तु ।

सुधा—दाशार्हाः = दशार्हदेशस्थायिनः, यादवाः इत्यर्थः । निरुद्धवीवधासारप्रसाराः—निरुद्धः = प्रतिरुद्धः, वीवधः=धान्यादिप्राप्तिः, आसारः = सुहृद्बलं, प्रसारः = तृणकाष्ठादीनां प्रवेशः, यैः एवम्भूताः सन्तः । व्रजं गाः इव = गोष्ठं धेनूः इव । माहिष्मतीं पुरीं = तन्नाम्नीं चेदिनगरीं । द्विषः = शत्रून् । उपरुन्धन्तु= आवृण्वन्तु ।। ६४ ।।

कोशः--'गोष्ठाध्वनिवहा व्रजाः' 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इति चामरः ।

समासादिः—दाशार्हाः—दशार्हाणामिमे दाशार्हाः । माहिष्मतीम्—महिषाणां निवासः महिष्मान् तत्र भवा पुरी माहिष्मती । ताम् ।

व्याकरणम्—उपरुन्धन्तु—उप रुध् + लोट् झि । दाशार्हाः—दशार्ह + अण् । महिष्मत् + अण्, स्त्रियां ङीप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—दाशार्हैः···प्रसारैः सद्भिः माहिष्मती पुरी उपरुध्यताम् ।

तात्पर्यार्थः--यथा गोपालाः गोष्ठे गाः उपरुन्धन्ति तथैव यादवा अपि माहिष्मत्यां नगर्यां चैद्यादीन् शत्रून् उपरुन्धन्तु ।

भाषा—यादव लोग धान्यादि-प्राप्ति, मित्रबल और तृणकाष्ठप्रवेश को रोकते हुए गोष्ठ में गौवों की तरह माहिष्मती नगरी में शत्रुओं को रोकें ॥ ६४॥

तर्हि युधिष्ठिरयागस्य का गतिरित्याशङ्क्याह—

यजतां पाण्डवः स्वर्गमवत्विन्द्रस्तपत्विनः।
वयं हनाम द्विषतः सर्वः स्वार्थं समीहते ॥ ६५ ॥

अन्वयः—पाण्डवः यजताम्, इन्द्रः स्वर्गम् अवतु, इनः तपतु, वयं द्विषतः हनाम। सर्वः स्वार्थं समीहते।

सुधा—पाण्डवः=युधिष्ठिरः। यजतां=यागं करोतु, इन्द्रः=मघवा। स्वर्गम्=दिवम्। अवतु=रक्षतु। इनः=सूर्यः। तपतु=दीप्तो भवतु। वयमपि द्विषतः=शत्रून्। हनाम—व्यापादयाम। तथाहि-सर्वः जनः स्वार्थं=स्वप्रयोजनं। समीहते=अभिलषति ॥ ६५ ॥

कोशः—'इन्द्रो मरुत्वान्मघवा' 'इनो भगो धामनिधिः' इति चामरः।

समासादिः—पाण्डवः—पाण्डोरपत्यं पुमान्।

व्याकरणम्—पाण्डवः—पाण्डु+अण्। यजताम्—यज्+लोट्। तपतु—तप्+लोट् तिप्। हनाम—हन्+लोट्+मस् आट् सलोपश्च।

वाच्यपरिवर्तनम्—पाण्डवेन इज्यताम्, इन्द्रेण स्वर्गः अव्यताम्, इनेन तप्यताम्, अस्माभिः द्विषन्तः हन्यन्ताम्। सर्वेण स्वार्थः समीह्यते।

तात्पर्यार्थः—युधिष्ठिरः यागं करोतु, सूर्यः दीप्तो भवतु, इन्द्रः स्वर्गं रक्षतु, वयं शत्रून् मारयामः। सर्वो लोकः स्वार्थमेव करोति।

भाषा—युधिष्ठिर राजा यज्ञ करें। इन्द्र स्वर्ग की रक्षा करें। सूर्य प्रकाशित हों। हम लोग शत्रुओं को मारें। क्योंकि सारी दुनिया स्वार्थ को ही चाहती है ॥ ६५ ॥

कर्तव्यमेवाह—

प्राप्यतां विद्युतां सम्पत्सम्पर्कादर्करोचिषाम्।
शस्त्रैर्द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः ॥ ६६ ॥

अन्वयः—द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैःशस्त्रैः अर्करोचिषां सम्पर्कात् विद्युतां सम्पत् प्राप्यताम्।

सुधा—द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः=शत्रुमूर्धच्छेदोद्गच्छद्रक्तसिक्तैः।

शस्त्रैः=आयुधैः । अर्करोचिषां=सूर्यतेजसां । सम्पर्कात्=सम्बन्धात् । विद्युतां= तडितां । सम्पत्=लक्ष्मीः । प्राप्यतां=लभ्यताम् ।। ६६ ।।

कोशः—'रक्तक्षतजशोणितम्', 'आयुधं तु प्रहरणं शस्त्रमस्त्रमथास्त्रियौ'। 'तडित्सौदामिनीविद्युच्चञ्चला चपला अपि', 'रोचिः शोचिरुभे क्लीवे प्रकाशो द्योत आतपः' इति चामरः ।

समासादिः—द्विषच्छिरश्छेदप्रोच्छलच्छोणितोक्षितैः—द्विषतां यानि शिरांसि तेषां छेदेन प्रोच्छलत् यत् शोणितं तेन यान्युक्षितानि तैः । अर्करोचिषाम्—अर्कस्य यानि रोचींषि तेषाम् ।

व्याकरणम्—विद्युताम्=विद्युत्+क्विप् । सम्पत्—सम् पद्+क्विप् । प्राप्यताम्—प्र आप्+लोट् कर्मणि त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—"'उक्षितानि शस्त्राणि"'सम्पदं प्राप्नुवन्तु ।

तात्पर्यार्थः—अस्माकं खड्गाः शत्रुशिरांसि हठात् खण्डयन्तु: तेषां रुधिरैः सिक्ताश्च ते खड्गाः सूर्यकिरणसम्बन्धात् विद्युत्किरणशोभां लभन्ताम् ।

भाषा—शत्रुओं के सिर काटने से निकलने वाले खून से लथपथ हुए शस्त्रों से सूर्यकिरण लगने के कारण बिजली की शोभा पायी जाय ।। ६६ ।।

अभियानसिद्धान्ते सभाभित्तिप्रतिशब्दे चित्रलिखितदेवताकर्तृकसम्मतिमुत्प्रेक्षते—

इति संरम्भिणो वाणीर्बलस्यालेख्यदेवताः ।
सभाभित्तिप्रतिध्वानैर्भयादन्ववदन्निव ।। ६७ ।।

अन्वयः—इति संरम्भिणः बलस्य वाणीः आलेख्यदेवताः सभाभित्तिप्रतिध्वानैः भयात् अन्ववदन्निव ।

सुधा—इति=इत्थम् । संरम्भिणः=क्षोभिणः । बलस्य=रामस्य । वाणी= वचनानि । आलेख्यदेवताः=चित्रलिखितदेवताः । सभाभित्तिप्रतिध्वानैः=सभाभवन-भित्तिप्रतिशब्दैः । भयात्=भीतेः । अन्ववदन्=अन्वमोदयन्निव ।। ६७ ।।

कोशः—'कालिन्दीभेदनो बलः' 'स्त्री प्रतिश्रुत्प्रतिध्वानम्' इति चामरः ।

समासादिः—सभाभित्तिप्रतिध्वानैः—सभायाः याः भित्तयः तासाम् प्रति-ध्वानैः । आलेख्यदेवताः—आलेख्येषु याः देवताः ताः ।

व्या०—संरम्भिणः—सम् रम्भ+णिनिः । अन्ववदन्—अनुवद+लङ् झि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—वाण्यः"'देवताभिः"'"'अन्वोद्यन्त ।

तात्पर्यार्थः—बलदेववचनान्तरं तस्य वचने सभागृहभित्तिप्रतिशब्दै देवतानां सम्मतिरिव बभूव ।

भाषा—इस तरह चञ्चल ऐसे बलदेव की वाणी को चित्रलिखित देवता सभागृहकी दीवाल के प्रतिशब्दों से मानों भय के कारण अनुमोदित करती भई ॥६७॥

तदनन्तरमुद्धवं श्रीहरिः अभिधानाय सूचितवानित्याह—

निशम्य ताः शेषगवीरभिधातुमधोक्षजः ।
शिष्याय बृहतां पत्युः प्रस्तावमदिशद् दृशा ॥ ६८ ॥

अन्वयः—अधोक्षजः ताः शेषगवीः निशम्य बृहतां पत्युः शिष्याय अभिधातुं दृशा प्रस्तावम् अदिशत् ।

सुधा—अधोक्षजः = श्रीकृष्णः । ताः = पूर्वोक्ताः । शेषगवीः = शेषावतारभूतबलवचनानि । निशम्य = श्रुत्वा । बृहतां पत्युः=बृहस्पतेरित्यर्थः । शिष्याय= उद्धवाय । इति यावत् । अभिधातुं=वक्तुं । दृशा=दृक्कोणसंज्ञया । प्रस्तावम् = अवसरम् । अदिशत् = ददौ ॥ ६८ ॥

कोशः—'वनमाली बलिध्वंसी कंसारातिरधोक्षजः', 'स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्टया स्त्रियां पुंसि गौः', 'बृहस्पतिः सुराचार्यो गीष्पतिर्धिषणो गुरुः', 'प्रस्तावः स्यादवसरः' इति चामरः ।

समासादिः—अधोक्षजः—अक्षेभ्यः जातम् अधः कृतं येन सः । शेषगवीः—शेषस्य याः गावः ताः ।

व्याकरणम्—निशम्य—नि शम् + क्त्वो ल्यप् । बृहताम्—बृह + पतिः, तस्य च शतृवद्भावः । अभिधातुम्—अभि धा + तुमुन् । अदिशत्—दिश + लङ् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अधोक्षजेन प्रस्तावः अदिश्यत ।

तात्पर्यार्थः—अनन्तरं बलवचनं श्रुत्वा श्रीकृष्णः अभिधानाय उद्धवं दृक्संज्ञया सूचयामास ।

भाषा—श्रीकृष्णजी ने बलराम के वचन को सुनकर बृहस्पति के शिष्य उद्धव को बोलने के लिये टेढ़ी नजर से अवसर दिया ॥ ६८ ॥

उद्धवकथनप्रकारमाह—

भारतीमाहितभरामथोद्धतमुद्धवः ।
तथ्यामुतथ्यानुजवज्जगादाग्रे गदाग्रजम् ॥ ६९ ॥

अन्वयः—अथ उद्धवः आहितभरां तथ्यां भारतीम् अनुद्धतं गदाग्रजम् अग्रे उतथ्यानुजवत् जगाद।

सुधा—अथ=कृष्णानुमतिज्ञानानन्तरम्। उद्धवः=तन्नामा यादवविशेषो मन्त्री। आहितभराम्=स्थापितार्थगौरवाम्। तथ्याम्=सत्याम्। भारतीम्=वाणीम्। अनुद्धतम्=गर्वरहितम् यथा स्यात् तथा। गदाग्रजम्=श्रीकृष्णम्, अग्रे=पुरतः। उतथ्यानुजवत्=उतथ्यनाम्नः अनुजः बृहस्पतिरिवेति यावत्। जगाद=उवाच ॥६९॥

कोशः—'सत्यं तथ्यमृतं सम्यगमूनि त्रिपु तद्वति' 'ब्राह्मी तु भारती भाषा गीर्वाग्वाणी सरस्वती' चामरः।

समासादिः—आहितभराम्—आहितः भरः यस्यां सा ताम्। अनुद्धतम्—न उद्धतम्, कि० वि०। उतथ्यानुजवत्=अनुजातः अनुजः, उतथ्यस्य यः अनुजः तेन तुल्यमिति। गदाग्रजम्—गदस्य अग्रजः यस्तम्।

व्याकरणम्—उतथ्यानुजवत्=उतथ्यानुज+'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति वतिः। जगाद—गद+लट् णल्।

वाच्यपरिवर्तनम्— अथोद्धवेन आहितभरा तथ्या भारती जगदे।

तात्पर्यार्थः—उद्धवोऽपि वचनावसरं लब्ध्वा श्रीकृष्णसम्मुखे सारगर्भितां वाचं जगाद।

भाषा—श्रीकृष्णजी की सूचना के बाद उद्धव जी सारगर्भित सत्य ऐसी वाणी को गर्वरहित जिस तरह हो श्रीकृष्णजीके सामने बृहस्पति की तरह बोले॥

सम्प्रति वचनस्वरूपं दर्शयति—

सम्प्रत्यसाम्प्रतं वक्तुमुक्ते मुसलपाणिना।
निर्धारितेऽर्थे लेखेन खलूक्त्वा खलु वाचिकम् ॥ ७० ॥

अन्वयः—सम्प्रति मुसलपाणिना उक्ते सति वक्तुम्। असाम्प्रतम्। लेखेन अर्थे निर्धारिते सति वाचिकं खलु उक्त्वा खलु।

सुधा—सम्प्रति=अधुना। मुसलपाणिना=हलधरेण। उक्ते=कथिते सति। वक्तुं=कथितुम्। असाम्प्रतम्=अयुक्तम्। लेखेन=पत्रेण। अर्थे=वाच्ये। निर्धारिते=निर्णीते। सति। वाचिकं=संदेशवाचम्। खलु उक्त्वा खलु=कथनेनालम्, न वाच्यमित्यर्थः ॥ ७० ॥

कोशः—'तालाङ्को मुसली हली', 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु'

'सन्देशवाग्वाचिकं स्यात्', 'निषेधावक्यालङ्कारे जिज्ञासाऽनुनये खलु' इति चामरः ।

समासादिः—मुसलपाणिना—मुसलं पाणौ यस्य तेन । लेखेन—लिख्यते इति लेखस्तेन । असाम्प्रतम्—न साम्प्रतम् असाम्प्रतम् ।

व्याकरणम्—वक्तुं–वच्+तुमुन् । उक्ते–वच्+क्तः, यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । निर्धारिते–निर् धृ+णिच् क्त । वाचिकम्–वाच्+स्वार्थे ठक् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—...असाम्प्रतं भूयते ।

तात्पर्यार्थः—बलेन यानमङ्गीकृतं चेत्तदा मद्वचनस्य किमपि प्रयोजनं नास्ति यतो लेखेन कर्त्तव्यं निश्चित्य बचसा कथनमकथनमिव भवति इति उद्धवाशयः ।

भाषा—इस समय मुसलधारण करने वाले बलभद्रजी के कथन के बाद दूसरा कुछ भी कहना ठीक नहीं है । क्योंकि पत्र के द्वारा कार्य निश्चित हो जाने पर सन्देश कहना अनुचित होता है ।। ७० ।।

श्रीकृष्णकृतम् आत्मनि गौरवं कथने प्रयोजकमिति दर्शयति—

तथापि ते यन्मय्यपि गुरुरित्यस्ति गौरवम् ।
तत्प्रयोजककर्तृत्वमुपैति मम जल्पतः ।। ७१ ।।

अन्वयः—तथापि ते मयि अपि गुरुः इति यत् गौरवम् अस्ति तत् जल्पतः मम प्रयोजककर्तृत्वम् उपैति ।

सुधा—तथापि=बलेन निश्चितेऽपि । ते=तव । मयि=मद्विषये । अपि गुरुः=पूज्यः । इति यत् गौरवम्=आदरः अस्ति । तत्=गौरवम् । जल्पतः=गदतः । मम=मे । प्रयोजककर्तृत्वं=प्रेरकत्वम् । उपैति=प्राप्नोति ।। ७१ ।।

कोशः—'गुरुस्तु गीष्पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति विश्वः ।

समासादिः—गौरवम्—गुरोर्भावः । प्रयोजककर्तृत्वम्–प्रयोजकश्चासौ कर्ता च तस्य भावः ।

व्याकरणम्—गौरवम्–गुरु+अण् । उपैति–उप इ+लिट् तिप् । जल्पतः जल्प+कर्तरि शतृ । कर्तृत्वम्–कर्तृ+त्व ।

वाच्यपरिवर्तनम्—येन गौरवेण भूयते तेन उपेयते ।

तात्पर्यार्थः—रामेण निर्णीतेऽपि अयं मे गुरुः इति मयि तव आदरं दृष्ट्वा किञ्चिद्वक्तुम् उत्सुकोऽस्मि ।

भाषा—बलभद्रजी के निर्णय करने पर भी यह हमारे पूज्य हैं, ऐसा हमारे

विषयमें जो तुम्हारा आदर है वही मुझे कुछ बोलने के लिये प्रेरणा कर रहा है ॥

रामेणैव सर्वस्मिन् निर्णीते सति त्वया वाच्यं किमस्ति इत्याशङ्क्य रामकृत-वृथाप्रपञ्चं मनसि निधाय त्रिभिः श्लोकैः बाह्यां स्तुतिं करोति—

वर्णैः कतिपयैरेव ग्रथितस्य स्वरैरिव ।
अनन्ता वाङ्मयस्याहो ! गेयस्येव विचित्रता ॥ ७२ ॥

अन्वयः—कतिपयैः एव वर्णैः स्वरैः इव ग्रथितस्य वाङ्मयस्य गेयस्य इव विचित्रता अनन्ता अहो ।

सुधा—कतिपयैः=परिमितैः । एव वर्णैः=पञ्चाशन्मातृकाक्षरैः । स्वरैः=सप्तभिः निषादादिभिः इव । ग्रथितस्य=गुम्फितस्य । वाङ्मयस्य=शब्दसमूहस्य । गेयस्य=गानस्य इव । विचित्रता=वैचित्र्यम् । अनन्ता=अपरिमिता । अहो=आश्चर्यम् ॥

कोशः—'निषादर्षभगान्धारषड्जमध्यमधैवताः । पञ्चमश्चेत्यमी सप्त तन्त्रीकण्ठोत्थिताः स्वराः', 'गीतं गानमुभे समे' इति चामरः ।

समासादिः—वाङ्मयस्य—वाचो विकारः तस्य । विचित्रता—विशेषेण चित्रं विचित्रं तस्य भावः ताम् । अनन्ता=न विद्यते अन्तः यस्याः सा ।

व्याकरणम्—वाङ्मयस्य—वाक्+मयट् । गेयस्य—गा+यत् 'ईद्यति' इति ईकारः गुणश्च । विचित्रता—वि चित्र+तल् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विचित्रतया अनन्तया भूयते ।

तात्पर्यार्थः—बलदेवेन सर्वस्मिन्कार्ये कृतनिश्चयेऽपि मद्वचनस्य पुनरुक्तिर्माभूत् । यतः एकमेव वस्तु पञ्चाशन्मातृकाक्षराणां निषादादिसप्तस्वराणां च रचनावैचित्र्यात् बहुधा वर्णयितुं शक्यते ।

भाषा—पचास ही वर्णों से तथा निषादादि सात स्वरों से ग्रथित शब्दसमूह की गायन की तरह विचित्रतायें अनन्त होती हैं, यह आश्चर्य है ॥ ७२ ॥

तदेवाह—

बह्वपि स्वेच्छया कामं प्रकीर्णमभिधीयते ।
अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः ॥ ७३ ॥

अन्वयः—स्वेच्छया प्रकीर्णं बहु अपि कामम् अभिधीयते । अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धः दुरुदाहरः ।

सुधा—स्वेच्छया = निजेच्छया। प्रकीर्णम् = असङ्गतं। बहु अपि = अधिकमपि। कामं = यथेष्टम्। अभिधीयते = उच्यते। अनुज्झितार्थसम्बन्धः = अपरित्यक्तवाच्यसम्बन्धः। प्रबन्धः = सन्दर्भः। दुरुदाहरः = दुःकथनीवः ॥ ७३ ॥

कोशः—'स्वेच्छा यदृच्छा स्वच्छन्दः' इत्यमरः।

समासादिः—स्वेच्छया—स्वस्य या इच्छा तया। अनुज्झितार्थसम्बन्धः—न उज्झितः अर्थेन सह सम्बन्धः यस्मिन् सः। दुरुदाहरः—दुःखेन उदाह्रियते इति दुरुदाहरः।

व्याकरणम्—प्रबन्धः = प्र बन्ध + अच्। दुरुदाहरः—दुर् यद् आङ् हृ + खल्। अभिधीयते—अभि धा + लट् त।

वाच्यपरिवर्तनम्—अभिधत्ते।'''सम्बन्धे प्रबन्धेन दुरुदाहरेण भूयते।

तात्पर्यार्थः—असम्बद्धप्रबन्धवक्ता तु सुलभः। पूर्वोत्तरसम्बन्धसहितः प्रबन्धस्तु कदाचिदेव केनचिद्विरच्यते।

भाषा—अपनी समझ के अनुसार असङ्गत भी अधिक यथेष्ट कहा जाता है। परन्तु अर्थके साथ न छोड़ने वाला प्रबन्ध बड़ी कठिनता से कहा जाता है। ७३॥

म्रदीयसीमपि घनामनल्पगुणकल्पिताम्।
प्रसारयन्ति कुशलाश्चित्रां वाचं पटीमिव ॥ ७४ ॥

अन्वयः—कुशलाः म्रदीयसीम् अपि घनाम् अनल्पगुणकल्पितां चित्रां वाचं पटीम् इव प्रसारयन्ति।

सुधा—कुशलाः=कृतिनः। म्रदीयसीम् = अतिकोमलाक्षराम् श्लक्ष्णतमां च। घनाम् = अर्थगाम्भीर्ययुक्ताम्, अन्यत्र निबिडसूत्रमिलिताम्। अनल्पगुणकल्पितां= समधिकृतया श्लेषादिना विरचिताम्, अन्यत्र बहुतन्तुनिर्मिताम्। चित्रां = शब्दवैचित्र्ययुक्ताम्, अन्यत्राश्चर्योत्पादिकाम् विविधवर्णां वा। वाचं = वाणीं। पटीं= शाटीम् इव। प्रसारयन्ति = विस्तारयन्ति ॥ ७४ ॥

कोशः—'कृती कुशल इत्यपि' 'गीर्वाग्वाणी सरस्वती' इति चामरः।

समासादिः—म्रदीयसीम्—अतिशयेन मृद्वी या ताम्। अनल्पगुणकल्पिताम्—अनल्पाः ये गुणाः तैः या कल्पिता ताम्।

व्याकरणम्—म्रदीयसीम्—मृदु + ईयसुन् ऋकारस्य रेफादेशः। प्रसारयन्ति = प्रसृ + लट् झि।

वाच्यपरिवर्तनम्—कुशलैः म्रदीयसी घना···कल्पिता चित्रा वाक पटीव प्रसार्यते।

तात्पर्यार्थः—निपुणाः जनाः कोमलां बहुगुणगरीयसीं सारगर्भितां वाचं प्रवदन्ति।

भाषा—चतुर लोग अत्यन्त कोमल होनेपर भी अत्यन्त गाढ, अनेक गुणोंसे विरचित तथा वैचित्र्यसे युक्त ऐसे वचनको पटी (साड़ी) की तरह फैलाते हैं॥

निजगर्वपरिहारं दर्शयति—

विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा॥ ७५॥

अन्वयः—विशेषविदुषः तव पुरः शास्त्रम् उद्ग्राह्यते इति यत् सा वक्तुः परिचयस्थैर्ये हेतुः गुणनिका एव।

सुधा—विशेषविदुषः=विशेषपण्डितस्य। तव=भवतः। पुरः=अग्रे। शास्त्रम्=नीतिशास्त्रम्। उद्ग्राह्यते=उपस्थाप्यते। इति यत् सा=तदुद्ग्राहणम्। विधेयप्राधान्यात् स्त्रीत्वम्। वक्तुः=कथयितुः। परिचयस्थैर्ये=अभ्यासदृढत्वे। हेतुः=कारणभूता। गुणनिका=अभ्यास एव॥ ७५॥

कोशः—'अभ्यासे गुणनी योग्या' इति त्रिकाण्डशेषः।

समासादिः—विशेषविदुषः—विशेषं विद्वानिति तस्य। परिचयस्थैर्ये—स्थिरस्य भावः स्थैर्यम्, परिचयस्य यत् स्थैर्यं तस्मिन्।

व्याकरणम्—विदुषः—विद्+लट् शतृ वसुः। उद्ग्राह्यते उद् ग्रह+णिच् यक्। गुणनिका—गुणनी+स्वार्थे कन्। परिचयस्थैर्ये—परिचय स्थिर+ष्यञ्।

वाच्यपरिवर्तनम्—···उद्ग्राहयामि यत् तया···हेतुनागुणनिकया भूयते।

तात्पर्यार्थः—शास्त्रमर्मज्ञो भवान्, अतः त्वदग्रे शास्त्रचर्चा मया न क्रियते, किन्तु ममैव अभ्यासदार्ढ्यसम्पादनाय किञ्चिद् ब्रवीमि।

भाषा—शास्त्र का तत्त्व जानने वाले आप के आगे जो शास्त्र दिखाया जा रहा है, अभ्यास स्थिर करने में कारणरूप यह वक्ता का अभ्यास ही है॥७५॥

इदानीं निजमतं दर्शयति—

प्रज्ञोत्साहावतः स्वामी यतेताधातुमात्मनि।
तौ हि मूलमुदेष्यन्त्या जिगीषोरात्मसम्पदः॥ ७६॥

अन्वयः—अतः स्वामी प्रज्ञोत्साहौ आत्मनि आधातुं यतेत । हि तौ उदेष्यन्त्याः जिगीषोः आत्मसम्पदः मूलम् ।

सुधा—अतः=अस्मात्कारणात् । स्वामी=प्रभुः । प्रज्ञोत्साहौ=बुद्ध्युत्साहौ । आत्मनि=स्वस्मिन् । आधातुं=स्थापयितुं । यतेत=उद्युञ्जीत । हि=यस्मात्कारणात् । तौ=प्रज्ञोत्साहौ । उदेष्यन्त्याः=वर्त्स्यन्त्याः । जिगीषोः=जेतुमिच्छोः । आत्मसम्पदः=निजसामर्थ्यस्य । मूलम्=आदिकारणम् ।। ७६ ।।

कोशः—'उत्साहोऽध्यवसायः स्यात्', 'बुद्धिर्मनीषा धिषणा' इति चामरः ।

समासादिः—प्रज्ञोत्साहौ—प्रज्ञा च उत्साहश्चेति तौ । जिगीषोः—जेतुमिच्छतीति जिगीषुः तस्य । आत्मसम्पदः—आत्मनः या सम्पत् तस्याः ।

व्याकरणम्—स्वामी—'स्वामिन्नैश्वर्ये' इति निपातः । जिगीषोः—जि+सन् उः । यतेत—यत्+लिङ् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—...स्वामिना...यत्येत । ताभ्यां...... मूलेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—नृपतिना सदा प्रज्ञावता उत्साहवता च भवितव्यम् । ताभ्यामेव सम्पदमाप्तुं शक्नोति । अन्यतरेण तु नैव ।

भाषा—इसलिये प्रभु बुद्धि और उत्साह को सम्पादन करने के लिए यत्न करे। क्योंकि वे दोनों बढ़नेवाले विजयेच्छु की सम्पत्ति का प्रधान कारण होते हैं ।७६।।

पूर्वोक्तप्रज्ञायाः ग्राह्यत्वे प्रयोजनमाह—

सोपधानां धियं धीराः स्थेयसीं खट्वयन्ति ये ।
तत्रानिशं निषण्णास्ते जानते जातु न श्रमम् ।। ७७ ।।

अन्वयः—ये धीराः सोपधानां स्थेयसीं धियं खट्वयन्ति ते तत्र अनिशं निषण्णाः सन्तः जातु श्रमं न जानते ।

सुधा—ये धीराः=स्थिरबुद्धिमन्तः । सोपधानाम्=उपधानसहिताम्, युक्तियुक्तामित्यर्थः । स्थेयसीं=सुस्थिराम्, गाम्भीर्ययुक्तामित्यर्थः । द्रढीयसीं च धियम्=प्रज्ञाम् । खट्वयन्ति=खट्वाम् कुर्वन्तीत्यर्थः । तामाश्रित्य कार्यम् कुर्वन्तीति यावत् । ते धीराः । तत्र=प्रज्ञापर्यङ्के । अनिशं=सदा । निषण्णाः=विश्रान्ताः सन्तः । जातु=कदाचित् । श्रमं=खेदं । न जानते=न विदन्ति ।। ७७ ।।

कोशः—'धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः', 'उपधानं तूपबर्हः', 'सततानारताश्रान्तसन्तताविरतानिशम्' इति चामरः ।

समासादिः—सोपधानाम्—उपधानेन सहिता ताम् । अनिशम्—न विद्यते निशा यस्मिन् तत् ।

व्याकरणम्—स्थेयसीम्—स्थिर+ईयसुन् 'प्रियस्थिर' इत्यादिना स्थिरस्य स्थादेशः, ततो ङीप् । खट्वयन्ति खट्वा+णिच् लट् झि । जानते–ज्ञा+लट् झ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—यैः धीरैः सोपधाना स्थेयसी धीः खट्व्यते,""तैः निषण्णैः सद्भिः श्रमः न ज्ञायते ।

तात्पर्यार्थः—ये जनाः सर्वदा प्रज्ञारूपां शय्यामधिशय्य उत्साहपूर्वकं कर्म कुर्वते ते कार्यविधाने किञ्चिदपि श्रमं न प्राप्नुवन्ति । अतः प्रज्ञापूर्वक एवोत्साहः सेव्य, न केवल इति भावः ।

भाषा—जो बुद्धिमान लोग उपधान (तकिया) सहित अत्यन्त स्थिर ऐसी बुद्धि को खटिया बनाते हैं, वे लोग उस बुद्धिरूपी खटिया पर सर्वदा सोते हुए किसी समय भी परिश्रम को नहीं जानते ॥ ७७ ॥

कुशाग्रबुद्धेः कार्यसाधकत्वं तदितरस्य कार्यसाधकत्वाभावं च दर्शयति—

स्पृशन्ति शरवत्तीक्ष्णाः स्तोकमन्तर्विशन्ति च ।
बहुस्पृशाऽपि स्थूलेन स्थीयते बहिरश्मवत् ॥ ७८ ॥

अन्वयः—तीक्ष्णाः शरवत् स्तोकं स्पृशन्ति, अन्तः च विशन्ति । स्थूलेन बहुस्पृशा अपि अश्मवत बहिः स्थीयते ।

सुधा–तीक्ष्णाः=निशिताः, प्रज्ञाः । शरवत् = वाणवत् । स्तोकम् = अल्पम् । स्पृशन्ति = स्पर्शं कुर्वन्ति । अन्तः = कार्यान्तं च । विशन्ति = प्रविशन्ति । स्थूलेन = मन्देन वृहता च । बदुस्पृशा अपि = बहुस्पर्शवता अपि । अश्मवत् = पाषाणवत् । बहिः = कार्यबहिःप्रदेशे । स्थीयते = उष्यते ॥ ७८ ॥

कोशः—'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः' 'स्तोकाल्पक्षुल्लकाः' इति चामरः ।

समासादिः—बहुस्पृशा–बहु स्पृशतीति तेन । शरवत्–शरेण तुल्यम् । अश्मवत्–अश्मना तुल्यमिति ।

व्याकरणम्—स्पृशन्ति—स्पृश+लट् झि । शरवत्—शर+वतिः, अश्मवत्— अश्मन्+वतिः, 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इत्युभयध । स्थीयते= स्था+भावे लट् त ईत्वम् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तीक्ष्णः''''''स्तोकं स्पृश्यते अन्तर्विश्यते च । बहुस्पृक् स्थूलः बहिस्तिष्ठति ।

तात्पर्यार्थः—तीक्ष्णबुद्धिमन्तः स्वल्पप्रयासेनैव कार्यं समापयन्ति । मूर्खाः बहुपरिश्रमं कुर्वन्ति परन्तु किञ्चिदपि कार्यं साधयितुं न पारयन्ति ।

भाषा—तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग बाण की तरह थोड़ा स्पर्श करते हैं, पर कार्य के पार पहुंचते हैं । और मन्द बुद्धिवाला बहुत स्पर्श करता हुआ भी पत्थर की तरह कार्य के बाहर ही रहता है ॥ ७८ ॥

तदेव भङ्ग्यन्तरेणाह—

आरभन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च ।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः ॥ ७९ ॥

अन्वयः—अज्ञाः अल्पम् एव आरभन्ते, काम व्यग्राश्च भवन्ति । कृतधियः महारम्भाः निराकुलाश्च तिष्ठन्ति ।

सुधा—अज्ञाः=मूर्खाः । अल्पम्=स्तोकम् । एव । कार्यम्=कर्तव्यम् । आरभन्ते=प्रक्रमन्ते । कामम्=अत्यन्तम् । व्यग्राः=व्याकुलाः । च । भवन्ति=जायन्ते, न च कार्यपारम् गच्छन्तीत्यर्थः । कृतधियः=निश्चितबुद्धयस्तु । महारम्भा=महोद्योगाः । निराकुलाः=स्वस्थचित्ताश्च तिष्ठन्ति, कार्यपारम् गच्छन्तीत्यर्थः ॥

कोशः—'व्यग्रो व्यासक्त आकुले' 'अज्ञे मूढयथाजातमूर्खवैधेयबालिशाः' इति चामरः ।

समासादिः—अज्ञाः—न जानन्तीति अज्ञाः । व्यग्राः=विगतम् अग्रं येषान्ते । महारम्भाः—महान्तः आरम्भाः येषान्ते महारम्भाः कृतधियः—कृता धीः येषान्ते । निराकुलाः—आकुलेभ्यः निर्गताः ये ते ।

व्याकरणम्—आरभन्ते=आ रभ्+लट् झ ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अज्ञेन स्वल्पम् आरभ्यते, व्यग्रेण च भूयते । कृतधीभिः महारम्भैः भूयते निराकुलैश्च स्थीयते ।

तात्पर्यार्थः—महान्तः प्रज्ञाः महारम्भे अपि निराकुला भवन्ति । जडास्तु स्वल्पे अपि आरम्भे व्याकुला भवन्ति ।

भाषा—मूर्ख लोग छोटा सा कार्य शुरू करते हैं और अत्यन्त घबड़ाते हैं । तीक्ष्ण बुद्धि वाले लोग बड़े कार्य का आरम्भ करके भी स्वस्थचित्त रहते हैं ॥

प्रज्ञावतः प्रमादेन कार्यं नश्यतीत्याह—

उपायमास्थितस्यापि नश्यन्त्यर्थाः प्रमाद्यतः ।
हन्ति नोपशयस्थोऽपि शयालुर्मृगयुर्मृगान् ॥ ८० ॥

अन्वयः—उपायम् आस्थितस्य अपि प्रमाद्यतः अर्थाः नश्यन्ति । शयालुः मृगयुः उपशयस्थः अपि मृगान् न हन्ति ।

सुधा—उपायम्=कार्यसाधनार्थम् । आस्थितस्य=अधितिष्ठतः । अपि प्रमाद्यतः=अनवहितस्य । अर्थाः=कार्याणि । नश्यन्ति । तथाहि—शयालुः=निद्रालुः । मृगयुः=व्याधः । उपशयस्थोऽपि=मृगमार्गे प्रच्छन्नस्थाने वर्तमानोऽपि । मृगान्=हरिणान् । न हन्ति=न मारयति ॥ ८० ॥

कोशः—'प्रमादोऽनवधानता' 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' 'मृगे कुरङ्गवातायुहरिणाजिनयोनयः' इति चामरः ।

समासादिः—मृगयुः=मृगान् यातीति सः । उपशयस्थः—उपशेते अस्मिन्निति उपशयः तस्मिंस्तिष्ठतीति सः ।

व्याकरणम्—प्रमाद्यतः—प्र माद+कर्तरि लट् दिवादित्वात् श्यन् । नश्यन्ति—नश्+लट् झि । हन्ति—हन्+लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अर्थैः नश्यते । शयालुना मृगयुना मृगा न हन्यन्ते ।

तात्पर्यार्थः—चतुरः पुरुषोऽपि उत्साहं विहाय यदि प्रमाद्येत तदा सोऽपि कार्यं न साधयिष्यति । तस्मात्प्रमादो न कर्तव्यः ।

भाषा—उपाय का आश्रय करने पर भी प्रमाद करने वाले पुरुष के कार्य नष्ट हो जाते है । क्योंकि सोनेवाला व्याध मृग के रास्ते पर बैठा हुआ भी मृगों को नहीं मार सकता है ॥ ८० ॥

उत्साहावश्यकत्वं दर्शयति—

उदेतुमत्यजन्नीहां राजसु द्वादशस्वपि ।
जिगीषुरेको दिनकृदादित्येष्विव कल्पते ॥ ८१ ॥

अन्वयः—जिगीषुः एकः द्वादशसु अपि राजसु आदित्येषु दिनकृदिव ईहाम् अत्यजन् उदेतुं कल्पते ।

सुधा—जिगीषुः—जयाभिलाषी । एकः=एकाक्येव । द्वादशसु अपि राजसु=भूपेषु मध्ये । द्वादशसु आदित्येषु=सूर्येषु । दिनकृत्=दिवसविधाने उद्युक्तः भास्करः इव । ईहाम्=उत्साहम् । अत्यजन्=अजहत्, उत्साहमाश्रयन्नित्यर्थः । उदेतुं कल्पते=उदयाय प्रभवति ॥ ८१ ॥

कोशः—'राजा राट पार्थिवक्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः', 'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इति चामरः ।

समासादिः—अत्यजन्—न त्यजन् सः । द्वादशसु—द्वौ च दश च द्वादश तेषु । जिगीषुः—जेतुमिच्छुरिति । दिनकृत्=दिनं करोतीति । आदित्येषु—अदितेः अपत्यानि ये पुमांसः तेषु ।

व्याकरणम्—जिगीषुः—जि+सन् उः । दिनकृत्—दिन कृ+क्विप्, लुक् । आदित्येषु—अदिति+'दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः' इति ण्यः । उदेतुम्—उत् इ+तुमुन् । कल्पते—क्लृप्+लट् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—जिगीषुणा एकेन दिनकृता अत्यजता कल्प्यते ।

तात्पर्यार्थः—द्वादशादित्येषु दिनकर एव उत्साहमाश्रयन् यथा उदयाय समर्थो भवति । तस्मात् उत्साहशक्तिरवश्यमाश्रयणीया ।

भाषा—विजय की इच्छा करने वाला अकेला बारह प्रकार के राजाओं में भी बारह सूर्य के बीच में दिनकर की तरह उत्साह को न छोड़ता हुआ उदय के लिये समर्थ होता है ॥ ८१ ॥

सम्प्रति अप्रमादप्रकारमेवाह—

> बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
> चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥ ८२ ॥

अन्वयः—बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गः घनसंवृतिकञ्चुकः चारेक्षणः दूतमुखः पार्थिवः कः अपि पुरुषः ।

सुधा—बुद्धिशस्त्रः=प्रज्ञाशस्त्रः । प्रकृत्यङ्गः=स्वाम्यादिप्रकृत्यङ्गः । घनसंवृतिकञ्चुकः=निबिडमन्त्रगुप्तिकवचः; चारेक्षणः=गूढपुरुषनेत्रः । दूतमुखः=सन्देशहरवदनः एवम्भूतः । पार्थिवः=पृथिव्याः ईश्वरः । कः अपि=अनिर्वचनीयः, लोकोत्तर इत्यर्थः । पुरुषः=पुमान् ॥ ८२ ॥

कोशः—'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा', 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च' 'कञ्चुको वारबाणोऽस्त्री' 'जगरः कवचोऽस्त्रियम्' 'चारश्च गूढपुरुषः' 'स्यात्सन्देशहरो दूतः' 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्' इति चामरः ।

समासादिः—बुद्धिशस्त्रः—बुद्धिरेव शस्त्रं यस्य सः । प्रकृत्यङ्गः—प्रकृतय एवाङ्गानि यस्य सः । घनसंवृतिकञ्चुकः—घना संवृतिरेव कञ्चुकः यस्य सः । चारेक्षणः चारा एव ईक्षणे यस्य सः । दूतमुखः—दूत एव मुखं यस्य सः ।

व्याकरणम्—पार्थिवः—पृथ्वी+'तस्येश्वरः' इति अण् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—बुद्धिशस्त्रेण प्रकृत्यङ्गेन घनसंवृतिकञ्चुकेन चारेक्षणेन दूतमुखेन पार्थिवेन केनापि पुरुषेण भूयते ।

तात्पर्यार्थः—राजा स्वाम्यादिभिः सप्तभिः प्रकृतिभिः शरीरवान्, सुमन्त्रगोपनरूपकवचवान्, चारेक्षणवान्, दूतमुखवान् सन् सर्वं स्वकीयं राज्यादिकं रक्षति, उत्साहशीलः सन् गुप्तचरैः शत्रुबलं ज्ञात्वा बुद्धिपूर्वकं प्रहरति च ।

भाषा—बुद्धिरूपी शस्त्र को, प्रकृतिरूपी अङ्ग को, खूब मजबूत मन्त्रगोपनरूप कवक को, गुप्तचररूपी नेत्र को और दूतरूपी मुख को धारण करने वाला राजा कोई लोकोत्तर पुरुष होता है ॥ ८२ ॥

चतुर्थोपायसाध्येत्यादिनोक्ते क्षात्रे उत्तरमाह—

तेजः क्षमा वा नैकान्तं कालज्ञस्य महीपतेः ।
नैकमोजः प्रसादो वा रसभावविदः कवेः ॥ ८३ ॥

अन्वयः—कालज्ञस्य महीपतेः तेजः क्षमा वा एकान्तं न । रसभावविदः कवेः एकम् ओजः प्रसादो वा न ।

सुधा—कालज्ञस्य=समयविशेषविदुषः । महीपतेः=धरापतेः । तेजः=प्रतापः । क्षात्रमिति यावत् । क्षमा=शान्तिर्वा । एकान्तं=नियमितम् । न=नास्ति । किन्तु यथावसरम् उभयमपि आश्रयणीयम् । दृष्टान्तमाह—रसभावविदः—रसाः=शृङ्गारादयः, भावाः=निर्वेदादयः, तान् जानतः । कवेः=काव्यकर्तुः । एकं=केवलम् । ओजः=प्रबन्धप्रौढिः । प्रसादः=रचनासौकुमार्यं वा । न=न भवति, न नियमितमित्यर्थः ॥ ८३ ॥

कोशः—'कालो दिष्टोऽप्यनेहाऽपि समयः' 'एके मुख्यान्यकेवलाः' शृङ्गारादौ विषे वीर्ये द्रवे रागे गुणे रसः' इति चामरः ।

समासादिः—कालज्ञस्य—कालं यः जानाति तस्य । महीपतेः—मह्याः पतिः तस्य । रसभावविदः—रसान् भावांश्च वेत्तीति तस्य । एकान्तम्—एकः अन्तः यस्मिन् कर्मणि यथा तथा ।

व्याकरणम्—कालज्ञस्य—काल ज्ञा+'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः । रसभावविदः—रस भाव विद्+क्विप् ।

वाच्य०—तेजसा क्षमया भूयते । एकेन ओजसा प्रसादेन न भूयते ।

तात्पर्यार्थः—उपायप्रयोगमर्मज्ञः राजा समयं ज्ञात्वैव प्रतापं शान्तिं वा अवलम्बते, न तु समयम् अविचार्य उभयोरन्यतरम् आश्रयति इति भावः ।

भाषा—समयज्ञ राजा के लिये प्रताप अथवा शान्ति नियमित नहीं है । शृङ्गारादि रसके लिये ओजो गुण अथवा प्रसादगुण नियमित नहीं है । (अर्थात् जहां पर जैसा उचित हो वैसा ही करना चाहिये) ॥ ८३ ॥

अवसरे एव कोपः कर्त्तव्य इति दर्शयति—

कृतापचारोऽपि परैरनाविष्कृतविक्रियः ।
असाध्यः कुरुते कोपं प्राप्ते काले गदो यथा ॥ ८४ ॥

अन्वयः—परैः कृतापचारोऽपि अनाविष्कृतविक्रियः असाध्यः गदः यथा काले प्राप्ते कोपं कुरुते ।

सुधा—परैः=शत्रुभिः । कृतापचारः=विरचितापकृतिः, कृतापथ्यश्च अपि अनाविष्कृतविक्रियः=अप्रकटितविकारः । असाध्यः=अप्रतिसमाधेयः । गदः=रोगः । यथा=इव । काले=बलक्षयावसरे । प्राप्ते सति कोपं कुरुते=प्रकुप्यति ॥

कोशः—'अभिघातिपरारातिप्रत्यर्थिपरिपन्थिनः' 'रोगव्याधिगदामयाः' इति चामरः ।

समासादिः—अनाविष्कृतविक्रियः—न आविष्कृता विक्रिया येन सः । कृतापचारः—कृतः अपचारः यस्य सः । असाध्यः=न साध्यः असाध्यः ।

व्याकरणम्—कुरुते—कृ+लट्+त ।

वाच्य०—'कृतापचारेण' 'विक्रियेण असाध्येन गदेन कोपः क्रियते ।

तात्पर्यार्थः—यथा रोगः अपथ्यं कुर्वाणं पुरुषं बले क्षीणे एव अधिकतरं पीडयति, तथैव शत्रुभिः कृतापकारोऽपि पुरुषः क्षीणे बले सत्येव शत्रुं प्रहरति न तु सबले सति । तस्मात् अवसरः प्रतीक्षणीय एव ।

भाषा—शत्रुओं से अहित किये जाने पर भी विकार को न करने वाले पुरुष असाध्य रोग की तरह अवसर आने पर ही क्रोध करता है ॥ ८४ ॥

शान्तस्वभावस्य गुणं दर्शयति—

मृदुव्यवहितं तेजो भोक्तुमर्थान्प्रकल्पते ।
प्रदीपः स्नेहमादत्ते दशयाऽभ्यन्तरस्थया ॥ ८५ ॥

अन्वयः—मृदुव्यवहितं तेजः अर्थान् भोक्तुं प्रकल्पते । प्रदीपः अभ्यन्तरस्थया दशया स्नेहम् आदत्ते ।

सुधा—मृदुव्यवहितम् = कोमलवस्तुना अन्तःपिहितं । तेजः = प्रतापः । अर्थान् = विषयान् । भोक्तुम् = उपभोक्तुम् । प्रकल्पते = शक्नोति । तथाहि प्रदीपः = दीपः । अभ्यन्तरस्थया = मध्यस्थितया । दशया = वर्त्तिकया । स्नेहम् = तैलादिकं वस्तु । आदत्ते = गृह्णाति ॥ ८५ ॥

कोशः—'दीपः प्रदीपः' इत्यमरः । 'अर्थः प्रकारे विषये वित्तकारणवस्तुषु' इति कोशान्तरम् । 'दशा वर्तावस्थायां स्नेहस्तैलादिके रसे' इति विश्वः ।

समासादिः—अभ्यन्तरस्थया—अभ्यन्तरे तिष्ठतीति तया । मृदुव्यवहितम्—मृदुना व्यवहितमिति ।

व्याकरणम्—अभ्यन्तरस्थया—अभ्यन्तर स्था + 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति कः । प्रदीपः—प्रदीप् + पचादित्वादच् । भोक्तुम्—भुज् + तुमुन् । कल्पते क्रृप् + लट् त 'कृपो रो लः' इति लत्वम् । आदत्ते—आङ् दा + लट् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—व्यवहितेन तेजसा प्रकल्प्यते । प्रदीपेन स्नेहः आदीयते ।

तात्पर्यार्थः—क्षमया प्रतापः फलति । अतः विजिगीषुणा सर्वथा क्षान्तिराश्रयणीया । ततः राजा विजयं लभते ।

भाषा—कोमल वस्तु से व्यवहित तेज विषयों का उपभोग करने के लिये समर्थ होता है । दीप भीतर रहने वाली बत्ती के द्वारा ही तेल का ग्रहण करता है । (इसलिये क्षमा अवश्य ही होनी चाहिये) ॥ ८५ ॥

तर्हि पौरुषं मा भूत्, नित्यं क्षमां कुर्वतः दैवाश्रयणे कल्याणमित्याशङ्क्याह—

नालम्बते दैष्टिकतां न निषीदति पौरुषे ।
शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते ॥ ८६ ॥

अन्वयः—विद्वान् दैष्टिकतां न आलम्बते, पौरुषे च न निषीदति । सत्कविः शब्दार्थौ इव द्वयम्, अपेक्षते ।

सुधा—विद्वान्=विपश्चित् । दैष्टिकताम्=दैवप्रमाणकतां । न आलम्बते= न सेवते । पौरुषे च=पुरुषकारे एव । न निषीदति=नोपविशति । किन्तु सत्कविः= समीचीनकाव्यकर्ता । शब्दार्थौ इव=काव्यशरीरभूतो शब्दार्थौ इव, 'तददोषौ शब्दार्थौ' इत्यनुसारात् । द्वयं=दैवं, पौरुषं च । अपेक्षते=आलम्बते ॥८६॥

कोशः—'विद्वान् विपश्चिद्दोषज्ञः' 'दैवं दिष्टं भागधेयम्' इति चामरः ।

समासादिः—दैष्टिकताम्–दिष्टे मतिर्यस्यासौ दैष्टिकः, तस्य भावस्तत्ता ताम् । शब्दार्थौ–शब्दश्च अर्थश्चेति तौ ।

व्याकरणम्—दैष्टिकताम्–दिष्ट+'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' इति ठक् । पौरुषे—पुरुष+अण् । अपेक्षते—अप ईक्ष+लट् त । निषीदति—नि सद्+ लट् तिप् पाघ्राध्मा' इत्यादिना सीदादेशः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—विदुषा दैष्टिकता न आलम्ब्यते ।······निषद्यते । सत्कविना······अपेक्ष्यते ।

तात्पर्यार्थः–विद्वान् केवलं भाग्यं पौरुषमेव वा नाश्रयति किन्तु यथा सत्कविः काव्यनिर्माणे शब्दार्थौ इति द्वयम् अपेक्षते तथैव नीतिवेत्ता राजाऽपि दैवं पौरुषं च अवलम्बते । तस्मात् अवसरं विचार्य पौरुषं दैवं वा प्रयोक्तव्यम् ।

भाषा—विद्वान् केवल भाग्य का ही ग्रहण नहीं करता है और केवल उद्योग में नहीं बैठता है । शब्द और अर्थ इन दोनों का अवलम्बन करने वाले सत्कवि की तरह भाग्य और पौरुष दोनों की अपेक्षा करता है । इसलिये मौका देख कर भाग्य या पौरुष पर निर्भर होना चाहिये ॥ ८६ ॥

क्षान्तेः फलं दर्शयति—

स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा ।
रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभुजः ॥ ८७ ॥

अन्वयः—रसस्य एकस्य अर्थे भूयांसः सञ्चारिणः भावाः यथा प्रवर्तन्ते तथा स्थायिनः नेतुः अर्थे महीभुजः प्रवर्तन्ते।

सुधा—रसस्य=रसीभवतः। स्थायिभावस्य[1]=रत्यादेः। एकस्य। अर्थे[2]=स्वादुत्वरूपे प्रयोजने। भूयांसः=प्रचुराः। सञ्चारिणः=निर्वेदादयः। व्यभिचारिणो[3] भावाः। यथा प्रवर्तन्ते=प्रवृत्ताः भवन्ति। तथा=तेन प्रकारेण। स्थायिनः=स्थिरस्य, अवसरम् प्रतीक्षमाणस्येत्यर्थः। एव नेतुः=विजिगीषोः। नायकस्य। अर्थे=प्रयोजने। भूयांसः=बहवः। महीभृतः=महीपतयः। प्रवर्तन्ते, स्वयमेव विजिगीषोः कार्यं साधयन्तीत्यर्थः॥ ८७॥

कोशः--'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' इत्यमरः।

समासादिः—रसस्य—रस्यते इति तस्य। महीभृतः—महीं बिभ्रतीति। सञ्चरन्ति तच्छीलाः सञ्चारिणः:

व्याकरणम्—प्रवर्तन्ते—प्र वृत+लट् झ। स्थायिनः—स्था+णिनिः युक्। सञ्चारिणः—सम् चर+णिनिः। भूयांसः=बहु+ईयसुन्, 'बहोर्लोपो भू च बहोः' इति भूरादेशः।

वाच्यपरिवर्तनम्—भूयोभिः सञ्चारिभिः भावैः.....प्रवृत्यते।.....महीभृद्भिः प्रवृत्यते।

---

१. रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः। इति काव्यप्रकाशोक्तेरिति भावः।

२. विभावैरनुभावैश्च स्वोचितैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायीभावो रसः स्मृतः॥ इति वचनादिति भावः।

३. निर्वेदग्लानिशङ्काख्यास्तथाऽसूयामदश्रमाः।
आलस्यं चैव दैन्यञ्च चिन्ता मोहः स्मृतिर्धृतिः॥
क्रीडा चपलता हर्ष आवेगो जडता तथा।
गर्वो विषाद औत्सुक्यं निद्राऽपस्मार एव च॥
सुप्तं प्रबोधोऽमर्षश्चाप्यवहित्थमथोग्रता।
मतिर्व्याधिस्तथोन्मादस्तथामरणमेव च॥
त्रासश्चैव वितर्कश्च विज्ञेया व्यभिचारिणः।
त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः॥
इति काव्यप्रकाशवचनादिति भावः।

तात्पर्यार्थः—यथा एकस्य कस्यचिद्रसस्य स्वादुत्वसम्पादनरूपे कार्ये अन्ये निर्वेदादिव्यभिचारिभावाः सहायका भवन्ति तथैव क्षमाशीलस्य कस्यचिन्नायकस्य कार्ये समुपस्थिते अन्ये राजानः स्वयमेव साहाय्यं कुर्वन्ति।

भाषा—रस होने वाले रत्यादि स्थायिभाव के स्वादुत्वसम्पादन रूप कार्य में बहुत से निर्वेदादि व्यभिचारिभाव जैसे सहायक होते हैं। उसी तरह स्थायि विजिगीषु नायक के कार्य में बहुत से राजा लोग प्रवृत्त होते हैं ॥ ८७ ॥

क्षान्तिपक्षमात्रे गुणान्तरं दर्शयति—

तन्त्रावापविदा योगैर्मण्डलान्यधितिष्ठता।
सुनिग्रहा नरेन्द्रेण फणीन्द्रा इव शत्रवः ॥ ८८ ॥

अन्वयः—तन्त्रावापविदा योगैः मण्डलानि अधितिष्ठता नरेन्द्रेण शत्रवः फणीन्द्रा इव सुनिग्रहाः।

सुधा—तन्त्रावापविदा=स्वपरराष्ट्रचिन्ताविज्ञेन शास्त्रौषधप्रयोगज्ञेन च। योगैः=सामाद्युपायैः देवताध्यानैश्च। मण्डलानि=स्वपरराष्ट्राणि। अधितिष्ठता= आक्रमता। नरेन्द्रेण=राज्ञा विषवैद्येन च। शत्रवः=रिपवः। फणीन्द्रा इव= भोगीन्द्रा इव। सुनिग्रहाः=सुखेन ग्रहीतुं शक्याः ॥ ८८ ॥

कोशः—'तन्त्रः स्वराष्ट्रचिन्तायामावापः परिचिन्तने। शास्त्रौषधान्तमुख्येषु तन्त्रम्' इति वैजयन्ती। 'नरेन्द्रो वार्तिके राज्ञि विषवैद्ये च कथ्यते' इति विश्वः। 'योगः संहननोपायध्यानसङ्गतियुक्तिषु' इत्यमरः।

समासादिः—तन्त्रावापविदा—तन्त्रश्च आवापश्च तन्त्रावापौ, तौ वेत्तीति तेन। नरेन्द्रेण—नराणां यः इन्द्रः तेन। फणीन्द्राः—फणाः सन्ति येषां ते फणिनः, तेषां ये इन्द्रास्ते।

व्याकरणम्—अधितिष्ठता—अधि, स्था+कर्तरि शतृ 'पाघ्राध्मा' इति तिष्ठादेशः। मण्डलानि-'अधिशीङ्स्थासां कर्म' इति अधिकरणे कर्मत्वेन द्वितीया। सुनिग्रहाः—सु नि ग्रह+खल् 'ईषद्दुःसु' इत्यादिना।

वाच्यपरिवर्तनम्—शत्रुभिः फणीन्द्रैः सुनिग्रहैः भूयते।

तात्पर्यार्थः—यथा विषवैद्यः मन्त्रौषधादिना महान्तमपि दुर्धर्षं सर्पं वशयति तथैव स्वराष्ट्रपरराष्ट्रमर्मज्ञः राजा सामाद्युपायैः शत्रुं वशीकृत्य तद्राज्यं स्वायत्तीकरोति।

भाषा—अपने राज्य की और परराज्य की खबर जानने वाले तथा सामा-

दिक उपायों से अपने और शत्रु के राज्य पर भी कब्जा करने वाले राजासे, विषवैद्य से सर्पों की तरह, शत्रु विना प्रयास के ही पकड़े जाते हैं ।। ८८ ।।

इत्थं पूर्वप्रदर्शितनयफलितं सिद्धान्तं दर्शयति—

करप्रचेयामुत्तुङ्गः प्रभुशक्तिं प्रथीयसीम् ।
प्रज्ञाबलबृहन्मूलः फलत्युत्साहपादपः ॥ ८९ ॥

अन्वयः—उत्तुङ्गः प्रज्ञाबलबृहन्मूलः उत्साहपादपः करप्रचेयाम् प्रथीयसीं प्रभुशक्तिं फलति ।

सुधा—उत्तुङ्गः = महोच्चः। प्रज्ञाबलबृहन्मूलः=मन्त्रशक्तिमहामूलः। उत्साहपादपः = उत्साहवृक्षः । करप्रचेयाम् = करेण = बलिना हस्तेन च ग्राह्यां । प्रथीयसीं = पृथुतराम् । प्रभुशक्तिम् = प्रभावविशेषम् । फलति = उत्पादयति ।।८९।।

कोशः—'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः', 'बलिहस्तांशवः कराः' इति चामरः ।

समासादिः—प्रभुशक्तिम्–प्रभोः या शक्तिः ताम् । प्रथीयसीम्–अतिशयेन या पृथ्वी ताम् । प्रज्ञाबलबृहन्मूलः–प्रज्ञायाः यद् बलं तदेव बृहत् मूलं यस्य सः । करप्रचेयाम्—प्रचेतुं शक्या प्रचेया करेण या प्रचेया ताम् ।

व्याकरणम्—प्रथीयसीम्–पृथु + ईयसुन् 'र ऋतो हलादेर्लघोः' इति रेफादेशः + ङीप् । करप्रचेयाम्–कर प्र चि + यत् 'अचो यत्' इति । फलति—फल + लट् ति ।

वाच्यपरिवर्तनम्—उत्तुङ्गेन···मूलेन पादपेन करप्रचेया प्रथीयसी प्रभुशक्तिः फल्यते ।

तात्पर्यार्थः–उत्साहरूपवृक्षस्य मन्त्रशक्तिःप्रधानमूलम् । प्रभुशक्तिस्तु फलम् । अतो मन्त्रपूर्वक एवोत्साहः सफलो भवति । तद्विपरीतस्तु छिन्नमूलो वृक्ष इव शुष्यति । तस्माद्विचारपूर्वक एवोत्साहः कर्तव्यः ।

भाषा—बहुत ऊंचा और बुद्धिबलरूपी प्रधान मूलवाला उत्साहरूपी वृक्ष कर से ग्राह्य ऐसी बढ़ी चढ़ी हुई प्रभुशक्ति को उत्पन्न करता है ।। ८९ ।

विचारपूर्वकं कार्यकारिणस्तु समस्तलोक आज्ञाकर इति श्लोकत्रयेण दर्शयति—

अनल्पत्वात्प्रधानत्वाद्वंशस्येवेतरे स्वराः ।
विजिगीषोर्नृपतयः प्रयान्ति परिवारताम् ॥ ९० ॥

अन्वयः—अनल्पत्वात् प्रधानत्वात् वंशस्य इतरे स्वराः इव विजिगीषोः नृपतयः परिवारतां प्रयान्ति ।

सुधा—अनल्पत्वात्=प्रज्ञोत्साहयोरधिकत्वात्, अन्यत्रोच्चैस्तरत्वात् । अत एव प्रधानत्वात्=मण्डलश्रेष्ठत्वात्, नायकस्वरत्वाच्च । वंशस्य=वेणुस्वरस्य । इतरे=अन्ये । स्वराः=वीणादिशब्दाः इव । विजिगीषोः=विजयाभिलाषिणः नृपस्य । नृपतयः=राजानः । परिवारताम्=पोष्यताम्, अङ्गत्वमिति यावत् । प्रयान्ति=प्राप्नुवन्ति । तत्कार्यमेव सहायकतया साधयन्तीत्यर्थः ॥ ९० ॥

कोशः—'स्वरः शब्देऽपि' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः ।

समासादिः—अनल्पत्वात्—न अल्पः अनल्पः तस्य यो भावस्तस्मात् । प्रधानत्वात्-प्रधानस्य यो भावस्तस्मात् । विजिगीषोः—विजेतुमिच्छति यः तस्य । नृपतयः—नृणां ये पतयस्ते । परिवारताम्—परितः व्रियन्ते एभिरिति परिवाराः तेषां भावस्तत्ता ताम् ।

व्याकरणम्—विजिगीषोः—वि जि+सन् 'सनाशंसभिक्ष उः' इति उः । परिवारताम्—परिवार+तल् । प्रयान्ति—प्र या+लट् झि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—"'इतरैः स्वरैः"' नृपतिभिः परिवारता प्रयायते ।

तात्पर्यार्थः—यथा वंशस्वरस्य इतरे वीणादिस्वराः साहाय्यं कुर्वन्ति तथैव अन्ये राजानः विमृश्यकारिणः विजिगीषोः कार्यम् अनुकूलतया सम्पादयन्ति ।

भाषा—जैसे मुख्य ऊंचा स्वर होने के कारण वीणादि के स्वर, बांसुरी के स्वर के सहायक होते हैं उसी तरह प्रज्ञा और उत्साह की अधिकता से युक्त विजिगीषु राजा के अन्य राजा लोग सहायक होते हैं। इसलिये प्रज्ञा और उत्साह दोनों अपने में रखना चाहिये ॥ ९० ॥

अप्यनारभमाणस्य विभोरुत्पादिताः परैः ।
व्रजन्ति गुणतामर्थाः शब्दा इव विहायसः ॥ ९१ ॥

अन्वयः—अनारभमाणस्य अपि विभोः परैः उत्पादिताः अर्थाः विहायसः शब्दाः इव गुणतां व्रजन्ति ।

सुधा—अनारभमाणस्य=किञ्चिदपि न कुर्वतः । अपि विभोः=व्यापकस्य । च । परैः=अन्यैः । नृपतिभिः भेर्यादिभिश्च । उत्पादिताः=निष्पादिताः । अर्थाः=प्रयोजनानि । विहायसः=आकाशस्य शब्दाः इव । गुणताम्=विशेषणताम् । व्रजन्ति=प्राप्नुवन्ति ॥ ९१ ॥

कोशः–'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु', 'पुंस्याकाशविहायसी' इति ।

समासादिः—अनारभमाणस्य—आरभते इत्यारभमाणः, न आरभमाणः अनारभमाणस्तस्य । गुणताम्–गुणस्य यो भावस्ताम् ।

व्याकरणम्—विभोः–वि भू + कर्तरि डुः । उत्पादिताः–उत् पद + णिच् कर्मणि क्तः । अनारभमाणस्य नञ् आ रभ् + कर्तरि शानच् । गुणताम्–गुण + तल् । व्रजन्ति–व्रज + लट् झि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—"""उत्पादितैरर्थैः"""शब्दैरिव गुणता व्रज्यते ।

तात्पर्यार्थः—यथा भेर्यादिजनितोऽपि शब्दः सर्वदेशव्यापिनः आकाशस्य गुण इति लोके व्यवह्रियते तथैव अन्यैः राजभिः सम्पादितं कार्यं प्रभुः राजा स्वायत्तीकरोति परन्तु तत्र उद्योगं नैव करोति ।

भाषा–कुछ भी कार्य न करने वाले भी मालिक के दूसरे राजाओं से सम्पादित कार्य आकाश के शब्द की तरह आधीनता को प्राप्त होते हैं ॥९१॥

यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायामधिकद्युतिः ।
एकार्थतन्तुप्रोतायां नायको नायकायते ॥ ९२ ॥

अन्वयः–एकार्थतन्तुप्रोतायां यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायाम् अधिकद्युतिः नायकः नायकायते ।

सुधा–एकार्थतन्तुप्रोतायाम्=एकप्रयोजनरूपसूत्रग्रथितायाम् । यातव्यंपार्ष्णिग्राहादिमालायाम् = अभिगम्यशत्रुपृष्ठानुधाव्यादिद्वादशराजमण्डलरूपमालायाम् । अधिकद्युतिः=महातेजाः । नायकः=शक्तिशाली जिगीषुः । नायकायते = श्रेष्ठायते । मालास्थितमध्यमणिवदाचरति इति भावः ॥ ९२ ॥

कोशः—'पार्ष्णिग्राहस्तु पृष्ठतः' इत्यमरः । 'तन्तुर्वंशे च सूत्रे च' इति नानार्थः । 'नायको नेतरि श्रेष्ठे हारमध्यमणावपि' इति विश्वः ।

समासादिः—एकार्थतन्तुप्रोतायाम्–एकः यः अर्थः एव तन्तुः तस्मिन् या प्रोता तस्याम् । यातव्यपार्ष्णिग्राहादिमालायाम्–पार्ष्णिम् गृह्णातीति पार्ष्णिग्राहः; यातुं योग्यः यातव्यः, यातव्यश्च पार्ष्णिग्राहश्च यातव्यपार्ष्णिग्राहौ तौ आदी येषां ते एव माला तस्याम् । अधिकद्युतिः–अधिका द्युतिः यस्य सः । नायकायते–नायक इवाचरति यः सः । नयतीति नायकः ।

व्याकरणम्—नायकः नी + ण्वुल् 'युवोरनाकौ' इति अकादेशः । यातव्यः

या+तव्यत् । प्रोता-प्र—वेञ+क्तः, यजादित्वात्सम्प्रसारणम् । नायकायते-नायक+क्यङ् लट् त ।

वाच्यपरिवर्तनम्—······अधिकद्युतिना नायकायते ।

तात्पर्यार्थः—यथा अधिकतेजा मध्यमणिः मालायां नायकायते तथैव यातव्यपार्ष्णिग्राहादिद्वादशविधराजसमूहेषु अतितेजस्वी जिगीषुः राजा सर्वश्रेष्ठो भवति । सर्वे राजानस्तमेव नायकतया आश्रयन्तीति ।

भाषा—एक कार्यरूपी सूत्र में बंधे हुए यातव्य, पृष्ठग्राही आदि बारह प्रकार के राजारूपी माला में अधिक तेजस्वी विजयी राजा मध्यमणि की तरह कार्य करता है, अर्थात् सर्वश्रेष्ठ होता है ।। ९२ ।।

सन्धिविग्रहादिकमपि स्वशक्त्यपेक्षयैव प्रयोक्तव्यमिति द्वाभ्यां दर्शयति—

षाड्गुण्यमुपयुञ्जीतशक्त्यपेक्षो　　रसायनम् ।
भवन्त्यस्यैवमङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च ।। ९३ ।।

अन्वयः—शक्त्यपेक्षः सन् षाड्गुण्यं रसायनम् उपयुञ्जीत च । एवम् अस्य अङ्गानि स्थास्नूनि बलवन्ति च भवन्ति ।

सुधा—शक्त्यपेक्षः=प्रभ्वादित्रिविधशक्तिमपेक्षमाणः सन् । षाड्गुण्यम्=सन्धिविग्रहादिगुणषट्कम् । रसायनम्=कनकभस्माद्योषधिविशेषम् । उपयुञ्जीत=प्रयुञ्जीत । एवम्=इत्थम्, क्रियमाणे सति । अस्य=प्रयोगकर्तुः राज्ञः । अङ्गानि=स्वाम्यादीनि हस्तपादादीनि च । स्थास्नूनि=स्थिरतराणि । बलवन्ति=सामर्थ्यवन्ति च । भवन्ति=जायन्ते ।। ९३ ।।

कोशः—'शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः', 'सन्धिर्ना विग्रहो यानमासनं द्वैधमाश्रयः । षड् गुणा', 'स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि । राज्याङ्गानि प्रकृतयः पौराणां श्रेणयोऽपि च' इति चामरः ।

समासादिः-शक्तिमपेक्षते इति यः सः शक्त्यपेक्षः । षाड्गुण्यम्-षट् च ते गुणाः षड्गुणास्ते एवेति । रसायनम्—रसानाम् अयनम् रसायनम् । बलवन्ति-बलमस्ति येषां तानि । स्थास्नूनि-स्थातु शीलं येषां तानि ।

व्याकरणम्—षाड्गुण्यम्-षड्गुण=ष्यञ् 'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' इति । उपयुञ्जीत-उप युज+लिङ् त । स्थास्नूनि-स्था+ग्स्नुः 'ग्लाजि-

ण्यश्च ग्स्नुः' इति। बलवन्ति—बल+मतुप्। 'मादुपधायाश्च' इत्यादिना मस्य वः। भवन्ति+लट् झि।

वाच्यपरिवर्तनम्—शक्त्यपेक्षेण सता······उपयुज्यते। अङ्गैः स्थास्नुभिः बलवद्भिश्च भूयते।

तात्पर्यार्थः—ओषधिसेवनमिव स्वस्य बलाबलं परिज्ञाय सन्ध्यादीन् गुणान् प्रयुञ्जीत। एवं कृते सति हस्तपादाद्यङ्गानीव स्वाम्यादिराज्याङ्गानि स्थिराणि सामर्थ्यवन्ति च भवन्ति। तस्मात् शक्ति विचार्यैव सन्ध्यादिप्रयोगे कृते प्रयोजनसिद्धिः।

भाषा—अपनी शक्ति का विचार करता हुआ सन्धिविग्रहादिरूपी रसायन का सेवन करे। ऐसा करने से स्वाम्यादि और हस्त-पादादि अङ्ग स्थिर और बलवान होते हैं॥ ९३॥

स्थाने शमवतां शक्त्या व्यायामे वृद्धिरङ्गिनाम्।
अयथाबलमारम्भो निदानं क्षयसम्पदः॥ ९४॥

अन्वयः—स्थाने शमवताम् अङ्गिनां शक्त्या व्यायामे वृद्धिः। अयथाबलम् आरम्भः क्षयसम्पदः निदानम्।

सुधा—स्थाने=शक्यविषये। शमवताम्=क्षमावताम्। अङ्गिनां=स्वाम्यादिसप्ताङ्गवताम् नृपाणाम् देहिनां च। शक्त्या=प्रभावोत्साहमन्त्रजन्यया। बलेन च, व्यायामे=षाड्गुण्यप्रयोगे गमनादिव्यापारे च सति। वृद्धिः=राज्यस्य, शरीरस्य च उपचयः। भवतीति शेषः। अयथाबलम्=स्वबलमतिक्रम्य। आरम्भः=षाड्गुण्यप्रयोगः गमनादिश्च। क्षयसम्पदः=नाशरूपसम्पत्तेः। निदानम्=आदिकारणम्॥ ९४॥

कोशः—"स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च। राज्याङ्गानि', शक्तयस्तिस्रः प्रभावोत्साहमन्त्रजाः', 'निदानन्त्वादिकारणम्' इति चामरः।

समासादिः—शमवताम्—शमः अस्ति येषां तेषाम्। अङ्गिनाम्—अङ्गानि सन्ति येषां तेषाम्। अयथाबलम्—बलमनतिक्रम्येति यथाबलं तन्न अयथाबलम्। क्षयसम्पदः—क्षयस्य या सम्पत् यस्याः—

व्याकरणम्—आरम्भः—आ—रम्भ+घञ्। शमवताम्—शम+मतुप्मस्य वः। निदानम्—नि दा+ल्युट्। क्षयसम्पदः—क्षय सम् पत्+क्विप्। व्यायामे—वि था यम्+घञ। अयथाबलम्—नञ् यथाबल+अम्।

वाच्यपरिवर्तनम्—"'वृद्ध्या भूयते'" आरम्भेण निदानेन भूयते ।

तात्पर्यार्थः—सामर्थ्यरहिते नृपे क्षमा, सामर्थ्यसहिते तु तेजः इति हि
अभ्युदयस्य कारणम् । अस्माद्विपरीतं तु विनाशस्य आदिकारणम् । तस्मात्स्व-
सामर्थ्यमपेक्ष्यैव षाड्गुण्यादि प्रयोगे-अभीष्टसिद्धिः ।

भाषा—शक्य कार्य में क्षमा करने वाले राजाओं की शक्तिपूर्वक सन्धि-
विग्रहादि प्रयोग करने पर वृद्धि होती है। अपन बल का विचार न करके
आरम्भ करना क्षय सम्पत्ति का आदि कारण ॥ ९४ ॥

फलितं दर्शयति—

तदीशितारं चेदीनां भवांस्तमवमंस्त मा ।
निहन्त्यरीनेकपदे य उदात्तः स्वरानिव ॥ ९५ ॥

अन्वयः—तत् त चेदीनाम् ईशितारं भवान् माऽवमंस्त । यः उदात्तः
स्वरान् इव अरीन् एकपदे निहन्ति ।

सुधा—तत् = तस्मात्कारणात् । तम् = पूर्वोक्तम् । चेदीनाम् = चेदिदेशा-
नाम् । ईशितारम्—प्रभुम्—शिशुपालमित्यर्थः । भवान् = त्वम् । माऽवमंस्त =
नावमन्यस्व । यः—चैद्यः । उदात्तः = तन्नामकः स्वरविशेषः । स्वरान्—अनुदात्ता-
दीन् । इव । अरीन् = रिपून् । एकपदे = एकस्मिन्नेव पदविन्यासे, झटितीति
यावत् । सुप्तिङन्तलक्षणे च । निहन्ति = निघातं करोति, मारयति च ॥ ९५ ॥

कोशः—'ईश्वरः पतिरीशिता', 'उदात्ताद्यास्त्रयः स्वरा', 'रिपौ वैरिस-
पत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः इति चामरः ।

समासादिः—एकं पदं यस्मिन् इत्येकपदे ।

व्याकरणम्—अवमंस्त—अव मन्+लुङ् त । ईशितारम्—ईश+कर्तरि
तृच् । निहन्ति—नि हन्+लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—भवता ईशिता मा अवमानि ।
त्वं नावमन्यस्व ।
तात्पर्यार्थः—अयं शिशुपालः अस्माकं किं करिष्यतीति
तस्मादयं प्रबल एव ।
अयम् एकपदे इतरस्वरान् उदात्त इव सर्वान् शत्रून् मारयति।
अवमानना
भाषा—इस लिये उस चेदिदेश के राजा शिशुपाल का आप
शत्रुओं
न करें । क्योंकि जो शिशुपाल उदात्त स्वरकी भाँति इतर स्वरों की तरह
को एक पद में मारता है ॥ ९५ ॥

अस्यैकाकित्वादकिञ्चित्करत्वं न मन्तव्यमित्याह—

मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति ।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम् ॥ ९६ ॥

अन्वयः—असौ चेदिराट् एकः (अत एव) जेतव्यः इति मा वेदि । यत् सः रोगाणां राजयक्ष्मा इव महीभृतां समूहः ।

सुधा—असौ = प्रसिद्धः । चेदिराट् = चेदिदेशेश्वरः । एकः = एकाकी । अत एव जेतव्यः = जेतुं शक्यः । इति = एवं । मा वेदि = मा ज्ञायि । यद् = यस्मात्कारणात् । सः = शिशुपालः । रोगाणाम् = आमयानाम् । [1]राजयक्ष्मा = क्षयरोगः । इव महीभृतां = नृपाणाम् । समूहः = समष्टिरूपः । अस्ति ॥ ९६ ॥

कोशः—'रोगव्याधिगदामयाः', 'राजा राट् पार्थिवः क्ष्माभृन्नृपभूपमहीक्षितः' इति चामरः ।

समासादिः—चेदिराट्—चेदीनां यः राट् सः । राजयक्ष्मा-यक्ष्मणां राजा इति राजयक्ष्मा । महीं बिभ्रतीति तेषां महीभृताम् ।

व्याकरणम्—जेतव्यः—जि + तव्यत् । चेदिराट्—चेदि रज् + क्विप् । वेदि—मा विद + लुङ् कर्मणि त । राजयक्ष्मा—राजदन्तादेराकृतिगणत्वेन तदादित्वाद्राजशब्दस्य पूर्वनिपातः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अमुना चेदिराज्ञा एकेन जेतव्येन भूयते इति भवान् मा वेदीत् । तेन समूहेन भूयते ।......

तात्पर्यार्थः—शिशुपालः इदानीमेकाकित्वात् सुजय इति न जानीथाः । यथा सर्वेषां रोगाणां समष्टिरूपः राजयक्ष्मा तथैव अयमपि सर्वेषां राज्ञां समष्टिरूपोऽस्ति ।

भाषा—इसलिए वह चेदिदेश का राजा शिशुपाल अकेला होने के कारण सुजय है ऐसा मत समझिये । क्योंकि वह शिशुपाल सब रोगों का समष्टिरूप राजयक्ष्मा की तरह सब राजाओं का समष्टिस्वरूप है ॥ ९६ ॥

---

१. अनेकरोगानुगतो बहुरोगपुरःसरः । राजयक्ष्माक्षयः शोषो रोगराडिति च स्मृतः ॥ नक्षत्राणां द्विजानां च राज्ञोऽभूद्यद्यं पुरा । यच्च राजा च यक्ष्मा च राजयक्ष्मा ततो मतः ॥ इति वाग्भटीयवचनादिति भावः ।

अथास्य निखिलनृपसमष्टितां द्वाभ्यां दर्शयति—

सम्पादितफलस्तेन सपक्षः परभेदनः।
कार्मुकेणेव गुणिना बाणः सन्धानमेष्यति ॥ ९७ ॥

अन्वयः—सम्पादितफलः सपक्षः परभेदनः बाणः गुणिना तेन कार्मुकेण इव सन्धानम्, एष्यति।

सुधा—सम्पादितफलः=समासादितलाभः, प्राप्तबाणाग्रश्च। सपक्षः= समित्रः; कङ्कादिपत्रयुक्तश्च। परभेदनः=शत्रुभेदकः। बाणः=बाणासुरः, शरश्च। गुणिना=शौर्यादिगुणिना, मौर्वीवता च। तेन=शिशुपालेन। कार्मुकेण=धनुषा इव। सन्धानम्=मित्रताम्, संयोगम् च। एष्यति=प्राप्स्यति ॥ ९७ ॥

कोशः—'फलं लाभशराग्रयोः' इति शाश्वतः। 'मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुणः', 'धनुश्चापो धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्' इति चामरः।

समासादि—सम्पादितफलः—सम्पादितं फलं यस्य सः। सपक्षः—पक्षैः सह वर्तमानः सपक्षः। परभेदनः—भिनत्तीति भेदनः, परस्य यः भेदनः सः। गुणिना—गुणः अस्यास्ति इति तेन। कार्मुकेण—कर्मणे प्रभवतीति तेन।

व्याकरणम्—सपक्षः—सह पक्ष, सहस्य सादेशो बहुव्रीहौ। भेदनः—भिद+ कर्तरि ल्युट् बाहुलकात्। कार्मुकेण—कर्मन्+'कर्मण उकञ्'। इति उकञ्। सन्धानम्=सम् धा+ल्युट्। एष्यति—इ+लट् स्य ति।

वाच्यपरिवर्तनम्—फलेन सपक्षेण......बाणेन......भेदनेन एष्यते।

तात्पर्यार्थः—शत्रुभेदकः ससाहाय्यो बाणासुरः अधिज्येन कार्मुकेण शर इव शिशुपालेन सह मित्रतां करिष्यतीति भावः।

भाषा—प्राप्त किया है लाभ जिसने ऐसा दूसरे पक्ष को भेदन करने वाला बाणासुर प्रत्यञ्चा सहित धनुष के साथ बाणकी तरह उस शिशुपाल के साथ मित्रता को प्राप्त होगा ॥ ९७ ॥

ये चान्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः।
तमःस्वभावास्तेऽप्येनं प्रदोषमनुयायिनः ॥ ९८ ॥

अन्वयः—ये च अन्ये कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः तमःस्वभावाः ते अपि प्रदोषम् एनम् अनुयायिनः।

सुधा—ये च अन्ये = परे । कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः = तत्तन्नामभिः प्रसिद्धाः राजानः । तमःस्वभावाः = तमोगुणात्मकाः वर्तन्ते ते अपि । प्रदोषं = प्रकृष्टदोषम् । एनं = शिशुपालम् । अनुयायिनः = अनुगामिनः, भविष्यन्ति इति शेषः ॥ ९८ ॥

कोशः—'तमो राहौ गुणे' इत्यनेकार्थसङ्ग्रहः ।

समासादिः—कालयवनशाल्वरुक्मिद्रुमादयः—कालयवनश्च शाल्वश्च रुक्मी च द्रुमश्चेति इतरेतरयोगः, ते आदयः येषां ते । तमःस्वभावाः तमः स्वभावो येषान्ते । प्रदोषम्—प्रकृष्टाः दोषाः यस्य तम् । अनुयास्यन्तीत्यनुयायिनः ।

व्याकरणम्—प्रदोषम्—प्रदुष् + घञ् । अनुयायिनः—अनु या + णिनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—यैश्चान्यैः......द्रुमादिभिस्तमःस्वभावैर्भूयते तैरनुयायिभिर्भविष्यते ।

तात्पर्यार्थः—ये कालयवनादयो राजानो दुष्टाः सन्ति ते अपि 'समानशील-व्यसनेषु सख्यमि'ति न्यायात् सदोषमेनमवश्यमनुयास्यन्ति । तस्मात् अयं साहाय्येन नातीव बलवान् भविष्यतीति भावः ।

भाषा—जो दूसरे कालयवनादि दुष्ट राजा लोग हैं वे भी अधिक दोषयुक्त इसी शिशुपाल के अनुयायी होंगे । इसलिये यह शिशुपाल सहायसम्पत्ति से युक्त होगा ॥९८ ॥

ननु बाणादयो राजानोऽस्माभिः कृतसन्धाना न विरोधं करिष्यन्तीत्याशङ्क्याह—

उपजापः कृतस्तेन तानाकोपवतस्त्वयि ।
आशु दीपयिताऽल्पोऽपि साग्नीनेधानिवानिलः ॥ ९९ ॥

अन्वयः—तेन कृतः अल्पः अपि उपजापः त्वयि आकोपवतः तान् अनिलः साग्नीन् एधान् इव आशु दीपयिता ।

सुधा—तेन = चैद्येन । कृतः = विहितः । अल्पः = स्तोकः, अपि । उपजापः = भेदः । त्वयि = भवति । आकोपवतः = आक्रोधवतः । तान् = पूर्वोक्तान् । बाणादीन् राज्ञः । अनिलः = वायुः । साग्नीन् = सवह्नीन् । एधान् = इन्धनानि, इव । आशु = शीघ्रम् । दीपयिता = प्रज्वालयिष्यति ॥ ९९ ॥

कोशः—'स्तोकाल्पक्षुल्लकाः', 'भेदोपजापौ', 'कोपक्रोधामर्षरोषप्रतिघारुट्क्रुधौ स्त्रियौ' इति चामरः ।

समासादिः--आकोपवतः—आकोपः अस्ति येषां तान् । साग्नीन्—अग्निना सह ये वर्त्तमानास्तान् । एधान्—इध्यते अग्निः एभिस्तान् ।

व्याकरणम्—आकोपवतः—आ कोप+मतुप् । एधान्—आ इन्ध्=कः नलोपः । उपजापः—उप जप=घञ् । कृतः-घञ्+क्तः । दीपयिता-दीप+णिच् लुट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—कृतेन अल्पेन उपजापेन आकोपवन्तस्ते अनिलेन साग्नय एधा दीपयितारः ।

तात्पर्यार्थः-यथा वायुः साग्नीनि काष्ठानि शीघ्रं दहति तथैव त्वयि प्रथमतः एव कुपितास्ते बाणादयः अल्पेन उपजापेन असमरसन्धानं विघटयिष्यन्ति ।

भाषा--उस शिशुपालसे किया हुआ थोड़ा भी भेद आपके विषयमें अत्यन्त क्रुद्ध उन बाणादि राजाओं को, अग्नियुक्त लकड़ियों को वायु की तरह शीघ्र क्रुद्ध करावेगा ॥ ९९ ॥

ततः किं स्यादत आह—

बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥ १०० ॥

अन्वयः—बृहत्सहायः क्षोदीयान् अपि कार्यान्तं गच्छति । नगापगा महानद्या सम्भूय अम्भोधिम् अभ्येति ।

सुधा-बृहत्सहायः=महासहायवान् । क्षोदीयान्=लघुतमोऽपि । कार्यान्तम्=कार्यपारम् । गच्छति=प्राप्नोति । नगापगा=गिरिनदी । महानद्या=महासरिता गङ्गादिकया । सम्भूय=सङ्गत्य । अम्भोधिम्=उदधिम् । अभ्येति=लभते ॥ १०० ॥

कोशः-'नदी सरित् । तरङ्गिणी शैवलिनी तटिनी ह्रादिनी धुनी । स्रोतस्वती द्वीपवती स्रवन्ती निम्नगाऽऽपगा', 'शैलवृक्षौ नगापगौ' इति चामरः ।

समासादिः—बृहत्सहायः=बृहन् सहायो यस्य सः । कार्यान्तम्-कार्यस्य अन्तं तत् । क्षोदीयान्—अतिशयेन क्षुद्रः इति । अम्भोधिम्—अम्भांसि धीयन्ते यस्मिन् तम् । महानद्या—महती चासौ नदी च तया । नगापगा—न गच्छतीति नगः तस्यापगा ।

व्याकरणम्—सम्भूय-सम् भू+क्त्वा ल्यप् । गच्छति-गम्+लट् तिप् छादेशः । क्षोदीयान्-क्षुद्+ईयसुन् । अभ्येति—अभि इ+लट् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सहायेन क्षोदीयसा कार्यान्तः गम्यते । नगापगया अम्भोधिः अभीयते ।

तात्पर्यार्थः—क्षुद्रोऽपि जनः 'बृहत्साहाय्यः सन् निजकार्यं साधयति चेत् महावीरश्चैद्यः बृहत्साहाय्यं प्राप्य निजकार्यं साधयिष्यतीति किमु वक्तव्यम् इति भावः ।

भाषा—अत्यन्त छोटा भी पुरुष बड़े की सहायता पाकर कार्यसमाप्तिको पहुंचता है । क्योंकि छोटी भी पहाड़ी नदी गङ्गा आदि बड़ी नदी से मिल कर समुद्र को पा लेती है ॥ १०० ॥

न केवलं शत्रोरसाध्यत्वं मित्रविरोधश्चाधिकोऽनर्थकर इत्याह—

तस्य मित्राण्यमित्रास्ते ये च ये चोभये नृपाः ।
अभियुक्तं त्वयैनं ते गन्तारस्त्वामतः परे ॥ १०१ ॥

अन्वयः—ये च तस्य मित्राणि ये च ते अमित्राः ते उभये नृपाः त्वया अभियुक्तम् एनं गन्तारः अतः परे ते त्वां गन्तारः ।

सुधा—ये च = यावन्तः । तस्य = चैद्यस्य । मित्राणि = सखायः । ये च ते = भवतः । अमित्राः = शत्रवः । ते उभये अपि, नृपाः = राजानः । त्वया = भवता । अभियुक्तम् = आक्रान्तम् । एनं = चैद्यम् । गन्तारः = गमिष्यन्ति । अतः = पूर्वोक्ताभ्यां, राजभ्यां परे = अन्ये । ते = राजानः । त्वां = भवन्तं । गन्तारः = अनुयातारः ॥ १०१ ॥

कोशः—'मित्रं सखा सुहृत्' 'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इति चामरः ।

समासादिः—अमित्राः—न मित्राणीत्यमित्राः नृपाः नॄन्—पान्तीति नृपाः ।

व्याकरणम्—नृ पा+कः 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति क । उभये—'उभयोन्यत्र' इति निपातः । अभियुक्तम्—अभि युज+क्त । गन्तारः—गम्+लुट् झि ।

वाच्यपरिवर्तनम्—यैः मित्रैः भूयते यैः अमित्रैः भूयते तैः उभयैरभियुक्तोऽयं गन्ता । परैस्तैस्त्वं गन्तासे ।

तात्पर्यार्थः—सङ्ग्रामे प्रचलिते सति ये चैद्यसुहृदः ये च तव रिपवस्ते उभ-

येऽपि चैद्यमेव अनुसरिष्यन्ति । ततः शेषाः पुनः परिमिता एव त्वाम् अनुगन्तारः । अतः शिशुपालः बहुसहायत्वात्सुजयो न ।

भाषा—जो शिशुपाल के मित्र हैं और जो आप के शत्रु हैं वे दोनों प्रकार के राजा आप से अभियुक्त इस शिशुपाल का अनुसरण करेंगे । उनसे बचे हुए जो राजा लोग हैं वे आपका अनुसरण करेंगे ॥ १०१ ॥

ततः किं स्यादत आह—

मखविघ्नाय सकलमित्थमुत्थाप्य राजकम् ।
हन्त ! जातमजातारेः प्रथमेन त्वयाऽरिणा ॥ १०२ ॥

अन्वयः—इत्थं मखविघ्नाय सकलं राजकम् उत्थाप्य हन्त ! अजातारेः त्वया प्रथमेन अरिणा जातम् ।

सुधा—इत्थम् = अनेन प्रकारेण । मखविघ्नाय—यज्ञविघाताय । सकलम् = समस्तम् । राजकम् = राजसमूहम् । उत्थाप्य=क्षोभयित्वा । हन्त=खेदः । अजातारेः = अजातशत्रोः, युधिष्ठिरस्येत्यर्थः । त्वया = भवता । प्रथमेन = प्रथमोपस्थितेन । अरिणा = रिपुणा । जातम् = अजनि ॥ १०२ ॥

कोशः—'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः सप्ततन्तुर्मखः क्रतुः' 'हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः' 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' इति चामरः ।

समासादिः—मखविघ्नाय—मखस्य यः विघ्नस्तस्मै । अजातारेः—अजाताः अरयो यस्य तस्य ।

व्याकरणम्—राजकम्—राजन् + 'गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्य' इत्यादिना समूहार्थे वुञ् । उत्थाप्य—उद् स्था + णिच् क्त्वा ल्यप् । जातम्—जन + भावे क्तः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—……त्वं प्रथमः अरिर्जातः ।

तात्पर्यार्थः—चैद्याक्रमणेन त्वया सह सङ्ग्रामाय समुत्सुकाः राजानः युधिष्ठिरयज्ञे कथमपि न यास्यन्ति; इत्थं तद्यागविघ्नसमुत्पादनेन त्वमेवाजातशत्रोस्तस्य प्रथमः शत्रुर्जातः ।

भाषा—इस प्रकार यज्ञविध्वंस के लिये सम्पूर्ण राजाओं को क्षुभित करा कर खेद है कि अजातशत्रु युधिष्ठिर के आप पहले शत्रु बने ॥ १०२ ॥

अस्तु तस्य शत्रुत्वं को दोषस्तत्राह—

सम्भाव्य त्वामतिभरक्षमस्कन्धं स बान्धवः ।
सहायमध्वरधुरां धर्मराजो विवक्षते ॥ १०३ ॥

अन्वयः—बान्धवः सः धर्मराजः अतिभरक्षमस्कन्धं त्वां सहायं सम्भाव्य अध्वरधुरां विवक्षते ।

सुधा—बान्धवः=बन्धुः । सः धर्मराजः=युधिष्ठिरः । अतिभरक्षमस्कन्धम्=अतिशयितभारवहनसमर्थांसं । त्वां=भवन्तं । सहायं=सहकारिणम् । सम्भाव्य=अभिसन्धाय । अध्वरधुरां=यज्ञभारं । विवक्षते=वोढुमिच्छति ।। १०३ ।।

कोशः—'सगोत्रबान्धवज्ञातिबन्धुस्वजनबान्धवाः' 'यज्ञः सवोऽध्वरो यागः' इति चामरः ।

समासादिः—अतिभरक्षमस्कन्धम्—अतिशयितो यः भरः तस्य क्षमः स्कन्धः यस्य तम् । अध्वरधुराम्—अध्वरस्य या धुरा ताम् । बान्धवः बन्धुरेव बान्धवः ।

व्याकरणम्—बान्धवः बन्धु+अण् प्रज्ञादित्वात् । अध्वरधुराम्—अध्वर धुर्+'ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे' इति अः । विवक्षते—वह+सन् लट् त ।

वाच्य०—'''बान्धवेन तेन धर्मराजेन अध्वरधुरा विवक्ष्यते ।

तात्पर्यार्थः—युधिष्ठिरः त्वामेव सहायमुपकल्प्य यागं कर्तुमिच्छति । शिशुपालविरोधेन यज्ञविघ्नो भवेच्चेद्विश्वासघातो बन्धुद्रोहश्च भविष्यति। तस्मादिदानीं चैद्याक्रमणं न कर्तव्यम् ।

भाषा—बन्धु वह युधिष्ठिर राजा अत्यन्त कार्यभार वहन करने में समर्थ स्कन्ध वाले आप को सहाय मान कर यज्ञ का भार वहन करने की इच्छा करता है ॥ १०३ ॥

नन्वङ्गीकृत्याकरणे दोषः, प्रागेव प्रत्याख्याने तु को दोष इत्यत आह—

महात्मानोऽनुगृह्णन्ति भजमानान् रिपूनपि ।
सपत्नीः प्रापयन्त्यब्धिं सिन्धवो नगनिम्नगाः ॥१०४॥

अन्वयः—महात्मानः भजमानान् रिपूनपि अनुगृह्णन्ति । सिन्धवः सपत्नीः नगनिम्नगाः अब्धिं प्रापयन्ति ।

सुधा—महात्मानः=महीयांसः, निग्रहानुग्रहसमर्था इत्यर्थः । भजमानान्=

स्वशरणं प्राप्तान् । रिपून्=शत्रूनपि, किमुत बन्धून् इति भावः । अनुगृह्णन्ति=दयन्ते । सिन्धवः=गङ्गादिमहानद्यः । सपत्नीः=समानभर्तृकाः । नगनिम्नगाः=शैलनदीः । अब्धिम्=समुद्रम् । प्रापयन्ति=नाययन्ति ॥ १०४ ॥

कोशः—'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः । द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' 'शैलवृक्षौ नगावगौ' 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः' इति चामरः ।

समासादिः—महात्मानः—महान् आत्मा येषां ते । सपत्नीः—समानः पतिर्यासां ताः । नगनिम्नगाः—निम्नं गच्छन्तीति निम्नगाः, नगस्य निम्नगाः यास्ताः ।

व्याकरणम्—अब्धिम्—अप धा+किः । प्रापयन्ति—प्र आप+णिच् लट् झि । सपत्नीः समानस्य सादेशः । भजमानान्—भज+लट् कर्तरि शानच् । अनुगृह्णन्ति-अनुग्रह+लट् झि, क्र्यादित्वात् श्ना, 'श्नाभ्यस्तयोरातः' इत्यालोपः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—महात्मभिः भजमानाः रिपवः अपि अनुगृह्यन्ते । सिन्धुभिऽ सपत्न्यः प्राप्यन्ते ।

तात्पर्यार्थः—महाजनः शरणागतं शत्रुमप्यनुगृह्णात्येव । महानद्यः सपत्नीरपि नगनदीः समुद्रं प्रापयन्त्येव । युधिष्ठिरस्तु सहजमित्रः शरणागतश्च, सः कथम् उपेक्षणीयः ? तस्मात्पार्थयागे अवश्यं गन्तव्यम् ।

भाषा—महात्मा लोग शरणागत शत्रुओं के ऊपर भी अनुग्रह करते हैं । गङ्गादि नदियाँ अपनी सौत पहाड़ी नदियों को भी समुद्र के पास पहुंचाती हैं ॥

ननु सम्प्रति उपेक्षितोऽपि पार्थः प्रार्थनादिना पश्चात् प्रसन्नो भविष्यतीत्यत आह—

चिरादपि बलात्कारो बलिनः सिद्धयेऽरिषु ।
छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः सुहृदो विमनीकृताः ॥ १०५ ॥

अन्वयः—बलिनः अपि अरिषु बलात्कारः चिरात् सिद्धये भवति । विमनीकृताः सुहृदः छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः ।

सुधा—बलिनः=बलवतः, अपि । अरिषु=रिपुषु विषये । बलात्कारः=दण्डेनाक्रमणम् । चिरात्=बहुकालेन । सिद्धये=स्वकार्यसफलत्वाय भवन्ति । विमनीकृताः=वैमनस्यं प्रापिताः । सुहृदः=मित्राणि । छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः=तदाशयानुकूलानुसरणेनापि दुःसाध्याः ॥ १०५ ॥

कोशः—'बलवान्मांसलोंऽसलः' 'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः' 'मित्रं सखा सुहृत्' 'छन्द आशयः' इति चामरः ।

समासादिः—बलात्कारः—बलात्करणमिति । छन्दानुवृत्तिदुःसाध्याः—दुःखेन साध्याः दुसाध्याः, छन्दया अनुवृत्त्या ये दुःसाध्यास्ते । विमनीकृताः-विषण्णं मनः येषां ते विमनसः, न विमनसः अविमनसः विमनसः सम्पद्यमानाः कृताः इति ते । सुहृदः=शोभनं हृदयं येषां ते ।

व्याकरणम्—बलात्कारः-बलात् कृ + भावे घञ् । बलिनः—बल + इनिः । विमनीकृताः—वि मनस् + च्विः कृ + क्तः सलोपश्च ।

वाच्यपरिवर्तनम्—......बलात्कारेण......भूयते । कृतैः सुहृद्भिः... दुःसाध्यैः भूयते ।

तात्पर्यार्थः—बलवानपि जनः शत्रोरुपरि बलात्कारं कुर्यात् चेत् तदा चिरेण सिद्धिं प्राप्नुयात् । परन्तु विमनस्कतां प्रापिताः सुहृदस्तु तदाशयानुकूलानुवर्तनेनापि दुःसाध्या भवन्ति । तस्मात् पार्थः न खेदयितव्यः ।

भाषा—बलवान् भी पुरुष शत्रुओं में बलात्कार करे तो बहुत काल में कार्यसिद्धि के लिये समर्थ होता है । वैमनस्य को प्राप्त कराये गये मित्र लोग उनके मन के अनुसार कार्य करने पर भी दुःसाध्य होते हैं ॥ १०५ ॥

ननु देवकार्यं पुरतः कर्तव्यमित्यत आह—

मन्यसेऽरिवधः श्रेयान् प्रीतये नाकिनामिति ।
पुरोडाशभुजामिष्टमिष्टं कर्तुमलन्तराम् ॥ १०६ ॥

अन्वयः—नाकिनां प्रीतये अरिवधः श्रेयान् इति मन्यसे चेत् पुरोडाशभुजाम् इष्टं कर्तुम् इष्टम् अलन्तराम् ।

सुधा—नाकिनाम्—देवानाम् । प्रीतये=प्रसादाय । अरिवधः=रिपुमारणम् । श्रेयान्=प्रशस्यतरः इति=एवम् । मन्यसे = स्वीकरोषि; चेत् = तर्हि । पुरोडाशभुजाम् = हविर्भुजाम् । इष्टम्=अभीप्सितम् । कर्तुम् = विधातुम् । इष्टम्=यागः । अलन्तराम् = अतिपर्याप्तम् ॥ १०६ ॥

कोशः—'इष्टं यागादिकर्म यत' 'अलं भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणवाचकम्' इति चामरः ।

समासादि:--अरिवधः-अरेः यः वधः सः । नाकिनाम्-न विद्यमानं अकं यस्मिन् सः नाकः, सः येषामस्ति तेषाम् :

व्याकरणम्—इष्टम्-यज+भावे क्तः 'वचिस्वपियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणम् । नाकिनाम्-नाक+इनि । श्रेयान्-प्रशस्य+ईयसुन् 'प्रशस्यस्य श्रः' इति श्रादेशः । अलन्तराम्—अलं+तरप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—......अरिवधेन श्रेयसा भूयते एवं त्वया मन्यते... इष्टेन भूयते ।

तात्पर्यार्थ:--शत्रुभूतचैद्यवधात् देवानां प्रीतिर्भविष्यति इति सत्यम् परन्तु सुसम्पन्नो युधिष्ठिरयागोऽत्यन्तं प्रीतिं सम्पादयिष्यन्ति तेषां हविर्भुक्त्वात् । इति भावः ।

भाषा--देवताओं की प्रसन्नता के लिये शत्रुवध अच्छा है ऐसा समझते हों तो हविर्भक्षण करने वाले देवों का अभीष्ट सम्पादन करने के लिये यज्ञ ही अत्यन्त पर्याप्त है ॥ १०६ ॥

ननु देवा अमृताशनेनैव तृप्ताः, तेषां किं यागादिभिरत आह—

अमृतं नाम यत्सन्तो मन्त्रजिह्वेषु जुह्वति ।
शोभैव मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना ॥ १०७ ॥

अन्वयः—सन्तः मन्त्रजिह्वेषु यत् जुह्वति तत् अमृतं नाम । मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना शोभा एव ।

सुधा—सन्तः=बुधाः । मन्त्रजिह्वेषु=अग्निषु । यत्=पुरोडाशादिकम् । जुह्वति=अर्पयन्ति । तदेव अमृतम् नाम=पीयूषमिति कथ्यते । मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना=मन्दराचलरूपमन्थनदण्डनिर्मथितवर्णनम् । शोभा एव= अलङ्कार एव ॥ १०७ ॥

कोशः--सन् सुधीः कोविदो बुधाः' 'समुद्रोऽब्धिरकूपारः पारावारः सरित्पतिः' इति चामरः ।

समासादिः—मन्त्रजिह्वेषु—मन्त्रा एव जिह्वाः येषां तेषु । मन्दरक्षुब्धक्षुभिताम्भोधिवर्णना-मन्दरः यः क्षुब्धः तेन क्षुभितः यः अम्भोधिः तस्य या वर्णना सा ।

व्याकरणम्—सन्तः-अस्+कर्तरि शतृ । जुह्वति—हु+लट् झि, श्लुः द्वित्वादिकम् । शोभा—शुभ्+पचादित्वादच् टाप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सद्भिः हूयते……अमृतेन तेन भूयते……वर्णनया शोभया भूयते ।

तात्पर्यार्थः—यज्ञे अग्नौ समर्पितं हविरेवामृतम् । समुद्रमन्थनात् अमृतोत्पत्तिरिति तु महाकवीनां चातुर्यमात्रम् । तस्मात् अग्नौ दीयमानं हविरेव देवप्रसादोत्पादकम् ।

भाषा—विद्वान् लोग अग्नि में जो हवन करते हैं वहीं अमृत कहा जाता है । (अमृत के लिये) मन्दराचलरूपी मन्थनदण्ड से निर्मंथित समुद्र का वर्णन करना तो केवल शोभा मात्र है ।। १०७ ।।

किञ्च यात्रायां पूर्वकृतप्रतिज्ञाभङ्गः स्यादित्याह—

सहिष्ये शतमागांसि सूनोस्त इति यत्त्वया ।
प्रतीक्ष्यं तत्प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे प्रतिश्रुतम् ।। १०८ ।।

अन्वयः—प्रतीक्ष्यायै पितृष्वस्रे 'ते सूनोः शतम् आगांसि सहिष्ये' इति यत् त्वया प्रतिश्रुतं तदपि प्रतीक्ष्यम् ।

सुधा—प्रतीक्ष्यायै = पूज्यायै । पितृष्वस्रे = पितृभगिन्यै । ते = तव । सूनोः = पुत्रस्य । शतं = शतसङ्ख्याकानि । आगांसि = अपराधान् । सहिष्ये = मृक्ष्यामि । इति = एवम् । यत् त्वया = भवता । प्रतिश्रुतं = प्रतिज्ञातम् । तदपि = प्रतिज्ञातमपि । प्रतीक्ष्यम् = परिपालनीयम् ।। १०८ ।।

कोशः—'पूज्यः प्रतीक्ष्यः' 'आगोऽपराधो मन्तुश्च' 'भगिनी स्वसा' इति चामरः ।

समासादिः—पितृष्वस्रे—पितुः या स्वसा तस्यै ।

व्याकरणम्—सहिष्ये—सह + लृट् इट् । प्रतीक्ष्यम्—प्रति ईक्ष + 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—सहिष्यन्ते त्वं प्रतिश्रुतवान् तेन प्रतीक्ष्येण भूयते ।

तात्पर्यार्थः—पूर्वं भवता चैद्यमातुः त्वत्पितृभगिन्याः निकटे 'अहं तव सुतस्य अपराधशतं सहिष्ये' इति प्रतिज्ञातम्; अतस्तद्विपरीताचरणं तव प्रतिज्ञाभङ्गकरं भवेत् । अतः अपराधशतपर्यन्तं चैद्यवधो न कर्तव्यः ।

भाषा—पूज्य अपनी पितृष्वसा से 'तुम्हारे पुत्र के शत अपराध सहन करेंगे' ऐसी जो तुमने प्रतिज्ञा की है, वह भी निबाहना चाहिये ।। १०८ ।।

नन्वस्य औद्धत्यस्यासह्यत्वात् प्रतिज्ञाभङ्गोऽपि सोढव्य इत्यत आह—

तीक्ष्णा नारुन्तुदा बुद्धिः कर्म शान्तं प्रतापवत्।
नोपतापि मनः सोष्म वागेका वाग्मिनः सतः॥ १०९॥

अन्वयः—सतः बुद्धिः तीक्ष्णा, अरुन्तुदा न। सतः कर्म प्रतापवत् अपि शान्तम्। मनः सोष्म, उपतापि न। वाग्मिनेः वाक् एका।

सुधाः—सतः=सज्जनस्य। बुद्धिः=प्रज्ञा। तीक्ष्णा=कुशाग्रीया। अरुन्तुदा=मर्मभेदिनी न। सतः कर्म=व्यापारः। प्रतापवत्=तेजोयुक्तम्। तथापि शान्तम्=अनुद्वेगकरम्। मनः=चित्तम्। सोष्म=अभिमानोष्णम्, परन्तु उपतापि=अग्न्यादिवत्, परसन्तापजनकं न। वाग्मिनः=प्रौढं वक्तुः। वाक्=वाणी। एका=एकरूपा, अचला इत्यर्थः॥१०९॥

कोशः—'बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी मतिः' 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः' इति चामरः।

समासादिः—अरुन्तुदा-अरुं तुदति इति अरुन्तुदा। प्रतापवत्-प्रतपत्यनेनेति प्रतापः सः यस्मिन्नस्ति इति। उपतापि-उपतापयतीति। वाग्मिनः=वाक् अस्ति यस्य तस्य। सोष्म-ऊष्मणा सह वर्तमानम्।

व्याकरणम्—अरुन्तुदा-अरु-तुद+खच् 'अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्' इति मुमागमः। उपतापि—उप+णिनिः। वाग्मिनः—वाक्+ग्मिनिः।

वाच्यपरिवर्तनम्-बुद्धया तीक्ष्णया भूयते, अरुन्तुदया न। कर्मणा प्रतापवता शान्तेन भूयते मनसा सोष्मणा भूयते, उपतापिना न। वाचा एकया भूयते।

तात्पर्यार्थः—साधूनां व्यवहारः सत्यो भवति अतः चैद्यविषये यत्त्वया प्रतिज्ञातं पूर्वं तदेव प्रतिपालय। चेतसः उपतापकत्वं बुद्धेः मर्मभेदकत्वं कर्मण इतरभयजनकत्वं च दूरय।

भाषा—सज्जन की बुद्धि सूक्ष्म होती है, पर मर्मभेदन करने वाली नहीं होती, सज्जन का कर्म तेजस्वी होता है तथापि शान्त रहता है। सज्जन का मन अभिमान से गरम रहता है, पर अग्नि की तरह दूसरे को ताप देने वाला नहीं होता। वक्ता की वाणी एकरूप होती है॥ १०९॥

समयप्राप्तौ सत्यामेष चैद्यवधः शक्य इत्याह—

स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्याह्नो भानुमानिव ।
समयावधिमप्राप्य नान्तायालं भवानपि ॥ ११० ॥

अन्वयः—किञ्च अह्नः भानुमान् इव स्वयङ्कृतप्रसादस्य तस्य अन्ताय समयावधिम् अप्राप्य भवान् अपि न अलम् ।

सुधा—किञ्च = अन्यदपि । अह्नः = दिनस्य । भानुमान्=सूर्यः इव । स्वयङ्कृतप्रसादस्य=स्वयंविहितदयस्य । तस्य=चैद्यस्य । अन्ताय=नाशाय । समयावधिम् = नियतकालपर्यन्तम् । अप्राप्य = अलब्ध्वा । भवान=त्वमपि न् अलम् = न शक्तः ॥ ११० ॥

कोशः—'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः ।

समासादिः—स्वयङ्कृतप्रसादस्य—स्वयं कृतः प्रसादो यस्य तस्य । भानुमान्—भानवः सन्ति यस्य सः । समयावधिम्—समयस्य यः अवधिः तम् ।

व्याकरणम्—भानुमान्—भानु + मतुप् । अप्राप्य—नञ् प्र आप् + क्त्वा अह्नः—अहन् + ङस्, 'अल्लोपोनः' इत्यल्लोपः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—भानुमता इव भवताऽपि भूयते ।

तात्पर्यार्थः—दिवसान्तविधाने सूर्यं इव समयावधिम् अप्राप्य चैद्यवधे भवानपि न समर्थः । तस्मादपराधशतपर्यन्तं चैद्य उपेक्ष्य एव ।

भाषा—और भी बात है कि दिन के नाश के लिये सूर्य की तरह स्वयं आपके प्रसादसे अनुगृहीत उस चैद्य के वध के लिये प्रतिज्ञा की अवधि बिना प्राप्त किये आप भी समर्थ नहीं हैं ॥ ११० ॥

तर्हीदानीं किं कर्तव्यमित्यत आह—

कृत्वा कृत्यविदतीर्थेष्वन्तः प्रणिधयः पदम् ।
विदाङ्कुर्वन्तु महतस्तलं विद्विषदम्भसः ॥ १११ ॥

अन्वयः—कृत्यविदः प्रणिधयः तीर्थेषु अन्तः पदं कृत्वा महतः विद्विषदम्भसः तलं विदांकुर्वन्तु ।

सुधा—कृत्यविदः=कार्यज्ञाः विधिज्ञाश्च । प्रणिधयः = गूढपुरुषाः । तीर्थेषु= मन्त्राद्यष्टादशस्थानेषु, जलावतारेषु च अन्तः = अभ्यन्तरम् । पदम्=स्थानं पाद-

न्यासञ्च। कृत्वा=विधाय। महतः=बृहतः, अगाधस्य च। विद्विषदम्भसः=अरिरूप-पानीयस्य। तलम् = अधःप्रदेशम्, स्वरूपञ्च। विदांकुर्वन्तु = जानन्तु ॥१११॥

कोशः—'प्रणिधिर्गूढपुरुषः' योनौ जलावतारे च मन्त्राद्यष्टादशस्वपि। पुण्य-क्षेत्रे तथा तीर्थं स्यात्' इति च हलायुधः। 'अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्' इत्यमरः।

समासादिः—कृत्यविदः=कृत्यं विदन्तीति ते। तीर्थेषु—तरन्ति—एभिरिति तेषु। द्विषदम्भसः—द्विषदेवाम्भः तस्य।

व्याकरणम्—कृत्यविदः=कृत्यं विद+क्विप्। महतः—मह+शतृ। कृत्वा—कृ+क्त्वा। विदाङ्कुर्वन्तु—विद+आम् कृ+लोट् झि, 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्य-न्यतरस्याम्' इति निपातनात् सिद्धम्।

वाच्यपरिवर्तनम्—कृत्यविद्भिः प्रणिधिभिः विदाङ्क्रियताम्।

तात्पर्यार्थः—यथा सोपानमार्गेण जलाशयस्याधःप्रदेशम् अगत्वा जलप्रमाणं नैव जानाति तथैव कार्यज्ञोऽपि प्रणिधिः शत्रोः स्वरूपं मन्त्राद्यष्टादशस्थानेषु अगत्वा नैव ज्ञातुं शक्नोति। तस्माच्चैव एषः चरद्वारेण यथार्थं ज्ञातव्यः।

भाषा—कार्य को जानने वाले गुप्तचर मन्त्रादि अष्टादश स्थानों में भीतर प्रविष्ट होकर शत्रु के स्वरूप को जाने ॥ १११ ॥

उक्तस्यावश्यकत्वं प्रतिपादयति—

अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ ११२ ॥

अन्वयः—अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना राजनीतिः अपस्पशा शब्दविद्या इव नो भाति।

सुधा—अनुत्सूत्रपदन्यासा=नीतिशास्त्रविरुद्धपदप्रक्षेपरहिता, नीतिपूर्वकसक-लव्यवहारेत्यर्थः, अन्यत्र सूत्रमनुक्रम्य पदप्रयोगयुक्ता। सद्वृत्तिः = शोभनभृत्या-मात्यादिजीविकायुता, अन्यत्र काशिकाख्यवृत्तिग्रन्थयुक्ता। सन्निबन्धना = कार्य-समाप्तौ दत्तगोहिरण्यादिदानसहिता, अन्यत्र भाष्याख्यसन्निबन्धसहिता। राज-नीतिः = राजवृत्तिः। अपस्पशा = गुप्तचररहिता, अन्यत्र उपोद्घातसन्दर्भरहिता। शब्दविद्येव = व्याकरणविद्येव। नो भाति = न शोभते ॥ ११२ ॥

कोशः—'वृत्तिर्ग्रन्थजीवनयोः' इति वैजयन्ती। 'यथार्थवर्णो मन्त्रज्ञः स्पशो हरक उच्यते' इति हलायुधः। 'चरः स्पशः' इत्यमरश्च।

समासादिः—अनुत्सूत्रपदन्यासा—उत्क्रान्तः सूत्रमित्युत्सूत्रः, पदस्य न्यासः पदन्यासः, न उत्सूत्रः पदन्यासो यस्यां सा, अन्यत्र पक्षे सूत्रमुत्क्रान्ताः उत्सूत्राः, न उत्सूत्राः अनुत्सूत्राः, अनुत्सूत्राः पदन्यासा यस्यां सा । सद्वृत्तिः—सती वृत्तिर्यस्यां सा । सन्निबन्धना—निबध्यते अनेन तत् निबन्धनम् , सत् निबन्धनं यस्यां सा, अन्यत्र पक्षे निबध्यते यस्मिन् तत् निबन्धनम् , सत् निबन्धं यस्यां सा । अपस्पशा—अपगता स्पशाः यस्यां सा अपस्पशा, पक्षान्तरे अविद्यमानः पस्पशो यस्याः सा अपस्पशा । शब्दविद्या—विदन्ति यया सा विद्या, शब्दानां विद्या शब्दविद्या ।

व्याकरणम्—सद्वृत्तिः-सद् वृत्+क्तिन् । सन्निबन्धना—सत् नि बन्ध+ल्युट्, टाप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—...न्यासया सद्वृत्त्या सन्निबन्धनया राजनीत्या अपस्पशया शब्दविद्यया भायते ।

तात्पर्यार्थः—यथा वृत्तिभाष्यादिसहिताऽपि उपोद्घातरहिता व्याकरणविद्या न शोभते तद्वत् नीतिमार्गानुकूलपदविन्याससहिता समीचीनसज्जीविका सत्पारितोषिका अपि राजनीतिश्चाररहिता सती न शोभते । तस्मात्परराष्ट्रे चारप्रेषणेन तत्रत्यं रहस्यं ज्ञात्वा तदुपायः सामादिः विधातव्यः ।

भाषा—नीतिशास्त्रविरुद्ध आचाररहित अच्छी वृत्ति वाली और अच्छे पारितोषिकसहित भी राजनीतिक गुप्तचर रहित होती हुई शब्दविद्या की तरह सुशोभित नहीं होती ॥ ११२ ॥

शत्रुषु भेदश्च प्रयोक्तव्य इत्याह—

अज्ञातदोषैर्दोषज्ञैरुद्दूष्योभयवेतनैः ।

भेद्याः शत्रोरभिव्यक्तशासनैः सामवायिकाः ॥ ११३ ॥

अन्वयः—अज्ञातदोषैः दोषज्ञैः अभिव्यक्तशासनैः उभयवेतनैः शत्रोः सामवायिकाः उद्दूष्य भेद्याः ।

सुधा—अज्ञातदोषैः=परैरज्ञातनिजकर्मच्छिद्रैः । दोषज्ञैः=स्वयम्, पररहस्यज्ञैः । अभिव्यक्तशासनैः=भेद्याग्रे प्रकटितविश्वासविघातककूटलिखितैः । उभयवेतनैः=शत्रुतो निजस्वामितश्च जीविकावद्भिः । शत्रोः=रिपुसम्बन्धिनः । साम-

वायिकाः = समवाये सम्मिलिताः, अमात्यादयः । उद्दूष्य = अत्यन्तं दूषयित्वा । भेद्याः = विघटनीयाः, पृथक्करणीया इति यावत् ॥ ११३ ॥

कोशः—'रिपौ वैरिसपत्नारिद्विषद्द्वेषणदुर्हृदः । द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' इत्यमरः ।

समासादिः—अज्ञातदोषैः—न ज्ञातः दोषः येषां तैः । दोषज्ञैः—दोषान् जानन्ति इति तैः । अभिव्यक्तशासनैः—अभिव्यक्त शासनं येषां तैः । उभयवेतनैः—उभाभ्यां वेतनं येषां तैः । सामवायिकाः—समवायान् समवयन्तीति ते ।

व्याकरणम्—दोषज्ञैः—दोष ज्ञा + 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' इति कः । सामवायिकाः-समवाय + 'समवायान्समवैति' इति ठक । भेद्याः—भिद् + 'ऋहलोर्ण्यत्' इति ण्यत् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—अज्ञातदोषाः दोषज्ञाः अभिव्यक्तशासनाः उभयवेतनाः ...सामवायिकान्...भेदयेयुः ।

तात्पर्यार्थः—चारमुखेन शत्रुवृत्तान्तज्ञानम् एव न, अपि तु तेषु परस्परं भेदोऽपि कर्तव्यः । अतः प्रच्छन्नवेषैः भवद्गूढगुरुषैः शत्रुराष्ट्रे जीविकाऽऽदानेन विश्वासम् उत्पाद्य निखिलरहस्यं ज्ञात्वा मन्त्रिवर्गेषु भेदः कर्तव्यः ।

भाषा—अपने रहस्य को कोई नहीं जानता हो किन्तु वे सबके रहस्य को जानते हों ऐसे और कूटलेख बनाकर दोनों ओर से वेतन ग्रहण करने वाले गुप्तचरों के द्वारा राजा और उसके अमात्यों में अविश्वास उत्पन्न कराकर शत्रुपक्ष को विघटित कर देना चाहिये ॥ ११३ ॥

इन्द्रप्रस्थनगरे एव गुप्तचरैः स्वपक्षीयाः सर्वे राजानः मेलयितव्याश्चेत्याह—

उपेयिवांसि कर्तारः पुरीमाजातशात्रवीम् ।
राजन्यकान्युपायज्ञैरेकार्थानि चरैस्तव ॥ ११४ ॥

अन्वयः—उपायज्ञैः तव चरैः एकार्थानि राजन्यकानि आजातशात्रवीं पुरीम् उपेयिवांसि कर्तारः ।

सुधा—उपायज्ञैः = कार्यसाधनोपायनिपुणैः । तव = भवतः । चरैः = स्पशैः, पुरुषैः । एकार्थानि = एकप्रयोजनानि । राजन्यकानि = राजन्यसमूहाः । अजातशात्रवीं = पाण्डवीं पुरीम्, इन्द्रप्रस्थनगरीमित्यर्थः । उपेयिवांसि = प्राप्नुवन्ति । कर्तारः = करिष्यन्ते ॥ ११४ ॥

कोशः—'चरः स्पशः' 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु' 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौं वा, इति चामरः ।

समासादिः—उपायज्ञैः—उपायं जानन्ति ये तैः । एकार्थानि—एकः अर्थः येषान्तानि । आजातशात्रवीम्—अजातशत्रोरियम् आजातशात्रवी ताम् । राजन्यकानि—राज्ञः अपत्यानि राजन्याः तेषां समूहाः ।

व्याकरणम्—उपायज्ञैः—उपाय ज्ञा+कः 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति । चरैः—चर+अच् । अजातशात्रवीम्—अजातशत्रु+अण् ङीष् । राजन्यकानि= राजन्+यत् वुञ् । उपेयिवांसि—उप इण्+लिट् क्वसुः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—उपायज्ञाः...चराः... ।

तात्पर्यार्थः—तैरेव चरैः इन्द्रप्रस्थे अस्माकं महत्कार्यं भविष्यति । तस्मात् यज्ञप्रस्थानव्याजेन सन्नद्धैः भवद्भिरागन्तव्यम् इति ते निखिला राजानः गूढं सन्दिष्टाः सन्तः तत्र मिलिष्यन्ति ।

भाषा—सामादि उपायों को जानने वाले आपके चरों के द्वारा एक प्रयोजन वाले राजसमूह युधिष्ठिर की नगरी को पहुंचाये जायँगे ।। ११४ ।।

तत्र यागे एव युद्धं सम्भावयति—

सविशेषं सुते पाण्डोर्भक्तिं भवति तन्वति ।
वैरायितारस्तरलाः स्वयं मत्सरिणः परे ।। ११५ ।।

अन्वयः—पाण्डोः सुते भवति सविशेषं भक्तिं तन्वति सति तरलः मत्सरिणः परे स्वयं वैरायितारः ।

सुधा—पाण्डोः=पाण्डुराजस्य । सुते=पुत्रे । भवति=त्वयि । सविशेषम्=अधिकम् । यथा तथा भक्तिं=सम्मानम् । तन्वति=विस्तारयति, सति । तरलाः—चञ्चलस्वभावाः । मत्सरिणः—अन्यशुभद्वेषिणः । परे—शत्रवः स्वयम्—आत्मनैव । वैरायितारः=विरोधयितारः ।। ११५ ।।

कोशः—'सुतः पुत्रः' 'चञ्चलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे' 'मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे' 'वैरं विरोधो विद्वेषः' इति चामरः ।

समासादिः—सविशेषम्—विशेषेण सह वर्तमानं यथा तथा । मत्सरिणः—मत्सरः अस्ति येषान्ते ।

व्याकरणम्—सविशेषम् सह विशेष, सहस्य सादेशः । तन्वति–तनु+लट् शतृ । मत्सरिणः–मत्सर+इनिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तरलैः मत्सरिभिः······परैः वैरायिता ।

तात्पर्यार्थः—इन्द्रप्रस्थे यदा युधिष्ठिरो भवन्तं सादरम् अर्चिष्यति तदैव ते सर्वे मत्सरिणः वैरं करिष्यन्ति ।

भाषा—पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर आप का अधिक सम्मान करेंगे तब चञ्चल स्वभाव वाले मत्सरी शत्रु स्वयं वैर करेंगे ।। ११५ ।।

केषांचित्तत्पक्षीयाणां स्वपक्षाश्रयणं तत्र सम्भावयति—

य इहात्मविदो विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजोऽपि भूभुजः स्युः ।
बलिपुष्टकुलादिवान्यपुष्टैः पृथगस्मादचिरेण भाविता तैः ॥११६॥

अन्वयः—इह विपक्षमध्ये सहसंवृद्धियुजः अपि ये भूभुजः आत्मविदः स्युः तैः बलिपुष्टकुलात् अन्यपुष्टैः इव अचिरेण अस्मात् पृथक् भाविता ।

सुधा—इह=अत्र । विपक्षमध्ये=द्विषन्मध्ये । सहसंवृद्धियुजः=शिशुपालेन सार्धमैश्वर्यं प्राप्ता अपि । ये भूभुजः=भूमिपाः । आत्मविदः=स्वाभिजनज्ञातारः । स्युः=भवेयुः तैः=भूमिपालैः । बलिपुष्टकुलात्=काककुलात् । अन्यपुष्टैः=परभृतैः, इव । अचिरेण=शीघ्रम् । अस्मात्=विपक्षमध्यात् । पृथक् भाविता=भिन्नं, यथा स्यात्तथा भविष्यते । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।। ११६ ।।

कोशः—'द्विड्विपक्षाहितामित्रदस्युशात्रवशत्रवः' 'काके तु करटारिष्टबलिपुष्टसकृत्प्रजाः' 'वनप्रियः परभृतः कोकिलः पिक इत्यपि' इति चामरः ।

समासादिः—विपक्षमध्ये–विरुद्धः पक्षः येषां ते विपक्षाः तेषां यत् मध्यं तस्मिन् । सहसंवृद्धियुजः—सह वृद्धया युज्यन्ते इति ते । आत्मविदः—आत्मानं विदन्ति इति आत्मविदः । बलिपुष्टकुलात्—बलिपुष्टानां यत् कुलं तस्मात् । अन्यपुष्टैः—अन्यैः ये पुष्टाः तैः । भूभुजः—भुवं भुञ्जन्ति ये ते ।

व्याकरणम्—भुभुजः—भू भुज्+क्विप् । अन्यपुष्टैः–अन्य पुष्ट+क्तः । स्युः–अस्+लिङ् झि जुस् । भाविता–भू+भावे लुट् तिप् चिण्वदिट् वृद्धिः ।

वाच्यपरिवर्तनम्—···युग्भिः अपि यैः भूभुग्भिः आत्मविद्भिः भूयेत ते अन्यपुष्टाः······भावितारः ।

तात्पर्यार्थः—शत्रुपक्षीया राजानः शिशुपालसकाशात् अभ्युदयं प्राप्ता अपि स्वाभिजनवेदिनः सन्तः काककुलं परित्यज्य कोकिला इव स्वकुलमेव तस्मात्पृथग्भूय आश्रयिष्यन्ति, त्वया सह मैत्रीं च करिष्यन्ति।

भाषा—इस शत्रुदल में शिशुपाल से संवृद्धि को पाये हुये राजा लोग भी अपने स्वरूप को जानकर काक के कुल से कोयल की तरह इस शिशुपाल से अलग होकर हमारे पक्ष में आ जायंगे ॥ ११६ ॥

फलितां शत्रुवधरूपामाशिषं प्रयुङ्क्ते—

सहजचापलदोषसमुद्धतश्चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः ।
तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभतां लभतामसुहृद्गणः ॥११७॥

अन्वयः—सहजचापलदोषसमुद्धतः चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः असुहृद्गणः तव दुरासदवीर्यविभावसौ शलभताम् लभताम्।

सुधा—सहजचापलदोषसमुद्धतः=स्वाभाविकचाञ्चल्यरूपदोषदृप्तः। चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः=चञ्चलनिर्बलपक्षसमूहः। असुहृद्गणः=शत्रुवर्गः। तव=भवतः। दुरासदवीर्यविभावसौ=दुःसहवीर्याग्नौ। शलभताम्=पतङ्गताम्। लभताम्=प्राप्नोतु। पद्येऽस्मिन् द्रुतविलम्बितं वृत्तम्। तल्लक्षणं च—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ' इति ॥ ११७ ॥

कोशः—'सूर्यवह्नी विभावसू' 'समौ पतङ्गशलभौ' इति चामरः।

समासादिः—सहजचापलदोषसमुद्धतः—सह जातं सहजम्, चपलस्य भावः चापलम्, सहजञ्च तच्चापलं च सहजचापलं तदेव यो दोषः तेन समुद्धतः। चलितदुर्बलपक्षपरिग्रहः—पक्षस्य परिग्रहः पक्षपरिग्रहः, दुर्बलः पक्षपरिग्रहः दुर्बलपक्षपरिग्रहः, सः चलितः यस्य सः। असुहृद्गणः—असुहृदां यः गणः। दुरासदवीर्यविभावसौ—दुःखेन आसाद्यते इति दुरासदम्, तत् वीर्यं यस्य तदेव विभावसु तस्मिन्।

व्याकरणम्—शलभताम्-शलभ+भावे तल्। लभताम्-लभ्+कर्तरि लोट् त।

वाच्यपरिवर्तनम्—...समुद्धतेन...परिग्रहेण...गणेन...शलभता लभ्यताम्।

तात्पर्यार्थः—स्वाभाविकचञ्चलतादोषदृप्तः पृथग्भूतदुर्बलसाहाय्यवर्गः शत्रुवर्गः असह्यत्वद्वीर्यवह्नौ शलभ इव नश्यतु।

भाषा—स्वाभाविक चञ्चलतादोष से समुद्धत, पृथग्भूत और दुर्बल सहाय

वाला आप का शत्रुवर्ग आप के दुःसह पराक्रमरूपी आग में पतङ्गत्व को प्राप्त करे ॥ ११७ ॥

इति विशकलितार्थामौद्धवीं वाचमेना-
मनुगतनयमार्गामर्गलां दुर्नयस्य ।
जनितमुदमुदस्थादुच्चकैरुच्छ्रितोरः-
स्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुतां शुश्रुवान् सः ॥११८॥

अन्वयः—सः इति विशकलितार्थाम् अनुगतनयमार्गाम् दुर्नयस्य अर्गलाम् जनितमुदम् उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुताम् औद्धवीम् एनाम् वाचम् शुश्रुवान् उच्चकैः उदस्थात् ।

सुधा—सः=श्रीकृष्णः । इति=पूर्वोक्ताम् । विशकलितार्थां=विमृष्टार्थाम् । अनुगतनयमार्गाम्=आश्रितनीतिपथाम्; नीतिमार्गानुसारिणीमित्यर्थः । दुर्नयस्य=बलभद्रप्रोक्तदुर्नयस्य । अर्गलाम्=प्रतिबन्धिकाम् । अत एव जनितमुदम्=श्रीकृष्णः कृतानन्दाम् । उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुताम्=तुङ्गवक्षस्थलनिरन्तरस्थित-लक्ष्म्या, आकर्णिताम् । औद्धवीम्=उद्धवसम्बन्धिनीम् । एनाम्=पूर्वोक्ताम् । वाचम्=वाणीम् । शुश्रुवान्=आकर्णितवान् । उच्चकैः=उन्नतः, सन् । उदस्थात्=स्वासनाः दुदगच्छत् । अस्मिन् श्लोके मालिनी वृत्तम्, 'ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः' इति तल्लक्षणात् । सर्गान्ते मङ्गलार्थं श्रीशब्दप्रयोगोऽस्मिन् पद्ये ॥ ११८ ॥

कोशः—'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीर्हरिप्रिया' 'गीर्वाग् वाणी सरस्वती' इति चामरः ।

समासादिः—विशकलितार्थाम्—विशकलिताः अर्थाः यस्यास्ताम् । अनुगतनयमार्गाम्—अनुगतः नयस्य मार्गः यया ताम् । जनितमुदम्—जनिता मुत् यया ताम् । उच्छ्रितोरःस्थलनियतनिषण्णश्रीश्रुताम्—उच्छ्रितं यदुरःस्थलं तत्र नियतं यथा स्यात्तथा निषण्णा या श्रीः तया श्रुता ताम् । औद्धवीम्—उद्धवस्य इयम् औद्धवी ताम् ।

व्याकरणम्—औद्धवीम्—उद्धव+अण् 'टिड्ढाणञ्' इत्यादिना ङीप् । शुश्रुवान्—श्रु+लिट् क्वसुः । उदस्थात्—उद् स्था+लुङ् तिप् ।

वाच्यपरिवर्तनम्—तेन······शुश्रुषा···उदस्थायि ।

तात्पर्यार्थः—एवं बलराममतप्रतिरोधिनीं नीतिसम्मितां मनोहारिणीम् उद्धववाचमाकर्ण्य निजासनात् श्रीकृष्णः उत्तस्थौ ।

भाषा—इस तरह विवेकपूर्ण अर्थयुक्त, नीतिमार्ग का अनुसरण करने वाली दुष्ट नीति को रोकने वाली, श्रीकृष्णजी को आनन्द देने वाली ऊँचे वक्षःस्थल में निरन्तर वसने वाली लक्ष्मी से सुनी गई ऐसी उद्धव की वाणी को सुन कर श्रीकृष्णजी उन्नत सिंहासन से उठ खड़े हुए ॥ ११८ ॥

आर्याभक्तप्रेमपात्र व्यालभूतीन्दुराजितम् ।
आत्मज जनकं वाऽपि कञ्चिद्देवं नमाम्यहम् ॥ १ ॥

भूनन्दनवशीतांशौ (१९९१) विक्रमादित्यवत्सरे ।
मधुमासे सिते पक्षे नवम्यां मन्दवासरे ॥ २ ॥

नेपालमण्डलान्तःस्थे वाग्मतीसरिदासरिदाश्रिते ।
बडहार्वाख्यके ग्रामे वासिना धर्मचारिणा ॥ ३ ॥

श्रीभालचन्द्रकृपया धर्मदत्तेन शास्त्रिणा ।
समापिता सुधाटीका माघे सर्गद्वयात्मके ॥ ४ ॥

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादयति सज्जनाः ॥ ५ ॥

ये केचिदत्र दोषाः स्युर्दृष्टिदोषप्रमादतः ।
दोषज्ञा मम तान् दोषान् क्षमध्वं प्रार्थये नतः ॥ ६ ॥

इति श्रीविश्वनाथार्पणमस्तु

इति श्रीरिजालोपनामकधर्मदत्तशास्त्रिविरचितायां माघकाव्यस्य सुधाख्यव्याख्यायां द्वितीयः सर्गः समाप्तः ।

———

शिशुपालवधस्य १—२ सर्गयोः प्रश्नाः

१—(क) उदीर्णरागप्रतिरोधकं जनैरभीक्ष्णमक्षुण्णतयाऽतिदुर्गमम् ।

उपेयुषो मोक्षपथं मनस्विनस्त्वमग्रभूमिर्निरपायसंश्रया ।।

(ख) सटाच्छटाभिन्नघनेन बिभ्रता नृसिंह ! सैंहीमतनुं तनुं त्वया ।

स मुग्धकान्तास्तनसङ्गभङ्गुरैरुरोविदारं प्रतिचस्करे नखैः ।। १०

(ग) विभिन्नशङ्खः कलुषीभवन्मुहुर्मदेन दन्तीव मनुष्यधर्मणः ।

निरस्तगाम्भीर्यमपास्तपुष्पकं प्रकम्पयामास न मानसं न सः ।। १०

(घ) अनिर्लोडितकार्यस्य वाग्जालं वाग्मिनो वृथा ।

निमित्तादपराद्धेषोर्धानुष्कस्येव वल्गितम् ।। १०

(ङ) अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना ।

शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ।। १०

एषु श्लोकेषु केऽपि चत्वारः प्रतिपदपर्यायनिर्देशपूर्वकं कोशविग्रहादिभिः व्याख्येयः । पञ्चमश्लोकस्य व्याख्यानमत्यावश्यकम् ।

२—अधोरेखाङ्कितेषु पदेषु समासास्तत्तन्नामभिर्निर्देष्टव्याः । ४

३—वक्तृबोद्धव्यौ निर्दिश्य चतुर्थश्लोकस्य भावार्थः संस्कृतगिरा सुस्पष्टं लेखनीयः । ४

४—प्रथमश्लोकीयं छन्दः नाम्ना निर्दिश्य तल्लक्षणं प्रतिपादनीयम् । २

(सूचना—प्रतिप्रश्नमुत्तरं पृथक् प्रदातव्यम् । अन्यप्रश्नेन सह मेलयित्वोत्तरप्रदानेऽङ्कहानिर्भविष्यति ।)

—:o:—

१—(क) विलोकनेनैव तवामुना मुने कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथ वा श्रेयसि केन तृप्यते ॥ १०

(ख) परेतभर्तुर्महिषोऽमुना धनुर्विधातुमुत्खातविषाणमण्डलः ।
हृतेऽपि भारे महतस्त्रपाभरादुवाह दुःखेन भृशानतं शिरः ॥ १०

(ग) तदेनमुल्लङ्घितशासनं विधेर्विधेहि कीनाशनिकेतनातिथिम् ।
शुभेतराचारविपक्त्रिमापदो विपादनीया हि सतामसाधवः ॥ ०

(घ) आत्मोदयः परज्यानिर्द्वयं नीतिरितीयती ।
तदूरीकृत्य कृतिभिर्वाचस्पत्यं प्रतायते ॥ १०

(ङ) मा वेदि यदसावेको जेतव्यश्चेदिराडिति ।
राजयक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम् ॥ १०

एतेषु केऽपि चत्वारः पर्यायकोशविग्रहवाक्यप्रदर्शनपूर्वकं व्याख्येयाः ।
तृतीयश्लोकस्य व्याख्यानमवश्यं कर्तव्यम् ।

२—प्रथमप्रश्नेऽधोरेखाङ्कितेषु पदेषु समासास्तत्तन्नामभिः प्रदर्शनीयाः ।

३—प्रथमप्रश्ने पञ्चमश्लोकस्य भावार्थः सुस्पष्टं स्वसंस्कृतगिरा वक्तृबोद्धव्यनिर्देशपूर्वकं लेखनीयः । ४

४—प्रथमप्रश्ने प्रथमश्लोकस्य छन्दसो नामनिर्देशपूर्वकं लक्षणं लेखनीयम् । २

१—(क) लघूकरिष्यन्नतिभारभङ्गुरामम् किल त्वं त्रिदिवादवातरः ।
उदूढलोकत्रितयेन साम्प्रतं गुरुर्धरित्री क्रियतेतरां त्वया ॥

(ख) विनोदमिच्छन्नथ दर्पजन्मनो रणेन कण्ड्वास्त्रिदशैः समं पुनः ।
स रावणो नाम निकामभीषणं बभूव रक्षः क्षतरक्षणं दिवः ॥

(ग) स्वयं विधाता सुरदैत्यरक्षसामनुग्रहापग्रहयोर्यदृच्छया ।
दशाननादीनभिराद्धदेवताविर्तीणवीर्यातिशयान्हसन्त्यसौ ॥

(घ) षड्गुणाः शक्तयस्तिस्रः सिद्धयश्चोदयास्त्रयः ।
ग्रन्थानधीत्य व्याकर्तुमिति दुर्मेधसोऽप्यलम् ॥

(ङ) विशेषविदुषः शास्त्रं यत्तवोद्ग्राह्यते पुरः ।
हेतुः परिचयस्थैर्ये वक्तुर्गुणनिकैव सा ।

एतेषु केऽपि चत्वारः श्लोकाः पर्यायकोशविग्रहप्रदर्शनपूर्वकं साधु व्याख्येयाः । तथा तृतीयश्लोकस्य व्याख्यानमावश्यकम् । ४०

२—प्रथमप्रश्नेऽधोरेखाङ्कितपदेषु समासास्तत्तन्नामभिः प्रदर्शनीयाः । ४

३—प्रथमप्रश्ने तृतीयश्लोकस्य भावार्थः सुस्पष्टं स्वसंस्कृतगिरा वक्तृबोद्धव्यनिर्देशपूर्वकं लेखनीयः । ४

४—प्रथमप्रश्ने प्रथमश्लोकस्य च्छन्दसो लक्षणं नामनिर्देशपूर्वकं लेखनीयम् । २

(सूचना—प्रतिप्रश्नमुत्तरं पृथक् प्रदातव्यम् । अन्यप्रश्नेन सह मेलयित्वोत्तरप्रदानेऽङ्कहानिर्भविष्यति ।)

रणद्भिराघट्टनया नभस्वतः पृथग्विभिन्नश्रुतिमण्डलैः स्वरैः ।
स्फुटीभवद्ग्रामविशेषमूर्च्छनामवेक्षमाणं महतीं मुहुर्मुहुः ॥

भवद्गिरामवसरप्रदानाय वचांसि नः ।
पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः ॥

बुद्धिशस्त्रः प्रकृत्यङ्गो घनसंवृतिकञ्चुकः ।
चारेक्षणो दूतमुखः पुरुषः कोऽपि पार्थिवः ॥

न यावदेतावुदपश्यदुत्थितौ जनस्तुषाराञ्जनपर्वताविव ।
स्वहस्तदत्ते मुनिमासने मुनिश्चिरन्तनस्तावदभिन्यवीविशत् ॥
विरोधिवचसो मूकान् वागीशानपि कुर्वते ।
जडानप्यनुलोमार्थान्प्रवाचः कृतिनां गिरः ॥

(अ) परस्य मर्माविधमुज्झतां निजं द्विजिह्वतादोषमजिह्मगामिभिः ।
तमिद्धमाराधयितुं सकर्णकैः कुलैर्न भेजे फणिनां भुजङ्गता ॥
(ब) सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाङ्गस्कन्धपञ्चकम् ।
सौगतानामिवात्मान्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम् ॥

॥ श्रीः ॥

हरजीवनदास संस्कृत ग्रन्थमाला
१९

महाकवि-माघविरचितं

शिशुपालवधं महाकाव्यम्

सान्वय 'सुधा' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतम्

व्याख्याकार.—
पण्डित हरेकान्तमिश्रः साहित्याचार्यः

(परीक्षोपयोगि ३–४ सर्गात्मकः)

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन
भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक व विक्रेता
पोस्ट बाक्स संख्या १३८
के० ३७/१३० गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रकाशक

चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन

पोस्ट बाक्स १३८

के. ३७/१३०, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी–२२१००१ (भारत)

प्रथम संस्करण सन् १९८३ ई०

वि० सं० २०४०

मूल्य : ३–४ सर्ग ८–००

अपरं च प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय

कचौड़ी गली

वाराणसी–२२१००१

मुद्रक—विद्याविलास प्रेस, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी–२२१००१

भूमिका

'बृहत्त्रयी' में द्वितीय मान्य काव्य अपनी विशिष्ट काव्यशैली के लिए प्रख्यात शिशुपालवध महाकाव्य है। यह महाकवि माघ की रचना है। अपनी विशिष्ट काव्यशैली के कारण माघ की लोकप्रियता सर्वसिद्ध है। कवि ने कालिदास की भावतरलता, भारवि की कलाप्रियता तथा भट्टी के पाण्डित्य के मिश्रण से अपने व्यक्तित्व का निर्माण किया है। शिशुपालवध में उनका प्रयास पग-पग पर सभी कवियों से आगे बढ़ने का रहा है। इस क्षेत्र में वे सफल होकर अपने काव्य को प्रकृष्ट प्रौढ़ि का निदर्शन करते हैं।

माघ का जीवन वृत्त—महाकवि माघ के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं होता। इनकी जीवन-घटनाओं का पता 'भोज प्रबन्ध 'तथा' प्रबन्धचिन्तामणि' से लगता है। दोनों पुस्तकों में प्रायः एक समान बातें मिलती है कवि ने ग्रन्थ के अन्त में अपने वंश का संक्षिप्त परिचय पाँच श्लोकों में दिया है। जिसके अनुसार उनके पितामह का नाम सुप्रभदेव था। 'वह महाशय वर्मलात नामक राजा के, (गुजरात के किसी प्रदेश के शासक) प्रधान मंत्री थे। अतः माघ कवि का जन्म एक प्रतिष्ठित धनाढ्य कुल में हुआ था। इनके पिता का नाम 'दत्तक' था जो बड़े विद्वान् और दानी थे। इन्होंने गरीबों की सहायता में अधिकांश धन लगा दिया। माघ का जन्म भीनमाल में हुआ था जो गुजरात का प्रमुख नगर था। बहुत दिनों तक यह राजधानी तथा विद्या का मुख्य केन्द्र था। प्रसिद्ध ज्योतिषी ब्रह्मगुप्त ने ६२५ ई० के आस पास अपने "ब्रह्मगुप्तसिद्धान्त" को यहीं बनाया था।

पिता की दानशीलता का प्रभाव पुत्र पर पूर्ण पड़ा और ये भी बहुत बड़े दानी निकले। इनके विषय में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है कि इनके जन्म के बाद ज्योतिषियों ने इनकी जन्मपत्री देखकर कहा था कि ये अपने जीवन में ही अत्यन्त निर्धन हो जायेंगे। इनके पिता ने यह सुनकर एक

लाख रुपये प्रतिमास के हिसाब से सौ वर्ष के लिए दस करोड़ रुपया सोने के बर्तन में भरकर जमीन में गाड़ दिया था ताकि इन्हें कभी जीवन में धन की कमी न पड़े। किन्तु माघ तो बड़े दानी थे। विद्वानों को एक बार लाखों रुपये दान दे देना उनके लिए साधारण सी बात थी। परिणाम यह हुआ कि वृद्धावस्था में ये दरिद्र हो गये। भोज प्रबन्ध की किंवदन्तियों के अनुसार माघ धारानरेश भोज के राजकवि और प्रधानमंत्री थे। एक बार इनकी पत्नी राजा भोज के पास 'कुमुदवनमपश्रि श्रीमदम्भोजखण्डम्' आदि पद्य को, जो माघकाव्य के प्रभात वर्णन (११।६४) में मिलता है, ले गयी। इस पद्य के लिए राजा ने अत्यधिक धन दिया। उसे लेकर इनकी पत्नी ने रास्ते में गरीबों को बाँट दिया। माघ के पास पहुँचने पर उनकी पत्नी के पास कुछ भी शेष न बचा था, किन्तु याचको का ताँता लगा ही रहा। कोई उपाय न देखकर दानी माघ ने अपने प्राण छोड़ दिए। प्रातः काल भोज ने माघ का यथोचित अग्निसंस्कार आदि क्रिया कर्म किया, एवं इनकी पत्नी भी वहीं सती हो गई।

समय—माघ का समय भी एक विवादास्पद विषय बना हुआ है, कोई उनको सातवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में मानता है, तो कोई आठवीं शताब्दी के मध्यभाग में। राजा भोज को प्रसिद्ध धारानरेश मानकर कुछ लोग उन्हें ग्यारहवीं शताब्दी मानते हैं, किन्तु यह अनुचित मालूम पड़ता है। क्योंकि नवीं शताब्दी में होने वाले आनन्द वर्धनाचार्य ने अपने ध्वन्यालोक में इनके काव्य के कई पद्यों को उधृत किया है। माघ के 'रम्या इति प्राप्तवती पताकाः' (३।५३) तथा 'त्रासाकुलपरिपतन्' (५।२६)—इन दोनों पद्यों को आनन्दवर्धन ने उदाहरण के लिये ध्वन्यालोक में दिया है।

अतः निश्चिय ही माघ का समय नवीं सदी से पूर्व ही होगा। इनके पूर्वकाल को निश्चित करनेवाला एक प्रमाण और भी मिला है। डॉ० कीलहार्न को राजपूताने के वसन्तगढ़ नामक एक स्थान से वर्मलात राजा का एक शिलालेख मिला है :—

द्विरशीत्यधिके काले षण्णां वर्षशतोत्तरे।
जगन्मातुरिदं स्थानं स्थापितं गोष्ठिपुंगवैः॥

इस शिलालेख की रचना के नमूने के तौर पर यह पद्य दिया जाता है—

जयति जयलक्ष्मलक्षितवक्षःस्थलसंश्रितश्रियाधारः।
श्रीधर्मलातनृपतिः पतिरवनेरधिकबलवीर्यः ॥

इस शिलालेख का समय सम्वत् ६८२ अर्थात् ६२५ ई० है। शिशुपालवध की हस्तलिखित प्रतियों में सुप्रभदेव के आश्रयदाता का नाम भिन्न-भिन्न लिखा है। धर्मनाभ, वर्मनाभ, धर्मलात, वर्मलात आदि अनेक पाठभेद पाये जाते हैं। मीनमाल के आसपास के प्रदेश में इस शिलालेख की प्राप्ति के आधार पर डॉ० कीलहार्न वर्मलात को असलीपाठ मानकर इसे तथा सुप्रभदेव के आश्रयदाता को एक ही मानते हैं, अतः सुप्रभदेव का समय ६२५ ई० के आसपास है। और इनके पौत्र माघ का समय भी लगभग ६५० ई० से लेकर ७०० ई० तक होगा। अर्थात् माघ का आविर्भाव काल सातवीं शताब्दी का उत्तरार्ध है।

महाकवि माघ ने शिशुपालवध के द्वितीय सर्ग में एक श्लोक लिखा है—

अनुसूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा ॥ २-११२ ॥

इस श्लोक में व्याकरण की वृत्ति तथा न्यास की चर्चा की गई है। वृत्ति से काशिका वृत्ति तथा न्यास से न्यासविवरण माना जाय तो काशिकावृत्ति के कर्ता वामनजयादित्य का काल ६०० खृष्टाब्द माना जाता है, उसके अनन्तर ही महाकवि माघ हुए होंगे। इस प्रकार इनका समय इसवी सातवीं शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा आठवीं शताब्दी का आदि भाग मानना आवश्यक होगा।

शिशुपाल-वध महाकाव्य की कथावस्तु—माघ की एकमात्र कृति शिशुपालवध महाकाव्य है जिसमें श्रीकृष्ण द्वारा शिशुपाल के वध की कथा २० सर्गों में कही गई है। इसमें कुल १६८० श्लोक हैं इसकी कथा महाभारतके सभापर्व से ली गई है। मगधेश्वर जरासन्ध को मारकर एकच्छत्र राज्य करनेवाले युधिष्ठिर ने राजसूय यज्ञ करने की योजना बनाई। इस कार्य में भगवान् श्रीकृष्ण, से सहायता के लिये दूत को भेजा। इसी बीच इन्द्र का सन्देश लेकर देवर्षि नारद जी आते हैं। कृष्ण उनका

सत्कार करने के बाद आने का कारण पूछते हैं। नारद जी उन्हें बताते है कि शिशुपाल के अत्याचारों से भयभीत इन्द्र ने हमें भेजा है। आप शिशुपाल का वध करके देवराज इन्द्र को सुखी बनायें। श्रीकृष्ण ने इन्द्र की प्रार्थना को स्वीकार कर लिया। अब इन्द्र और युधिष्ठिर की प्रार्थना में कौन सा कार्य पहले करें इस विषय में भगवान् ने अपने पितृव्य उद्धव तथा अग्रज बलराम से विचार-विमर्श किया। बलराम ने पहले शिशुपाल को ही मार डालने के पक्ष में राय दी। किन्तु उद्धव ने कहा कि युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ में ही जायें और वहीं उसी समय शिशुपाल का वध करें। इस विषय में उन्होंने अनेक तर्कों तथा विचारों को सामने प्रस्तुत किया। तब भगवान् ने सपरिवार द्वारका से इन्द्रप्रस्थ के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में रैवतक पर्वत, समुद्र आदि का विस्तृत वर्णन है। इन सब बातों का वर्णन चार सर्ग तक किया गया है। पाँचवें सर्ग में रैवतक पर्वत पर सेनाओं का पड़ाव डालने का विस्तृत वर्णन किया गया है। छठे सर्ग में छहों ऋतुएँ उपस्थित होती हैं। विविध अलङ्कारों के साथ इनका विस्तृत वर्णन किया गया है। सप्तम सर्ग में विलास पूर्ण वन विहार का वर्णन है। अष्टम सर्ग में अपनी स्त्रियों के साथ यादवों का जलक्रीडा वर्णन है। नवयें सर्ग में सूर्यास्त, चन्द्रोदय आदि का चमत्कारपूर्ण वर्णन है। दसवें सर्ग में प्रातः काल का वर्णन, बारहवें सर्ग में सेना प्रयाण का वर्णन, तेरहवें सर्ग में श्रीकृष्ण को देखने के लिए नगर की सुन्दरियों का वर्णन तथा चौहदवें सर्ग में इनकी पूजा और यज्ञ का सरस वर्णन है। पन्द्रहवें सर्ग में श्रीकृष्ण की पूजा से रुष्ट होकर शिशुपाल अनेकों अपशब्द का प्रयोग करता है। सोलहवें सर्ग में कृष्ण के पास शिशुपाल का दूत जाता है और दर्पपूर्ण सन्देश का सुनाना है। सत्रहवें सर्ग में दूत के सन्देश से क्रोधित यादवों की युद्ध की तैयारी का वर्णन है। अट्ठारहवें सर्ग में दोनों पक्षों की सेनाओं का एकत्रीकरण और युद्ध के लिये प्रस्तुत होने का वर्णन है। उन्नीसवें सर्ग में श्रीकृष्ण तथा शिशुपाल दोनों के युद्ध में लग जानेअा वर्णन है। बीसवें सर्ग में शिशुपाल वा वध होकर काव्य की समाप्ति हो जाती है।

महाकवि माघ के ऊपर भारवि का प्रभाव—महाकवि माघ ने अपने पूर्ववर्ती महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय का अनुकरण कर अपनी रचना को पल्लवित किया है।

भारवि ने श्री शब्द का पूर्व प्रयोग कर काव्य का आरम्भ किया है और प्रत्येक सर्ग के अन्त में लक्ष्मी शब्द का प्रयोग किया है। माघ ने भी वैसे ही किया है। भारवि ने शङ्कर की महिमा का प्रदर्शन किया है तो माघ ने भगवान् श्रीकृष्ण की महत्ता का वर्णन किया। किरातार्जुनीय के प्रथम सर्ग में यक्षद्वारा युधिष्ठिर की आपत्तियों को दिखाकर दुर्योधन की समृद्धि का प्रदर्शन करते हुए युद्ध की प्रेरणा है और शिशुपाल वध के प्रथम सर्ग में नारद द्वारा देवता की विपन्नावस्था का प्रतिपादन करके इन्द्र के सन्देश से युद्ध की प्रेरणा की गई है। द्वितीय सर्ग में भीम, द्रौपदी और युधिष्ठिर की राजनीतिक चर्चा की गई है तो माघ ने भी द्वितीय सर्ग में श्रीकृष्ण, बलराम तथा उद्धव की राजनीतिक मन्त्रणा का वर्णन किया है। जैसे भारवि ने तृतीय सर्ग में अर्जुन के प्रस्थान का वर्णन किया है वैसे ही माघ ने श्री कृष्ण की यात्रा का व्यापक वर्णन किया है। किरातार्जुनीय के चौथे और पाँचवे सर्ग में हिमालय तथा यमकों द्वारा प्रकृति चित्रण एवं षड् ऋतु वर्णन है। इसी तरह माघ ने भी चतुर्थ सर्ग में रैवतक वर्णन तथा छठे सर्ग में षड् ऋतु वर्णन यमक द्वारा प्रस्तुत किया है। भारवि ने आठवें सर्ग में गन्धर्वों और अप्सराओं के फूल तोड़ने का और उनकी जलक्रीडा का वर्णन किया है, इसी तरह माघ ने सातवें सर्ग में यादवों के अपनी प्रिया के साथ फूल तोड़ने का और आठवें सर्ग में उनकी जल क्रीड़ा का विशद वर्णन किया है। किरात के १३वें तथा १४वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में बाण के लिए वाद-विवाद हुआ है और माघ के १६वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत तथा सात्यकि में हुआ है। किरात के १५वें तथा माघ के १९वें सर्ग में चित्रबन्धों में युद्धवर्णन है। किरात के १५वें सर्ग में एकाक्षर द्वयक्षर और यमकों से अलङ्कृत छन्दों से युद्ध का वर्णन है, शिशुपालवध में भी उसी तरह के अलङ्कृत छन्दों में युद्ध का वर्णन देखा जाता है।

इस प्रकार माघ ने भारवि का अनुकरण किया है परन्तु उससे उनकी न्यूनता नहीं देखी जाती है। उन्होंने अपनी कृति को अत्यधिक सजाया है। भारवि की अपेक्षा माघ का दार्शनिक ज्ञान अधिक हैं। भारवि की रचना में दार्शनिक विशेषता विरल है। माघ ने भाव-पक्ष की अपेक्षा छन्दों की निपुणत

शब्दवैचित्र्य और वर्णविन्यास कौशल आदि से कलापक्ष को सजाने के लिये अपनी पूर्ण निपुणता प्रदर्शित की है। भारवि इस तरह सफल नहीं हुए हैं। भारवि की प्रसिद्धि केवल अर्थगौरव के लिए है, परन्तु माघ की कविता उपमा अर्थगौरव तथा पदलालित्य इन तीनों गुणों का सुगम दर्शन हो रहा है। पाश्चात्य विद्वान् इनको कृत्रिम तथा 'काव्यशिल्प' कहते हैं। कहा जाता है कि कालिदास ने उन्नीस, भारवि ने चौबीस तथा माघ ने इकतालीस छन्दों का प्रयोग किया है। शब्द संख्या तथा अलङ्कार संख्या भी माघ की अधिक है। इस प्रकार माघ भारवि से हरेक पहलू पर अपना ऊँचा स्थान रखते हैं।

महाकवि माघ का पाण्डित्य——माघ केवल सरस कवि न थे प्रत्युत एक सर्वशास्त्रतत्वज्ञ विद्वान् भी थे। शिशुपालवध के परिशीलन से स्पष्टरूप से ज्ञात होता है कि महाकवि माघ वेद, पुराण, सांख्य, योग, व्याकरण, राजशास्त्र, बौद्धन्याय, अलङ्कारशास्त्र, संगीतशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेक शास्त्रों के प्रर्णीण विद्वान् थे, यह तथ्य उनकी रचना से ज्ञात होता है।

माघ का श्रुतिविषयक ज्ञान अत्यन्त प्रशंसनीय है। प्रातः काल के समय इन्होंने अग्नि होत्र का सुन्दर वर्णन किया है। हवन कर्म में आवश्यक सामिधेनी ऋचाओं का उल्लेख किया है—

प्रतिशरणमशीर्णज्योतिरग्न्याहितानां
विधिविहितविरिब्दैः सामिधेनीरधीत्य।
कृतगुरुदुरितौघध्वंसमध्वर्युवर्यै
र्हुतमयमुपलीढे साधु सान्नाय्यमग्निः॥ ११।४१॥

वैदिक स्वरों की विशेषता भी माघ को भलीभाँति मालूम थी। स्वरभेद से अर्थभेद हो जाया करता है, इस नियम का उल्लेख मिलता है—

संशयाय दधतोः सरूपतां दूरभिन्नफलयोः क्रियां प्रति।
शब्दशासनविदः समासयोर्विग्रहं व्यवससुः स्वेरण ते॥ १४।२४

चौदहवें सर्ग में युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ का बड़ा ही विस्तृत तथा सुन्दर वर्णन माघ के विशिष्ट वैदिकत्व का पर्याप्त परिचायक है—

शब्दितामनपशब्दमुच्चकैर्वाक्यलक्षणविदोऽवाच्यया।
याज्यया यजनकर्मिणोऽत्यजन् द्रव्यजातमपदिश्य देवताम्॥ १४।२०

दर्शनों का भी विशिष्ट ज्ञान माघ में दिखाई पड़ता है। सांख्य के तत्वों का निदर्शन अनेक स्थलों पर पाया जाता है। प्रथम गर्ग में नारद ने श्रीकृष्ण की जो स्तुति की है वह सांख्य के अनुकूल है—

उदासितारं विगृहीतमानसैर्गृहीतमध्यात्मदृशा कथञ्चन।
वहिर्विकारं प्रकृतेः पृथग्विदुः पुरातनं त्वां पुरुषं पुराविदः॥ १।३३

योगशास्त्र में प्रवीणता भी देखने में आती है। चित्तपरिकर्म, सबीजयोग; सत्वपुरुषान्यताख्याति–योगशास्त्र के पारिभाषिकशब्द हैं—

मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदो विधाय
क्लेशप्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः।
ख्यातिं च सत्वपुरुषाऽन्यतयाऽधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम्॥ ४।५५

इसके द्वारा योगशास्त्र में विशिष्ट मनोयोग उपलब्ध होता है। आस्तिक दर्शनों के अतिरिक्त नास्तिक दर्शनों में भी माघ का ज्ञान उच्च कोटि का था। माघ बौद्ध दर्शनों से भी भलीभाँति परिचित थे। वे उसके सूक्ष्म विभेदों के ज्ञाता थे। वे राजनीति के भी अच्छे जानकार थे। बलराम तथा उद्धव के द्वारा राजनीति का पुट प्रस्तुत किया गया है—

सर्वकार्यशरीरेषु मुक्त्वाऽङ्गस्कन्धपञ्चकम्।
सौगतानामिवात्माऽन्यो नास्ति मन्त्रो महीभृताम्॥ २।२८

इस पद्य से कवि की प्रवीणता राजनीतिशास्त्र तथा बौद्धदर्शन में दिखाई पड़ती है। माघ का ज्ञान ललित कलाओं में भी उच्च कोटि का था। वे संगीतशास्त्र के सूक्ष्मविवेचक थे। जगह-जगह पर संगीत शास्त्र के मूल तत्वों का दिग्दर्श किया है। संगीत के स्वरों का भी उनको पूर्ण ज्ञान था। भरत के अनुसार संगीत के विषयों को भी दिखाया है—

श्रुतिसमधिकमुच्चैः पञ्चमं पीडयन्तः
सततमृषभहीनं भिन्नकीकृत्य षड्जम्।
प्रणिजगदुरकाकुश्रावकस्निग्धकण्ठाः
परिणतिमितरात्रेर्मागधा माधवाय॥ ११।१

इस पद्य से संगीत शास्त्र में उनकी प्रवीणता प्रगट हो रही है। इसके अतिरिक्त अन्यशास्त्रों में भी उनके पाण्डित्य का परिचय निम्नश्लोकों द्वारा दिया जा सकता है। 'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते।' (२।८६) तथा स्थायिनोऽर्थे प्रवर्तन्ते भावाः सञ्चारिणो यथा। रसस्यैकस्य भूयांसस्तथा नेतुर्महीभुजः ॥ (२।८७), एवं 'नैकमोज प्रसादो वा रस-भावविदः कवेः: (२।८३) से अलङ्कारशास्त्र, स्वेद्यमाज्वरं प्राज्ञः कोऽम्भसा परिषिचति (१।५४) तथा 'राज्ययक्ष्मेव रोगाणां समूहः स महीभृताम्' (२।९६) आदि से आयुर्वेद, अन्यदा भूषणं पुंसः क्षमा लज्जेव योषितः' . . . (२।४४) तथा अयमति जरठाः प्रकामगूर्वी . . . (४।२९) और 'कान्ताजनेन रहसि प्रसभं गृहीतकेशे रते स्तरसहासवतोषितेन' (६।७७) आदि से कामशास्त्र, 'पूर्वरङ्गः प्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुनः इत्यादि से नाट्यशास्त्र, 'तेजोनिरोधसमताबहितेन यन्त्रा सम्यक् कशात्रयविचारवता नियुक्तिः। . . .' (५।१०) तथा अन्याकुलं प्रकृतमुत्तरधेयकर्मधाराः प्रसाधयितुमव्यतिकीर्णरूपाः। . . .' (५।६०) इत्यादि से अश्वशास्त्र 'गम्भीरवेदिनि पुरः कवलं करीन्द्रे मन्दोऽपि नाम न महानवगृह्यसाध्यः।' (५।४९) आदि से गजशास्त्र सम्बन्धी इनका अपूर्व पाण्डित्य प्रकट होता है। माघ ने अपना सम्पूर्ण ज्ञान कविता-कामिनी को अर्पण कर दिया है। उन्होंने कविता को सजाने के लिए समग्र संस्कृत साहित्य का उपयोग करने में कुछ भी उठा नहीं रखा है। माघ की यह विशेषता उन्हें महा कवियों की श्रेणी में उन्नत बना रही है।

कविता शैली—माघ अलङ्कृत शैली के कवि हैं। उनका प्रत्येक वर्णन, प्रत्येक भाव, अलंकृत भाषा में ही अभिव्यक्त है। उनका काव्य कठिनता के लिए प्रसिद्ध है, इन्होंने कहीं-कहीं चित्रालङ्कार का प्रयोग कर इसे जानबूझकर कठिन बना दिया है। समासों की बहुलता, विकट वर्णों की उदारता, गाढ़ बन्धों की मनोहरता—काव्यज्ञों के मानस-पटल पर आकर नाचने लगती है। छन्द छोटे हों या बड़े शैली की असाधारणता सर्वत्र झलक रही है। अनेक छन्दों की रचना केवल दो अक्षरों में की गई है। इस तरह की विशेषता अन्यत्र देखने को नहीं मिलती है। उदाहरणार्थ यह पद्य 'ज' तथा 'र' की लपेट में पूर्ण किया गया है—

राजराजी रूरोजाजेरजिरेऽजोऽरजोऽरजाः ।
रेजारिजूरजोर्जार्जी रराजजुंरजर्जरः ॥ १९।१०२

माघ का मन वीर रस से भी अधिक शृङ्गार रस के वर्णन में रमता दिखाई दे रहा है। उनके षड्ऋतु वर्णन, वन विहार, मद्यपान, जलक्रीडा आदि सम्भोग शृङ्गार के उद्दीपन की दृष्टि से ही लिखे गये हैं। कहीं-कहीं विप्रलम्भशृङ्गाकर का वर्णन है। उनके शृङ्गारिकपदों की स्निग्धता अतिशय मुग्धकारिणी है--

यां यां प्रियः प्रैंक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निः शङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ ३।१६

प्रिय श्रीकृष्ण ने जिस-जिस सुन्दरी को देखा, वह लज्जा से नम्रमुखी हो गई, तथा जिनको श्रीकृष्ण ने नहीं देखा था, वे दूसरी सुन्दरियाँ ईर्ष्यायुक्त होकर एक साथ इन्हें निःशङ्क होकर कटाक्षों से आहत करने लगीं।

माघ का काव्य वर्णन प्राकृतिक या मानुषिक अत्यन्त सजीव है। प्रत्येक वर्णन में स्वाभाविकता पूर्णरूपेण दिखाई देती है। कवि की प्रकृति-पर्यवेक्षण शक्ति का सही रूप इन्हीं स्वाभाविक वर्णनों से भली-भाँति मालूम पड़ता है। किसी वस्तु का सविस्तर वर्णन करने की शक्ति माघ में विशेषरूप से दीख पड़ती है। श्रीकृष्ण की यात्रा का वर्णन सम्पूर्ण सर्ग मे समाप्त हुआ है। इनमें वास्तविकता भरी पड़ी है। अन्य वर्णन भी इनका इसी तरह का है। रैवतक का आलंकारिक वर्णन भी बड़ा रोचक है। कवि ने रैवतक पर्वत को एक विशाल हाथी के साथ उपमा दिया है--

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा-
वहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चाऽस्तम् ।
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टा-
द्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ ४।२०

रैवतक पर्वत इतना ऊँचा है कि प्रातः काल जब एक ओर सूर्य उदय होता है और दूसरी ओर चन्द्रमा अस्त होता है, तो उस समय यह पर्वत उस हाथी के समान शोभित होता है जिसके दोनों ओर दो घण्टियाँ लटक रही हों। इस कल्पना पर प्राचीन समालोचकों ने माघ को 'घण्टामाघ' कहा है।

माघ की रचना में अलङ्कार की छटा प्रत्येक रसिकजनों के हृदय को आनन्दित करती है। काव्य में श्लेष तथा उत्प्रेक्षा लाने में माघ अत्यन्त बढे चढ़े हैं। शब्दालङ्कार की भी शोभा अतिशय मनोहारिणी है। अनुप्रास तथा यमक का प्रचुर प्रयोग माघकाव्य में मिलता है। नीचे दिये गये पद्य में कितना लालित्य हैं—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥६।२०

रैवतक के वर्णन में माघ ने क्या ही सुन्दर उत्प्रेक्षा की है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपेतुमात्मजा।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलययैष निम्नगाः ॥४।४७

पहाड़ी नदियाँ कल-कल शब्द करती हुई बह रही हैं। ये निडर होकर इसकी गोदी में लोट-पोट किया करती हैं। अतः वे रैवतक की बेटियाँ हैं। आज वे अपने पति समुद्र से मिलने के लिए जा रही हैं, इस कारण रैवतक चिड़ियों के करुण स्वर द्वारा जान पड़ता है कि प्रेम के कारण रो रहा है। कन्या के पतिगृह जाने के समय पिता का हृदय पिघल जाता है, वह कितना भी कठोर हो, द्रवीभूत अवश्य हो जाता है। 'पीड्यन्ते गृहिणः कथं तु तनयविश्लेषदुःखैर्नवैः' अतः रैवतक भी पक्षियों के करुण स्वर से कन्याओं के लिये रो रहा है। ठीक है, पिता का हृदय कोमल होता ही है।

इस प्रकार माघ का पद विन्यास तथा शैली संस्कृत साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त करती है। वस्तुतः माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता हैं। उनकी शैली धीर, गम्भीर और मनोहारिणी है। उनका संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार हैं। नवीन शब्द का तो उनका काव्य खजाना है। संस्कृत समालोचकों ने तो यहाँ तक कहा है कि शिशुपालवध के नौ सर्ग में संस्कृत भाषा के समस्त शब्द आ जाते हैं, नवीन शब्द कोई भी शेष नहीं बचता। 'नवसर्गं गते माघे नवशब्दो न विद्यते'।

शिशुपालवधमहाकाव्य की लगभग बीस से भी अधिक टीकाएँ हैं जो प्रायः उपलब्ध नहीं है। उन टीकाओं में मल्लिनाथ की सर्वंङ्कष सर्वश्रेष्ठ हैं, जो प्राप्त भी है।

महाकविप्रशस्ति

महाकवि माघ का शिशुपालवध इतना लोकप्रिय हो गया कि उनकी प्रशंसा यत्र-तत्र विशेष दिखाई पड़ती है। उनके विषय में कुछ प्रशंसा वचन इस प्रकार हैं—

'मुराऽरिपदचिन्ता चेत्तदा माऽघे रतिं कुरु।
मुरारिपदचिन्ता चेत्तदा माघे रतिं कुरु ॥'

भगवान् कृष्ण से प्रेम करना हो तो पाप से दूर रहो। मुरारि (अनघंराघवकार) के पदों की चिन्ता हो तो माघकाव्य के अध्ययन में रुचि रखो।

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं, माघे सन्ति त्रयो गुणाः ॥'

कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थ गौरव, और दण्डी का पद लालित्य गुण प्रसिद्ध है, किन्तु महाकवि माघ में उक्त तीनों गुण विद्यमान हैं।

'माघे मेघे गतं वयः' (मल्लिनाथ)

अर्थात् माघकाव्य में और मेघदूत में लोगों को परिशीलन करते-करते पूरी आयु बीत गई।

'नवसर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते।,

माघ के काव्य का नौ सर्ग तक अध्ययन करने के बाद नवीन शब्द कुछ शेष नहीं बच जाता है।

माघं भजन्तु यदि काव्यकलाभिलाषो,
माऽघं भजन्तु यदि मोक्षपथाभिलाषः'

यदि काव्यों तथा नृत्यगीतादि कलाओं की इच्छा रखते हो तो माघ के महाकाव्य का अध्ययन करो। यदि मोक्ष की इच्छा हो तो पाप से दूर रहो।

तावद् मा भारवेर्भाति यावन्माघस्य नोदयः।
उदिते तु पुनर्माघे भारवेर्भारवेरिव ॥

जब तक माघ (कवि या मास) का उदय नहीं होता है, तब तक भारवि (कवि या सूर्य का तेज) प्रकाशित रहता है। किन्तु माघ के उदय होने पर भारवि की दीप्ति सूर्य के समान व्यर्थ हो जाती है।

माघेन विघ्नितोत्साहा नोत्सहन्ते पदक्रमे ।
स्मरन्तो भारवेरिव कपयः कवयो यथा ॥ [धनपाल]

माघ मास में अत्यन्त शीत के कारण उत्साहों में विघ्न युक्त होकर सूर्य के तेज का स्मरण करते हुए वानर जैसे चलने में उत्साह नहीं करते हैं, उसी तरह कवि लोग माघ कवि से उत्साह में विघ्न युक्त होकर भारवि कवि को याद करते हुए पद रचना में उत्साह नहीं रखते हैं।

धन्यो माघकविर्वयन्तु कृतिनस्तत्सूक्तिसंसेवनात् [मल्लिनाथ]

महाकवि माघ तथा उनकी कृतियों का अध्ययन करने वाले हमलोग धन्य है।

पुष्पेषु जाती, नगरीषु काशी, नारीषु रम्भा, पुरुषेषु विष्णुः।
नदीषु गङ्गा, च नृपेषु रामः; काव्येषु माघः कविकालिदासः ॥

फूलों में चमेली, नगरियों में काशी, स्त्रियों में रम्भा, पुरुषों में विष्णु, नदियों में गङ्गा, राजाओं में राम, कवियों में कालिदास जिस प्रकार श्रेष्ठ हैं उसी प्रकार काव्यों में शिशुपालवध महाकाव्य श्रेष्ठ हैं।

"माघेनेव च माघेन कम्पः कस्य न जायते।" [राजशेखर]

माघ मास के समान महाकवि माघ से किसे कम्पन (जाड़े या भय से) नहीं होता है।

इस प्रकार इस महाकाव्य की विशेषता आदि का संक्षिप्तरूप से दिग्दर्शन किया है। इस शिशुपालवध के तृतीय चतुर्थ सर्ग में छात्रों की सुविधा को देखते हुए टीका, समास, कोश, व्याकरण, संस्कृत भवार्थ तथा हिन्दी अनुवाद आदि प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में यह निवेदन करना परमावश्यक समझता हूँ कि इस ग्रन्थ के प्रकाशन में भ्रमवश कतिपय त्रुटियों का रहजाना सम्भव है। अतः विद्वज्जनों से मेरा अनुरोध है कि इसकी त्रुटियों को सूचित करेंगे तो उन त्रुटियों का नये संस्करण में सुधार किया जा सकेगा। फिर भी यदि इससे विद्वत्समाज तथा छात्रों का थोड़ा भी उपकार हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

गच्छतः स्खलनं क्वापि भवत्येव प्रमादतः।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र समादधति सज्जनाः॥

विजयादशमी १९८३
वाराणसी-

विदुषामनुचरः
हरेकान्त मिश्र

चतुर्थसर्ग-कथासार

रैवतक-वर्णन

भगवान् श्रीकृष्ण ने इन्द्रनील मणियों से सम्बन्ध गेरु आदि धातुओं से युक्त उस रैवतक पर्वत को देखा, जो शिखरों के ऊपर मंडराते हुए बादलों के कारण सूर्य के मार्गों को रोकनेवाले विन्ध्याचल के समान प्रतीत हो रहा था। सोने के परकोटे के बीच नीलमणियों की कान्ति से तथा अत्यन्त पराग के कारण भौरों से भरी हुई लताओं से व्याप्त था। जो अपने हजारों शिखरों से आकाश को तथा प्रत्यन्त पर्वतों से पृथ्वी को ढके था। सूर्य-चन्द्रमा जिसके नेत्र से लगते थे तथा सुवर्ण की खानों से जो भरा था। जिसके किसी भाग में जल से युक्त होने से नीले और किसीमें जलरहित होने से सफेद मेघ घूम रहे थे। जिसके खिसके हुए चट्टानों पर उगे हुए वृक्ष ऐरावत पर चढे इन्द्र जैसे दीख रहे थे। अरुण की लालिमा से बदला हुआ सूर्य के घोड़े का रंग इस पर्वत पर आने से पुनः रत्नों की किरणों से हरा हो जाता था।

रैवतक के समतल जमीन से सञ्चित ऊँची किरणों से युक्त असंख्य रत्नों को आस-पास रहने वाले लोग ग्रहण कर रहे थे। निरन्तर बादलों के जल बरसाने से सर्पों की विषाग्नि की बाधा इस पर कुछ नहीं सताती थी। इसके सूर्यकान्त मणिवाले शिखरों पर सूर्य की किरणें पड़ने पर आग बरसने लगती थी। इससे उत्तम पात्र के गुण से गुण की वृद्धि होती है यह बात सूचित हो रही थी। बार-बार देखने पर भीं यह पर्वत नया सा लग रहा था, क्योंकि रमणीय वस्तु प्रतिक्षण नूतन ही प्रतीत होती है। तब बोलने मे चतुर श्रीकृष्ण के सारथि दारुक जिस पर्वत तट पर चिड़ियाँ ऊँचे स्वर से शब्द कर रही थीं उसको देखने के लिए गर्दन को उन्नत करने वाले भगवान् श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत का वर्णन करते हुए कहने लगे।

दारुक ने कहा---पृथ्वी, आकाश और दिशाओं को अपने विशाल शिखरों से ढंकते हुए इस पर्वत को देखकर किसे आश्चर्य न होगा। यहाँ एक ओर

ऊँची किरणरूप रज्जू को फैलाकर सूर्य उगते हैं और दूसरी ओर वैसे ही चन्द्रमा अस्त होते हैं, इस प्रकार यह पर्वत लटकती हुई दो घण्टाओं से विभूषित हाथी की शोभा को धारण करता है। हरी-हरी दूबवाली सुनहरी भूमियों को चारों ओर धारण करता हुआ यह पर्वत पीले वस्त्र एवं साँवले शरीरवाले आप के समान प्रतीत होता है। इसके शिखरों पर बैठे हुए लोग चन्द्रमा के कलङ्करहित पिछले भाग को ही देख पाते हैं।

इसके तालाबों में एक ओर स्फटिक की तथा दूसरी ओर नीलमणि की कान्ति से श्वेत एवं नीला जल गङ्गा-यमुना के संगम की याद दिलाता है। एक ओर सुवर्णमयी तथा दूसरी ओर रजतमयी भीतों से यह पर्वत भस्म से विभूषित देह वाले तथा नेत्र से आग बरसाते हुए शिवजी के समान मालूम पड़ता है। यहाँ रत्नों का इतना प्रकाश है कि चन्द्रमा को सूर्य समझकर रात में भी नलिनी खिल जाती है। इसकी ऐसी भी तटभूमियाँ है जहाँ कोई भी नहीं जा सकता है। यहाँ रात्रि में औषधियाँ चमकती हुई दिखायी पड़ती हैं। इसके चारों ओर खिले चम्पापुष्पों से ढँके हुए ऊँचे शिखरों की कान्ति से सारा देश इलावृतवर्ष की तरह सोने के समान लगता है। इसमें कम्बलमृग विचरण करते हैं तथा स्त्रियों सहित सिद्धगण विहार करते हैं। बहुत सी नदियाँ इससे बहती हुई समुद्र में मिलती हैं।

यहाँ श्रेष्ठ ब्राह्मणों के समान आगम (निधिकल्प तथा मन्त्रशास्त्र) को जानने वाले विद्वानों ने किसी तरह प्रकाशित परन्तु सुनाने पर भी शास्त्रों में अनभिज्ञों दुर्ग्राह्य अघो के नाश करने में समर्थ निधिगण और मन्त्रगण को धारण करता है। इसमें रहते हुए योगी लोग क्लेशों को नष्ट करके चित्त को शुद्ध करते हुए संप्रज्ञात समाधि से प्रकृति पुरुष की भिन्नता को जानकर अन्त में उसे भी छोड़ देते हैं और स्वयंप्रकाश की स्थिति को प्राप्त करने में लग जाते हैं, अतः यह पर्वत केवल भोगभूमि ही नहीं किन्तु मोक्षभूमि भी है। इसके शिखर पर रात्रि में चन्द्रकान्तमणियों के पिघलने से स्नान करते हुए और दिन में सूर्यकान्त मणियों से अग्नि की लपटे निकालने से पञ्चाग्नि तापते हुए मानों कठोंर महाव्रत का आचरण कर रहें हैं। यहाँ

बड़ी-बड़ी झीलों की शोभा अद्भुत है, कलभों, चँवरगायों, कम्वल एवं कस्तूरी मृग के झुण्ड विचरण करते रहते हैं। सभी ऋतुओं का आनन्द यहाँ सदा मिलता है। अतः यहाँ निवास करने वाले अकिंचन कंगाल भी शीतोष्णादि कुछ भी द्वन्द्व दुःख नहीं पाते हैं।

इस प्रकार यह श्रेष्ठ पर्वत आपके पहुँचने पर, शिखरों जैसे दीखते हुए तीव्र वायु से प्रेरित, अनायास ऊपर को उठते हुए, बलदेवजी के वस्त्रों के समान साँवले मेघों द्वारा मानों आपका अगवानी कर रहा है।

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

'सुधा'-संस्कृत हिन्दीव्याख्योपेतम्

अथ तृतीयः सर्गः

अथ तृतीयसर्गमारभमाणो महाकविर्माघः श्रीकृष्णस्य हस्तिनापुरं प्रति प्रस्थानमाह—

कौबेरदिग्भागमपास्य मार्गमागस्त्यमुष्णांशुरिवावतीर्णः ।
अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यो हरिर्हरिप्रस्थमथ प्रतस्थे ॥ १ ॥

अन्वयः—अथ कौबेरदिग्भागं अपास्य आगस्त्यं मार्गं अवतीर्णः उष्णांशुः, इव अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः हरिः हरिप्रस्थं प्रतस्थे ।

सुधा—अथ उद्धववाक्यश्रवणानन्तरम् । कौबेरदिग्भागं = उत्तराशाम् । (उत्तरायणम्) । अपास्य = त्यक्त्वा । आगस्त्यं = अगस्त्यमुनिसम्बन्धिनम् । मार्गं = वर्त्म । (दक्षिणायनम्) । अवतीर्णः = प्राप्तः । उष्णांशुः इव = भास्करः इव । अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः = त्यक्तसंग्रामाग्रहप्रसन्नः । हरिः = कृष्णः । हरिप्रस्थं = इन्द्रप्रस्थम् । (हस्तिनापुरम्) प्रतस्थे = चचाल ।

[अत्र उपमालङ्कारः । अस्मिन् सर्गे उपजातिवृत्तम् । तल्लक्षणं तु "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः । उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ ।" "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।" वृत्तरत्नाकरः ।]

कोशः—मार्गं—अयनं वर्त्म मार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः । अंशुः—किरणोऽस्त्री मयूखांशुः । (अमरकोषः) । हरिः—इन्द्रो दुश्च्यवनो हरिः । (हला०) ।

समासादिः—कौबेरदिग्भागम्—कुबेरस्य इयं कौबेरी । कौबेरी च असौ दिक् च इति कौबेरदिक् । तस्याः भागः तम् कौबेरदिग्भागम् । आगस्त्यम्—अगस्त्यस्य

अयं आगस्त्यः तम् आगस्त्यम् । अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः—युद्धस्य अभिनिवेशः इति युद्धाभिनिवेशः, अपेतः युद्धाभिनिवेशः यस्य सः अपेतयुद्धाभिनिवेशः स च असौ सौम्यश्च, अपेतयुद्धाभिनिवेशसौम्यः । उष्णांशुः—उष्णः अंशुः यस्य सः उष्णांशुः ।

व्याकरणम्—कौवेरदिक्—कुबेरशब्दात् 'तस्येदम्' सूत्रेण अण् तथा "स्त्रियाः पुंवत्" सूत्रेण पुंवद्भावः । प्रतस्थे—'समवप्रविभ्यः स्थः' इति, आत्मनेपदम् । प्र + स्था + लिट् + त एश = प्रतस्थे ।

संस्कृत भावः—उद्धववचनश्रवणानन्तरं उत्तराशां त्यक्त्वा अगस्त्यसम्बन्धिनं मार्गं प्राप्तः सूर्यं इव त्यक्तयुद्धाग्रहप्रसन्नः श्रीकृष्णः इन्द्रप्रस्थं (हस्तिनापुरं) गतवान् ।

हिन्दी—उद्धव के वचनश्रवणानन्तर युद्धाग्रह के दूर होने से प्रमुदित, कुबेर की उत्तरदिशा को त्यागकर अगस्त्य मुनि की दक्षिण दिशा को सह्यतेजवाले होकर श्रीकृष्ण ने हस्तिनापुरको, गमन किया । [यथा—सूर्य उत्तरायणको त्यागकर सह्यतेजवाला होकर दक्षिणायनको प्रवेश करता है उसी प्रकार भगवान् भी इन्द्रप्रस्थ को चले] ।

अथास्य प्रस्थानसन्नाहं वर्णयन्नादौ छत्रधारणमाह—

जगत्पवित्रैरपि तं न पादैः स्प्रष्टुं जगत्पूज्यमयुज्यतार्कः ।
यतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारु तस्यातपत्रं बिभराम्बभूवे ॥ २ ॥

अन्वयः—अर्कः जगत्पवित्रैः, अपि पादैः जगत्पूज्यं तं स्प्रष्टुं न अयुज्यत । यतः तस्य बृहत्पार्वणचन्द्रचारु आतपत्रं बिभराम्बभूवे ।

सुधा—अर्कः = भास्करः । जगत्पवित्रैः = लोकपावनैः । अपि = अपि । पादैः= किरणैः, चरणैः च । जगत्पूज्यं = लोकप्रतीक्ष्यं । तं = श्रीकृष्णं । स्प्रष्टुं = स्पर्शनं कर्तुं । न = न । अयुज्यत = अर्हत । यतः = यस्मात् कारणात् । तस्य=श्रीकृष्णस्य । (उपरिप्रदेशे) बृहत्पार्वणचन्द्रचारु = विपुलपौर्णमासीचन्द्रमनोहरं । आतपत्रं = छत्रम् । बिभराम्बभूवे = दध्रे ।

कोशः—अर्कः—विकर्तनार्कमार्त्तण्ड । पादैः—पादारश्म्यङ्घ्रि । आतपत्रम्-छत्रं त्वातपत्रम् । (अमर०)

समासादिः—जगत्पवित्रैः—जगतः पवित्राः जगत्पवित्राः तैः जगत्पवित्रैः ।

जगत्पूज्यम्—जगतः पूज्यः जगत्पूज्यः तं जगत्पूज्यम् । आतपत्रम्—आतपात् त्रायते इति आतपत्रम् । वृहत्पार्वणचन्द्रचारु—वृहत् पर्वणि भवः वृहत्पार्वणः वृहत्पार्वणश्चासौ चन्द्रश्च वृहत्पार्वणचन्द्रः स इव चारु वृहत्पार्वणचन्द्रचारु (कर्मधारयोपरान्त—उपमितसमासः) ।

व्याकरणम्—आतपत्रम्—आतपात् त्रायते इति आतपत्रम् । 'सुपि' सूत्रेण योगविभागात् सुबन्ते उपपदे त्रैङ्ः धातोः 'क' प्रत्ययः भवति । बिभराम्बभूवे—अत्र भृञो धातोः कर्मणि प्रयोगे लिटि 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' सूत्रेण विकल्पात् 'आम्' प्रत्ययः भवति ।

संस्कृतभावः—सूर्यः लोकपावनैः अपि पादैः (किरणैः) लोकपूज्यं श्रीकृष्णं स्प्रष्टुं न अयुज्यत । यतः तस्य (उपरि) पौर्णमाणीचन्द्रचारु वृहच्छत्रं दध्रे ।

[यात्रा की तैयारी का वर्णन करते हुए सर्वप्रथम छत्र (छाते के) धारण का वर्णन है]

हिन्दी—जगत्पूज्य उन भगवान् श्रीकृष्णको, सूर्य भगवान् अपनी लोकपवित्र किरणों से भी स्पर्श करने में असमर्थ थे क्योंकि उन श्रीकृष्णजी के ऊपर पूर्णिमाके चन्द्रके तुल्य मनोहर तथा विशाल छत्र लगा था ।

[इस श्लोकमें छत्र धारण का वर्णन है—यात्रा के समय छत्र धारण का वर्णन प्रायः कविगण प्रथम किया करते हैं ।]

अथास्य चामरधारणं वदति—

मृणालसूत्रामलमन्तरेण स्थितश्चलच्चामरयोर्द्वयं सः ।
भेजेऽभितः पातुकसिद्धसिन्धोरभूतपूर्वां रुचमम्बुराशेः ॥ ३ ॥

अन्वयः—मृणालसूत्रामलं चलच्चामरयोः द्वयं अन्तरेण स्थितः सः अभितः पातुकसिद्धसिन्धोः अम्बुराशेः अभूतपूर्वां रुचं भेजे ।

सुधा—मृणासूत्रामलं = कमलतन्तुशुभ्रम् । चलच्चामरयोः=कम्पितचामरयोः । द्वयं = युगलम् । अन्तरेण = मध्यदेशे । स्थितः = विद्यमानः । सः = श्रीकृष्णः । अभितः = उभयतः । पातुकसिद्धसिन्धोः = पतनशीलदेवनद्यः अम्बुराशेः = सागरस्य । अभूतपूर्वां = पूर्वम्, अभूताम् । रुचं = शोभाम् । भेजे = प्राप ।

[विशेषः—अत्र 'मृणालसूत्रामलम्' इति उपमालङ्कारः । अत्र अन्यः अन्यस्य छविं कथं वहतु इति तत्तुल्यछविमवगमयत् श्रीकृष्णस्य समुद्रस्य बिम्बप्रतिबिम्बभावं

बोधयति अतः निदर्शनालङ्कारः अस्ति । सा छविः समुद्रस्य सम्भावनामात्रकथनेन तथा अभितः पातुकसिद्धसम्बन्धमूलकथनेन असम्बन्धे स्थले सम्बन्धरूपातिशयोक्त्या संकीर्य्यते । अत्र निदर्शना मुख्या अतिशयोक्तिः तत्पोषिका च ।

कोशः—मृणालम्—मृणालं बिसमब्जादि० । चामरम्—चामरं तु प्रकीर्णकम् । (अमर०) ।

समासादिः—मृणालसूत्रामलम्—मृणालस्य सूत्रं तद्वत् अमलं मृणालसूत्रामलम् । चलच्चामरयोः—चलन्ती च चामरे च चलच्चामरे तयोः चलच्चामरयोः । पातुकसिद्धसिन्धोः—पातुका सिद्धानांसिन्धुः पातुकसिद्धसिन्धुः पातुकसिद्धसिन्धुः यस्य सः तस्य पातुकसिद्धसिन्धोः । अभूतपूर्वाम्—न भूतपूर्वा अभूतपूर्वा ताम् अभूतपूर्वाम् (सुप्सुपेति समासः) । [अत्र श्लोके माधुर्यगुणः, पाञ्चाली रीतिः] ।

व्याकरणम्—द्वयम्—'अन्तरान्तरेण युक्ते' इति सूत्रेण द्वितीया । अभितः—'पर्यभिभ्यां च' इति सूत्रेण तसिल् प्रत्ययः भवति । अत्र 'सर्वोभयार्थवर्तमानाभ्यामिष्यते' इत्यनेन उभयार्थत्वम् सुप्सुपेति समासः । 'लषपतपद०' इत्यादिना पातुकेति स्थले उकञ् प्रत्ययः भवति ।

संस्कृतभावः—कमलतन्तुविशदं कम्पितचामरयोः द्वयं मध्यदेशे स्थितः श्रीकृष्णः उभयतः पतनशीलदेवनद्याः समुद्रस्य अभूतपूर्वां शोभां प्राप ।

[अब चामरधारण का वर्णन करते हैं]—

हिन्दी—कमल तन्तुओं के सदृश शुभ्र तथा हिलती हुई दो चामरों के मध्य-भाग में विद्यमान भगवान् कृष्णने, दो तरफ से गिरनेवाली आकाश गंगा की धारा वाले समुद्र की अभूतपूर्व सुन्दरता को प्राप्त किया । (धारण किया)

अथाष्टभिः श्लोकैरस्य प्रसाधनविधिं वर्णयन् मुकुटधारणमाह—

चित्राभिरस्योपरिमौलिभाजां भाभिर्मणीनामनणीयसीभिः ।
अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्धनस्याकृतिरन्वकारि ॥ ४ ॥

अन्वयः—अस्य उपरि मौलिभाजां मणीनां अनणीयसीभिः चित्राभिः भाभिः अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः गोवर्धनस्य आकृतिः अन्वकारि ।

सुधा—अस्य = श्रीकृष्णस्य । उपरि = ऊर्ध्वप्रदेशे । मौलिभाजां = मुकुटगतानां मणीनां = पद्मरागादिरत्नानाम् । अनणीयसीभिः = प्रचुराभिः (महतीभिः) । चित्राभिः = अनेकवर्णाभिः । भाभिः = द्युतिभिः । अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः =

विविधगैरिकादिधातुरूषितमणिप्रस्तरसमूहस्य । गोवर्धनस्य = गोवर्द्धनशैलस्य । आकृतिः = स्वरूपम् । अन्वकारि = अनुकृता ।

[विशेषः—अत्र उपमालङ्कारः । अस्मिन् श्लोके श्रीकृष्णस्य उपमानं गोवर्द्धनः, भासाम् धातवः । अतः धातवः छविभिः एव अनुकर्त्तुं उचिताः आसन् न तु गोवर्द्धनः । सः गोवर्द्धनः श्रीकृष्णेन एव अनुकर्त्तुं योग्यः आसीत् । अतः अस्य श्लोकस्य-काव्यरचना कोविदमनोरञ्जिका न अस्ति । अत्र स्थले इयं रचना उचिता आसीत्—"मौलिमणिमरीचिभिः भूषितेन कृष्णेन—अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेर्गोवर्द्धनस्याकृतिरन्वकारि । अत्र श्लोके वैदर्भीरीतिः प्रसादगुणश्च ।

कोशः—मणीनाम्—'रत्नं मणिर्द्वयोः'', चित्राभिः—"आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम् ।" (अमर०) ।

समासादिः—मौलिभाजाम्—मौलिं भजन्ति इति मौलिभाजः तेषां मौलिभाजाम् । अनेकधातुश्छुरिताश्मराशेः—अनेके च ते धातवः च इति अनेक धातवः, अश्मनां राशयः अश्मराशयः अनेकधातुभिः छुरिताः अश्मराशयो यस्य सः, तस्य अनेकधातुच्छुरिताश्मराशेः ।

व्याकरणम्—मौलिभाजाम्—मौलि + भज + ण्विः + आम्, "भजो ण्विः" सूत्रेण 'ण्वि' प्रत्ययः भवति । अन्वकारि–कर्मणि प्रयोगे लुङ्—अनु + कृ + लुङ् = अन्वकारि ।

संस्कृतभावः—श्रीकृष्णस्य ऊर्ध्वदेशे मुकुटरत्नानां महतीभिः विविधवर्णकान्तिभिः विविधधातुरूषितमणि-प्रस्तरसमूहस्य गोवर्द्धनशैलस्य सादृश्यं अनुकृतम् ।

[इसके आगे के ८ श्लोकों द्वारा शरीरालंकृति का वर्णन करते हुए प्रथम मुकुट धारण का वर्णन]

हिन्दी—उन भगवान् श्रीकृष्ण के ऊर्ध्व प्रदेश में—मुकुट में जटित मणियों की, अनेक वर्णवाली फैलनेवाली, सान्द्र छवि ने, अनेक धातुओं से व्याप्त प्रस्तरसमूहों से युक्त गोवर्द्धनपर्वत की समानता को प्राप्त किया ।

कुण्डले च धृते इत्याह—

तस्योल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा ।
अवाप बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनामिवोरः ॥ ५ ॥

अन्वयः—तस्य उरः उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् अवाप इव ।

सुधा—तस्य = श्रीकृष्णस्य । उरः = वक्षःस्थलभागम् । उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा = शोभायमानस्वर्णकर्णाभूषणाग्रभागखचितमरकतमणिकान्त्या । बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् = शैशवकालाभ्यस्तमयूरपिच्छरचितमालारचनाम् । अवाप इव = प्राप, इव ।

कोशः—कुण्डलम्—"कुण्डलं कर्णवेष्टनम् ।" गारुत्मतम्—"गारुत्मतं मरकतम् ।" पिच्छम् "पिच्छबर्हे नपुंसके ।" (अमर०) । अभ्यस्तम्—"अभ्यस्तेऽप्युचितं न्याय्ये ।" (यादवः)

समासादिः—उल्लसन्ती च ते काञ्चनकुण्डले च उल्लसत्काञ्चनकुण्डले तयोः अग्रम् उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रम् तत्रस्थले प्रत्युप्ते च ते गारुमतरत्ने तयोर्या भाः, तया उल्लसत्काञ्चनकुण्डलाग्रप्रत्युप्तगारुत्मतरत्नभासा । बाल्ये उचितम् = बाल्योचितम् नीलकण्ठस्य पिच्छम् इति नीलकण्ठपिच्छम् बाल्योचितं च यत् नीलकण्ठपिच्छं तत् बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छम् तेन निर्मिता अवचूडा बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडा तस्याः कलना तां बाल्योचितनीलकण्ठपिच्छावचूडाकलनाम् ।

व्याकरणम्—'बाल्यं' अत्र बालशब्दाद् "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च" सूत्रेण ष्यञ् प्रत्ययः भवति । "अवाप" अव + आप्लृ + लिट्-तिप्-णल्=अवाप ।

संस्कृतभावः—हरेः वक्षःस्थलम् शोभायमानस्वर्णकर्णभूषणाग्रभागखचितमरकतमणिकान्त्या बाल्यकालाभ्यस्तमयूरपिच्छरचितमालारचनाम् अवाप इव ।

[अब कुण्डलधारणका वर्णन किया जाता है]

हिन्दी—उस समय, भगवान् कृष्ण का वक्षःस्थल देदोप्यमान स्वर्णकुण्डलों के अग्रभागों में जटित मरकतमणियों की प्रभा से ऐसा प्रतीत होता था जैसा—बाल्यकाल में मोरपंखों की माला धारण करके उनका वक्षस्थल सुशोभित होता था ।

[अर्थात्—ऐसा लगता था कि वे मोरपंख की माला धारण किये हैं स्वर्णकुण्डलों में जटित मरकतमणियों की प्रभा नहीं है] ।

अङ्गदे च धृते इत्याह—

तमङ्गदे मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया मणीनाम् ।
बंहीयसा दीप्तिवितानकेन चकासयामासतुरुल्लसन्ती ।। ६ ।।

अन्वयः—मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया वंहीयसा मणीनां दीप्तिवितानकेन उल्लसन्ती अङ्गदे तं चकासयामासतुः ।

सुधा—मन्दरकूटव्याघट्टनोत्तेजनया=मन्दराचलशिखरसंघर्षणशाणोल्लेखनया । वंहीयसा = प्रचुरेण । मणीनां = रत्नानाम् । दीप्तिवितानकेन = प्रभापटलेन, प्रभामण्डलेन । उल्लसन्ती = देदीप्यमाने । अङ्गदे = केयूरे । तं=कृष्णं । चकासयामासतुः = शोभयाञ्चक्रतुः ।

[विशेषः—अस्मिन् श्लोके कविः कृष्णं विष्णुरूपेण कथयति विष्णोः भुजाः पीयूष मथनसमये मन्थिता जाताः । तस्मिन् काले तस्य अङ्गदे मन्दराचलसंघट्टनेन देदीप्यमाने जाते । [श्रीकृष्णः केयूरे धृतवान्-इत्यर्थः]

कोशः—'केयुरमङ्गदं तुल्ये' । रत्नं मणिर्द्वयोः । (अमर०) ।

समासादिः—मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया – मन्दरस्य कूटाः तेषां कोटयः तासां व्याघट्टना तया उत्तेजना तया मन्दरकूटकोटिव्याघट्टनोत्तेजनया । दीप्तिवितानके दीप्तीनां वितानकम् दीप्तिवितानकम् तेन दीप्तिवितानकेन ।

व्याकरणम्—वंहीयसा—'प्रियस्थिर—' इत्यादिसूत्रेण बहुलशब्दस्येयसुनि वंहादेशः । चकासयामासतुः—'चकासृदीप्तौ इत्यनेन धातोः ण्यन्तात् 'आम्' । उल्लसन्ती—उत् + लस + शतृ प्रत्ययः ।

संस्कृतभावः—मन्दराचलशिखरसंघर्षणशाणोल्लेखनया प्रचुरमणीनां प्रभामण्डलेन देदीप्यमाने केयूरे श्रीकृष्णं शोभयाञ्चक्रतुः ।

[बाजूबन्द (बिजायठ) का वर्णन]

हिन्दी—मन्दराचल के शृङ्गों (शिखरों) के अग्रभाग के संघर्षण स्वरूप शाणोल्लेखा के द्वारा सान्द्र रत्नों की कान्ति के पुंजसे प्रकाशमान बाजूबन्दों (अंगदों) ने, उन भगवान् कृष्ण को शोभित कर दिया । अर्थात् कृष्ण की दोनों भुजाओं में बिजायठ शोभित हो रहे थे ।

[विशेषः—शास्त्रानुसार राम और कृष्णादि विष्णुस्वरूप हैं]

अथास्य वलयधारणमाह—

निसर्गरक्तैर्वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैर्नखाग्रैः ।
व्यद्योतताद्यापि सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैरिवाऽसौ ॥ ७ ॥

अन्वयः—असौ निसर्गरक्तैः वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैः अद्यापि सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैः, इव (स्थितैः) नखाग्रैः व्यद्योतत् ।

सुधा—असौ = हरिः । निसर्गरक्तैः = प्रकृतलोहितैः । वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैः = कटकगुम्फितपद्मरागमणिव्याप्तैः । इव=वत् । नखाग्रैः = नखराग्रैः । व्यद्योतत = शोभते स्म ।

[विशेष—अत्र ओजो गुणः, गौडी रीतिः उत्प्रेक्षालङ्कारश्च]

कोशः—'नखोऽस्त्री नखरोऽस्त्रियाम्' । 'कटकं वलयोऽस्त्रियाम्' । (अमर०)

समासादिः—निसर्गरक्तैः—निसर्गैः रक्ताः निसर्गरक्ताः तैः निसगरक्तैः । वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिच्छुरितैः—वलयोः अवनद्धाः वलयावनद्धाः ते च ते ताम्राश्मानः वलयावनद्धताम्राश्मानः तेषां रश्मयः वलयावनद्धताम्राश्मरश्मयः वलयावनद्धताम्राश्मरश्मिभिः छुरितैः । नखाग्रैः-नखानां अग्राणि नखाग्राणि तैः । सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक्स्नपितैः—सुराणां अरिः सुरारिः तस्य वक्षः सुरारिवक्षः तस्य विक्षोभः तेन जाता या असौ असृक् च सुरारिवक्षोविक्षोभजासृक् तया स्नपितैः ।

व्याकरणम्—स्नपितैः—'ष्णा शौचे च' इति धातोः ण्यन्तात् क्तः । 'अर्तिह्री व्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ' इति सूत्रेण पुमागमः । मितां ह्रस्वः ।

संस्कृतभावः—हरिः स्वभावलोहितकटकगुम्फितपद्मरागमणिव्याप्तैः इव नखराग्रैः शुशुभे ।

[कंकण (कड़ा) वर्णन-]

हिन्दी—उस समय श्रीकृष्णजी वलय (हाथ में धारण करने वाले कड़े) धारण किये हुए थे उसका वर्णन है—भगवान् कृष्ण प्राकृतिक रक्त वर्णी मणियों से युक्त कड़ों को धारण किये थे जिन मणियों की किरणों से उनके हाथ के नखाग्रभाग अत्यन्त लाल-लाल हो रहे थे । अतः उनके नख उस समय ऐसे प्रतीत हो रहे थे जैसे हिरण्यकशिपु राक्षस की छाती को विदीर्ण करने पर खून से लाल-लाल दीख पड़े थे ।

[विशेष—कृष्ण ने ही नृसिंह रूप में हिरण्यकशिपुको मारा था]

अथास्य हारधारणमाह—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक् प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम् ।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तमुक्तालतमस्य वक्षः ॥ ८ ॥

अन्वयः—तमालनीलम् आमुक्तलतम् अस्य वक्षः आकाशगङ्गा पयसः उभौ प्रवाहौ व्योम्नि यदि पृथक् पतेतां तेन उपमीयेत ।

सुधा—तमालनीलं = तमालपादपः इव नीलवर्णम् । आमुक्तमुक्तालतम् = आसज्जितमौक्तिकदाम । अस्य = हरेः । वक्षः = उरःस्थलम् । आकाशगङ्गापयसः= देवनदीजलस्य । उभौ = द्वौ । प्रवाहौ=स्रोतसौ । पृथक् = भिन्नरूपयुक्तौ । व्योम्नि= गगने, आकाशे । यदि = चेत् । पतेताम् = प्रवहेताम् । तेन = आकाश दृश्येन । उपमी-येत = समीक्रियेत ।

कोशः—तमालम्—'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्' । 'प्रवाहः—'प्रवाहस्तु प्रवृत्तौ स्यात् ।' (अमर०) ।

समासादिः—तमालनीलम्—तमालवत् नीलं तमालनीलम् । आमुक्तमुक्ता-लतम्—आमुक्ते च मुक्तालते च आमुक्तमुक्तालते (क० धा) ते स्तः यस्मिन् तत् आमुक्तमुक्तालतम् । आकाशगङ्गापयसः—आकाशस्य गङ्गा, आकाशगङ्गायाः पयः तस्य ।

व्याकरणम्—अत्र 'पतेताम्' 'यदि' योगे सम्भावनायां लिङ् [पत् धातोः लिङ्' लकारस्य प्र० पु० द्वि०] ।

संस्कृतभावः—तमालवत् नीलवर्णं आसज्जितमौक्तिकदाम श्रीकृष्णस्य उरः आकाशगङ्गाजलस्य द्वौ प्रवाहौ गगने यदि भिन्नप्रवहेताम् (तर्हि) तेन दृश्येन समीक्रियेत ।

[मौक्तिकमाला के धारणादि का वर्णन]

हिन्दी—कृष्णवर्ण के श्रीकृष्णजी सफेद मोतियों की माला धारण किये हुए थे । अतः उक्त माला की लड़ियाँ दो ओर से उनके वक्षःस्थल पर विराजमान थीं । कवि कहता है कि आकाशगंगा का प्रवाह (नीले आकाश में) यदि दो ओर से गिरे तो उस माला की लड़ियों की उपमा दी जा सकती है । अर्थात् हरि के वक्षःस्थल पर स्थित माला की शोभा उपमारहित है ।

अथास्य कौस्तुभमणिधारणमाह—

तेनाम्भसां सारमयः पयोधेर्दध्रे मणिर्दीधितिदीपिताशः ।
अन्तर्वसन्बिम्बगतस्तदङ्गे साक्षादिवालक्ष्यत यत्र लोकः ॥ ९ ॥

अन्वयः—तेन दीधितिदीपिताशः पयोधेः अम्भसां सारमयः मणिः दध्रे यत्र बिम्बगतः लोकः तदङ्गे साक्षात् अन्तर्वसन् इव अलक्ष्यत ।

सुधा—तेन = हरिणा, कृष्णेन । दीधितिदीपिताशः = किरणप्रकाशितकाष्ठः । पयोधेः = सागरस्य । अम्भसां = जलानाम् । सारमयः = तत्त्वमयः, मुख्यांशभूतः । मणिः = सागरोत्पन्नकौस्तुभमणिः । दध्रे = धृतः । यत्र = कौस्तुभमणौ । बिम्ब-गतः = प्रतिबिम्बीभूतः । लोकः = संसारः । तदङ्के = कृष्णवक्षःस्थले । साक्षाद् = प्रत्यक्षरूपेण । अन्तर्वसन् इव = अन्तःस्थलविराजमान इव । अलक्ष्यत = अदृश्यत ।

[श्रीकृष्णवक्षःस्थलस्थितकौस्तुभमणौ प्रतिबिम्बितः लोकः तस्य कुक्षिस्थलोक इव अदृश्यत ।]

कोशः—अम्भसाम्—'अम्भोर्णस्तोयपानीय' । 'पुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम् ।' 'साक्षात्प्रत्यक्षतुल्ययोः ।' (अमर०)

समासादिः—दीधितिदीपिताशः—दीधितिभिः दीपिता आशा येन सः । बिम्बगतः—बिम्बं गतः । तदङ्के—तस्य अङ्के ।

व्याकरणम्—सारमयः—सारस्य विकारः । विकारार्थे सारशब्दात् शुद्धे स्वार्थे वा मयट् प्रत्ययः भवति । दध्रे—'धृञ्' धारणे । कर्मणि लिट् लकारः ।

संस्कृतभावः—हरिणा किरणप्रकाशितकाष्ठः समुद्रस्य जलानां तत्त्वमयः कौस्तुभ मणिः धृतः । यत्र मणौ प्रतिबिम्बितः संसारः कृष्णाङ्के प्रत्यक्षः अन्तर्वसन् इव अलक्ष्यत ।

[कौस्तुभमणि वर्णन]

हिन्दी—अपनी किरणों से दिशाओं को देदीप्यमान करनेवाली समुद्रजल की सारभूत कौस्तुभमणि को कृष्णभगवान् धारण किये हुए थे । जिसमें प्रतिबिम्बित समस्त संसार उनके कुक्षिगत दीख रहा था । सारा जगत् उनके जठर में स्थित मालूम हो रहा था ।

"ईशावास्यमिदं सर्वम्" ।

अस्य रसनाधारणमाह—

मुक्तामयं सारसनावलम्बि भाति स्म दामाप्रपदीनमस्य ।
अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतमिवोर्ध्वमुच्चैस्त्रिस्रोतसः सन्ततधारमम्भः ॥ १० ॥

अन्वयः—अस्य मुक्तामयं सारसनावलम्बि आप्रपदीनं दाम अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतम् ऊर्ध्वम् उच्चैः त्रिस्रोतसः सन्ततधारम् अम्भः इव भाति स्म ।

सुधा—अस्य = हरेः । मुक्तामयं = मुक्ताबहुलम् । सारसनावलम्बि = कटि-प्रदेशसूत्रावलम्बि । आप्रपदीनं = पादाग्रगामि । दाम = मुक्तास्रक् । अङ्गुष्ठच्यूतं = अङ्गुष्ठप्रदेशात् निर्गतम् । ऊर्ध्वं = ऊर्ध्वदेशप्रवाहम् । उच्चैः = उन्नतम् । त्रिस्रोतसः = मन्दाकिन्याः गगनगङ्गायाः । सन्ततधारं = निरन्तरप्रवाहम् । अम्भः, इव = पानीयमिव । भाति स्म = शोभते स्म ।

[विशेषः—अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः अस्ति ।]

कोशः—सारसना०—'क्लीबे सारसनं चाथ ।' 'पादाग्रं प्रपदं पादः' । 'त्रिस्रोता भीष्मसूरपि ।' (अमर०) ।

समासादिः—मुक्तामयम्—बाहुल्येन गुम्फिताः प्रसृताः मुक्ताः यत्र तत् । सारसनावलम्बि—सारसनं सारसने वा अवलम्बते सारसनावलम्बि । आप्रपदीनम्—पदस्य-पादस्य वा प्रारम्भः प्रपदम् आ प्रपदं आप्रपदीनम् । अङ्गुष्ठनिष्ठ्यूतम् = अङ्गुष्ठात् निष्ठ्यूतम् ।

व्याकरणम्—मुक्तामयम्—अत्र मुक्ताशब्दात्—'तत्प्रकृतवचनेमयट्' सूत्रेण मयट् प्रत्ययः । आप्रपदीनम्—आ समन्तात् प्रपदं प्राप्नोति—आ + प्र + पद + खश् (ईन) ।

संस्कृतभावः—हरेः मुक्ताप्रचुरं कटिसूत्रावलम्बि पादाग्रगामि मुक्तास्रक् अङ्गुष्ठनिर्गतं ऊर्ध्वप्रवाहं जलमिव शोभते स्म ।

[करधनी वर्णन—]

हिन्दी—भगवान् कृष्ण मोतियों से गुम्फित करधनी धारण किये थे । उस करधनी की लड़ उनके पैर के अंगूठे तक पहुँच रही थी । जिसे देखकर ऐसा ज्ञात होता था कि यह करधनी की लड़ नहीं है—अपितु उनके (कृष्ण के) अंगूठे से निःसृत गंगा की धारा (ऊर्ध्वगामिनी) है ।

अथ हरेः पीतवस्त्रधारणमाह—

स इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्ती रराज कर्चूरपिशङ्गवासाः ।
विसृत्वरैरम्बुरुहां रजोभिर्यमस्वसुश्चित्र इवोदभारः ॥ ११ ॥

अन्वयः—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्त्तिः कर्चूरपिशङ्गवासाः सः विसृत्वरैः अम्बुरुहां रजोभिः चित्रः यमस्वसुः उदभार इव रराज ।

सुधा—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्त्तिः = नीलमणिकुट्टिमश्यामाङ्गः । कर्चूरपिशङ्ग-

वासाः = हरितालपिशङ्गवसनः । सः = हरिः । विसृत्वरैः प्रसरणशीलैः । अम्बुरुहां = पद्मानाम् । रजोभिः = परागैः । चित्रः = चित्रवर्णः । यमस्वसुः = यमुनानद्याः । उदभारः इव = तोयराशिः इव । रराज = शोभते स्म, शुशुभे ।

कोशः—हरितालं तु कर्चूरम् । कडारः कपिलःपिङ्गपिशङ्गौ । (अमर०)

समासादिः—इन्द्रनीलस्थलनीलमूर्त्तिः—इन्द्रनीलस्य स्थलम्—इन्द्रनीलस्थलम् (ष० त०) नीला चासौ मूर्त्तिश्च नीलमूर्त्तिः इन्द्रनीलस्थलवत् नीलमूर्त्तिः यस्य सः कर्चूरपिशङ्गवासाः—कर्चूरं इव पिशङ्गं वासो यस्य सः । यमस्वसुः—यमस्य स्वसा तस्याः उदभारः (उदकस्य भारः) (ष० त०) ।

व्याकरणम्—विसृत्वरैः—'वि'पूर्वक सृधातोः अत्र 'इण्वशजिसर्तिभ्यः क्वरप्' सूत्रेण 'क्वरप्' पश्चात् तुगागमे कृते ।

[विशेषः—उद्भारः अत्र 'मन्थौदनसक्तु' इत्यादिना उदकस्य स्थाने उद आदेशः भवति]

संस्कृतभावः—नीलमणिश्यामाङ्गः हरितालपीताम्बरः हरिः प्रसरणशीलकमलपरागैः यमुनायाः तोयराशिः इव शुशुभे ।

[पीताम्बर वर्णन]—

हिन्दी—कमल के परागों से चित्र-विचित्र यमुनाजल के समान इन्द्रनीलमणि के फर्श के सदृश कृष्णरंगवाले भगवान् कृष्ण हरिताल के सदृश पीताम्बर धारण किये शोभित हो रहे थे ।

विशेष—जैसे यमुना के नीले जल पर कमल का पराग सुन्दर लगता है वैसे ही कृष्णजी के शरीर पर पीताम्बर झलक रहा था] ।

विविधभूषणभूषितस्य हरेः शोभामाह—

प्रसाधितस्यास्य मधुद्विषोऽभूदन्यैव लक्ष्मीरिति युक्तमेतत् ।
वपुष्यशेषेऽखिललोककान्ता साऽनन्यकान्ता ह्युरसीतरा नु ॥ १२ ॥

अन्वयः—प्रसाधितस्य अस्य मधुद्विषः अन्या एव लक्ष्मीः अभूत इति एतत युक्तम् हि सा अशेषे वपुषि अखिललोककान्ता इतरा तु अनन्यकान्ता उरसि ।

सुधा—प्रसाधितस्य = सज्जीभूतस्य । अस्य = प्रक्रान्तस्य । मधुद्विषः = मधुदैत्यारेः । अन्या = अपरा । एव = एव । लक्ष्मीः = शोभा, रमा च । अभूत = अभवत् । इति = इति । एतत = इदम् । युक्तम् = उचितम् । हि = यतः । सा =

प्रसाधनसम्बन्धिलक्ष्मीः । अशेषे = समस्ते । वपुषि = देहे । अखिललोककान्ता = सम्पूर्णभुवनप्रिया । इतरा = अन्या, रमारूपा इत्यर्थः । तु = पुनः = अनन्यकान्ता = अनन्यभार्या । उरसि = अन्तःकरण देशे । (स्थिता) ।

[विशेषः—हरेः कान्तिः अवर्णनीयैव यद् अभूत तत् सज्जीकरणत्वात् उचितं एव । श्रीकृष्णशोभा सर्वथा मनोहारिणी आसीत् । सर्वे प्राणिनः अस्य शरीरकान्ति-भूषां अभिलषन्ति । अस्मिन् श्लोके कविः लक्ष्म्याः तथा कृष्णशोभायाः अभेदसम्बन्ध-रूपं प्रकटयति अतः अत्र अतिशयोक्तिःअलङ्कारः अस्ति ।]

कोशः—लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा । प्रमदा मानिनी कान्ता । (अमर०) । शोभासम्पत्ति पद्मासु लक्ष्मीःश्रीरपि गद्यते । (विश्व०) ।

समासादिः—मधुद्विषः—मधुं द्वेष्टि इति मधुद्विट् तस्य मधुद्विषः । अखिललोक-कान्ताः = अखिलश्च असौ लोकश्च अखिललोकः तस्य कान्ता । अनन्यकान्ता = अन्यस्यकान्ता अन्यकान्ता अन्यकान्ता न भवति इति अनन्यकान्ता ।

व्याकरणम्—अशेषे—अशेष + ङि = अशेषे । मधुद्विषः—मधु + द्विष् क्विप् + ङस् ।

संस्कृतभावः—सजीभूतस्य कृष्णस्य अपरैव शोभा अभवत् । इदं युक्तं हि सा शोभा लक्ष्मीः अस्य समस्ते शरीरे आसीत् यतः सा सम्पूर्णभुवनप्रिया आसीत् ।

[विविधभूषणभूषितवर्णन]

हिन्दी—उस समय अनेक अलंकारों से अलंकृत भगवान् कृष्ण की शोभा (लक्ष्मी) अन्य-सी दीखने लगी । यह योग्य ही था क्योंकि सम्पूर्ण भुवनों की कान्ता लक्ष्मीजी तो उनके हृदय में विराजती थीं वे लक्ष्मीजी केवल कृष्णजी की ही कान्ता थीं । इसके अतिरिक्त उन कृष्ण के शरीर में व्याप्त होनेवाली शोभारूपा जो लक्ष्मी थीं वह सम्पूर्ण लोकों की कान्ता थी । [यहाँ कवि ने रमा तथा शोभा का अभेद सम्बन्ध बताया है] ।

इतरा तु अनन्यभार्या आसीत् अतः अस्य चित्ते एव स्थिता आसीत् । अथेनमे-वार्थं भङ्ग्यन्तरेणाह—

कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य ।
आनन्दिताशेषजना बभूव सर्वाङ्गसङ्गिन्यपरैव लक्ष्मीः ।। १२ ।।

अन्वयः—कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य तस्य आनन्दिता-शेषजना सर्वाङ्गसङ्गिनी लक्ष्मीः अपर एव बभूव ।

सुधा—कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य = अररप्रसृतसुन्दरवक्षःस्थलस्थितलक्ष्मीकान्तस्य। तस्य = हरेः। आनन्दिताशेषजना = हर्षितसमस्तलोका। सर्वाङ्गसङ्गिनी = समस्त देहव्यापिका। लक्ष्मीः = कान्तिः, रमा च। अपरा = अन्या एव। बभूव = अभवत्॥

(विशेषः—अत्र अलङ्कारः अतिशयोक्तिः। प्रसादो गुणश्च।)

कोशः—'कपाटमररं तुल्ये'। 'उरो वत्सं च वक्षश्च'। 'कान्तं मनोरमम्' (अमर०)।

समासादिः—कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलस्थितश्रीललनस्य—कपाट इव विस्तीर्णम् (उपमित समा०) कपाटविस्तीर्णं च मनोरमं च उरःस्थलं च इति कपाटविस्तीर्णमनोरमोरःस्थलम् तस्मिन् स्थिता श्रीः ललना यस्य सः तस्य।

व्याकरणम्—लक्ष्मीः—लक्ष्मी + सु = लक्ष्मीः। (अवी तन्त्री तरी लक्ष्मी धी श्री ह्रीणां उदाहृतः। सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां न सु लोपो कदाचन)। बभूव—भू + लिट्—तिप्—णल् (अ) वुक्।

संस्कृतभावः—कपाटवत् प्रसृतवक्षःस्थलस्थितलक्ष्मीकान्तस्य हरेः हर्षितसमस्तलोका समस्तदेहव्यापिनी लक्ष्मीः अन्या एव बभूव।

[विविधभूषणभूषितभगवान् का अन्यरीति से वर्णन]।

हिन्दी—कपाट (किवाड़े) के सदृश प्रसृत तथा मनोरम वक्षःस्थल पर विद्यमान श्रीरूप सहधर्मिणीवाले भगवान् कृष्ण की समस्तजनों को हर्षित करनेवाली सकल देह में व्याप्त लक्ष्मी—शोभा अथवा भार्या—अन्य लक्ष्मी ही ज्ञात हुई।

अथ तरुण्य एनं परिवव्रुरित्याह—

प्राणच्छिदां दैत्यपतेर्नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेन।
प्रकाशकार्कश्यगुणौ दधानाः स्तनौ तरुण्यः परिवव्रुरेनम्॥ १४॥

अन्वयः—भूषणताम् उपेयुषां दैत्यपतेः प्राणच्छिदां नखानां क्षतेन प्रकाशकार्कश्यगुणौ स्तनौ दधानाः तरुण्यः एनं परिवव्रुः।

सुधा—भूषणतां = आभरणताम्। उपेयुषां = आप्तवताम्। दैत्यपतेः = हिरण्यकशिपोः। प्राणच्छिदां = प्राणापहारिणाम्। नखानां = नखराणाम्। क्षतेन = व्रणेन। प्रकाशकार्कश्यगुणौ = व्यक्तकार्कश्यगुणौ। स्तनौ = कुचौ। दधानाः = धारयन्त्यः। तरुण्यः = युवतयः, रमण्यः। एनं = हरिम्। परिवव्रुः = वेष्टयामासुः, पर्यवारयन्।

(विशेषः—अत्र जातौ एक वचने प्राप्ते जातिभूयःसु स्तनादिषु जातेः द्वित्वविशिष्टत्वात् 'स्तनौ' द्विवचनम् । वामनः कथयति स्तनादीनां द्वित्वविशिष्टा जातिः । अत्र हरिनखराणां नरहरिनखरभेदेऽपि अभेदोक्त्या । स्तनयोः च तादृक्काठिन्यासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तिः—अतिशयोक्तिः तयोः च अत्र अङ्गाङ्गिभावेन वर्त्तमानत्वात् अङ्गाङ्गिभाववशात् 'सङ्करः' । अस्मिन् श्लोके पूर्वार्द्धे क्वचित् स्थले निम्न-पाठः अस्ति—"दैत्याधिपप्राणमुषां नखानामुपेयुषां भूषणतां क्षतेन, इति । अत्र-'क्षतेन' भूषणतामुपेयुषा इति अस्य विशेषणम्—अन्यत् सर्वं सुकरम् अस्ति ।)

कोशः—'स्तनौ कुचौ' । 'तरुणी युवतिः समे' । (अमर०) ।

समासादिः—दैत्यपतेः—दैत्यानां पतिः दैत्यपतिः तस्य । प्राणच्छिदाम्—प्राणान् छिनत्ति इति प्राणच्छिद ते प्राणच्छिदः तेषाम् । प्रकाशकार्कश्यगुणौ—प्रकाशः कार्कश्यगुणः ययोः तौ प्रकाशकार्कश्यगुणौ ।

व्या०—तरुणी–अत्र तरुणशब्दात् 'वयसि प्रथमे' सूत्रेण ङीप्, तरुण + ङीप् = तरुणी (तरुणस्य भावः तारुण्यम्) प्राणच्छिदाम्—अत्र प्राण + छिद् 'सत्सूद्विष० इति सूत्रेण 'क्विप्' कृते सति = प्राणच्छिद ।

संस्कृतभावः—मण्डनतां प्राप्तवतां हिरण्यकशिपोः प्राणमुषां [कृष्णनखाः वज्रादपि कठोराः] नखानां व्रणेन व्यक्तकाठिन्यगुणौ कुचौ धारयन्त्यः युवतयः हरिं पर्यवारयन् ।

[सहचरों के साथ प्रस्थान का वर्णन]—

हिन्दी—यात्रा के समय, दैत्यपतिहिरण्यकशिपु के प्राणों के हरण करनेवाले नाखूनों के व्रणों से स्पष्टतया कठोरता को व्यक्त करनेवाले कुचद्वयों को धारण करनेवाली रमणियों ने आकर उन भगवान् कृष्ण को चारों ओर से घेर लिया—गोपियाँ चारों तरफ फैल गयीं । उन्हें द्वारका से कृष्णगमन बुरा लग रहा था ।

अथ तरुणीनां मध्यं वर्णयति—

आकर्षतेवोर्ध्वमतिक्रशीयानत्युन्नतत्वात्कुचमण्डलेन ।
ननाम मध्योऽतिगुरुत्वभाजा नितान्तमाक्रान्त इवाङ्गनानाम् ॥ १५ ॥

अन्वयः—अत्युन्नतत्वात् ऊर्ध्वम् आकर्षता इव अतिगुरुत्वभाजा कुचमण्डलेन नितान्तम् आक्रान्त इव अतिक्रशीयान् अङ्गनानां मध्यः ननाम ।

सुधा—अत्युन्नतत्वात् = अत्युच्चविशालत्वात् । ऊर्ध्वम् = ऊर्ध्वदेशम् । आक-

र्षता इव = उत्प्लावयता इव । अतिगुरुत्वभाजा = अतिस्थूलत्वभाजा । कुचमण्डलेन = स्तनमण्डलेन । नितान्तम् = अत्यन्तम् । आक्रान्त इव = ताडित इव । अतिक्रशीयान् = अत्यन्तक्षीणतरः । अङ्गनानां = रमणीनाम् । मध्यः = कटिप्रदेशः, मध्यभागः । ननाम = नम्रीभूतः ।

विशेषः—अस्य श्लोकस्य पूर्वार्द्धे क्वचित् पुस्तके 'मपिक्रशीयानभ्युन्नतत्वात्' पाठः दृश्यते । 'तत्रापि इति निरोधे । शेषं सरलम् । अत्र उत्प्रेक्षयोः नैरपेक्ष्येण विद्यमानत्वात् संसृष्टिः अलङ्कारः । तथा मध्यस्तनमण्डलयोः विशेषणसाम्यात् शत्रुविजिगीषु राजप्रतीतेः समासोक्तिः सा च प्रधानीभूता उत्प्रेक्षे च तत्पोषकत्वात् अप्रधाने इति । अत एव अनयोः अङ्गाङ्गिभावेन अत्र सङ्करः ।

कोशः—"चक्रवालं तु मण्डलम् । (अमर०)

समासादिः—अतिगुरुत्वभाजा—अतिगुरुत्वं भजति इति अतिगुरुत्वभाक् तेन । कुचमण्डलेन = कुचानां मण्डलं तेन ।

व्याकरणम्—अतिगुरुत्वभाजा—अतिगुरुत्व + भज + ण्विः अत्र 'भजो ण्विः सूत्रेण ण्विः तेन ।

संस्कृतभावः—अत्युच्चविशालत्वात् ऊर्ध्वंप्रदेशं उत्प्लावयता इव अङ्गनानां स्तनमण्डलेन अत्यन्तं ताडितः इव अति कृशतरः रमणीनां कटिप्रदेशः नतः ।

[गोपियों के कुच एवं कटिप्रदेश का वर्णन]

हिन्दी—उस समय वहाँ पर स्थित रमणियों का वर्णन है—अति उन्नत होने के कारण, ऊपर की ओर खींचता हुआ-सा, उन रमणियों का कुचमण्डल था साथ ही वह कुचमण्डल इतना स्थूल था कि उन कुचमण्डलों से रमणियों का कटि का भाग जो अति कृश था नत (नम्र) हो गया था । [अर्थात्—रमणियों के कुच विशाल थे तथा कमर पतली थी] ।

अथ श्रीकृष्णस्याङ्गनानां च परस्परं प्रेक्षणादिकमाह—

यां यां प्रियः प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव ।
निशङ्कमन्याः सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षैः ॥ १६ ॥

अन्वयः—प्रियः यां यां प्रैक्षत सा सा कातराक्षी ह्रिया नम्रमुखी बभूव अन्याः आहितेर्ष्याः तत्रान्तरे कटाक्षैः समं अमुं निःशङ्कं जघ्नुः ।

सुधा—प्रियः = हरिः, कृष्णः । यां यां = गोपीम् । (वीप्सायां अत्र

द्विरुक्तिः)। प्रैक्षत = अपश्यत्, अद्राक्षीत् । सा सा कातराक्षी = पूर्वोक्ता चपलनेत्री गोपी । ह्रिया = त्रपया, लज्जया । नम्रमुखी = नतानना, अधोमुखी । बभूव = अभवत् । अन्याः = अपराः (अदृष्टाङ्गनाः)। आहितेर्ष्याः = कृताक्षमाः, तत्रान्तरे= तस्मिन् काले । कटाक्षैः = अपाङ्गनेत्रैः । समं = युगपद् । अमुं = हरिम् । निःशङ्कं= निर्भयम् । जघ्नुः = ताडयामासुः ।

[विशेषः—अत्र कविः कथयति—स्नेहस्य अयं एव स्वभावः यत् प्रियविलोकनेन अवनतमुखत्वं भवति । अनेन कार्येण लज्जासाध्वसभावोदयः प्रकटितः । कातराक्षी इत्यस्य स्थाने कातराक्षीं पाठान्तरे चञ्चलनेत्रीम् इति अर्थः । आहितेर्ष्याः अत्र क्वचित् आहितेर्ष्यैः अस्ति अतः तत्र पर्यायः मत्सरसहितैः कटाक्षैः ज्ञेयः । यत्र प्रियः इति स्थाने प्रियाम् अस्ति तत्र पर्यायः गोपीम् भवति ।

कोशः—'धवः प्रियः पतिः भर्ता' । 'कटाक्षोपाङ्गदर्शने' (अमर०)। 'क्लीबेन्तरे चावकाशे (वैजयन्ती)।

समासादिः—कातराक्षी—कातरं अक्षि यस्या सा । आहितेर्ष्याः—आहिता ईर्ष्या याभिः ताः ।

व्या०—'याम् याम्' तथा 'सा सा' अत्र 'नित्यवीप्सयोः' सूत्रेण द्विरुक्तिः अस्ति ।

सं० भा०—श्रीकृष्णः यां यां गोपीं अद्राक्षीत् सा सा चञ्चलनयना गोपी लज्जया अधोमुखी अभवत् । अपराः कृताक्षमाः तस्मिन् समये कटाक्षैः युगपत् अमुं हरिं निर्भयं पीडयामासुः ॥

[श्रीकृष्ण के अवलोकन पर—अंगनाओं के कटाक्षों का वर्णन]

हिन्दी—उस यात्रा काल के समय श्रीकृष्णजी ने जिस-जिस गोपी को देखा वह लज्जित होकर नम्रमुखी हो गयी । श्रीकृष्ण के द्वारा जिन अंगनाओं का अवलोकन नहीं किया गया उन अङ्गनाओं ने, ईर्ष्यावश, उन श्रीकृष्ण पर कटाक्ष बाण एक साथ छोड़े—अर्थात् अपने कटाक्षों से एक साथ उन्हें ताड़ित किया ।

अथ श्रीकृष्णस्य पञ्चभिः श्लोकैः दिव्यास्त्रसन्निधानं वर्णयन्नादौ चक्रधारणमाह—

तस्यातसीसूनसमानभासो भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन ।
चक्रेण रेजे यमुनाजलौघः स्फुरन्महावर्त इवैकबाहुः ॥ १७ ॥

अन्वयः—अतसीसूनसमानभासः तस्य एकबाहुः भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन चक्रेण स्फुरन्महावर्त्तः यमुनाजलौघः इव रेजे ।

सुधा—अतसीसूनसमानभासः = क्षुमापुष्पतुल्यकान्तेः । तस्य = हरेः । एकबाहुः = एकभुजः । भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन = आवर्त्तमानरश्मिसमूहचक्रवालेन । चक्रेण = सुदर्शनचक्रेण । स्फुटन्महावर्त्तः = प्रचलन्महाभ्रमः । यमुनाजलौघः इव = यमुना (कालिन्दी) जलपूरः इव । रेजे = शुशुभे ।

[विशेषः —अत्र उपमालङ्कारः । हरिः सुदर्शनचक्रं धारितवान्]

कोशः—'अतसी स्यादुमाक्षमा ।' 'भुजबाहूप्रवेष्टोदोः' । 'चक्रवालं तु मण्डलम्' । 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः' । 'स्यादावर्त्तोऽम्भसांभ्रमः' । (अमर०) । 'सूनं प्रसव पुष्पयोः' । (मेदिनी०) ।

समासादिः—अतसीसूनसमानभासः—अतस्याः सूनं इति अतसीसूनम् अतसीसूनेन समाना भाः यस्य सः, तस्य । एकबाहुः—एकश्च असौ बाहुश्च । भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलेन—मयूखानां आवलयः मयूखावलयः तासां मण्डलम् मयूखावलिमण्डलम् भ्राम्यच्चासौ मयूखावलिमण्डलम् भ्राम्यन्मयूखावलिमण्डलम् तेन । स्फुरन्महावर्त्तः—महांश्च असौ आवर्त्तश्च महावर्त्तः (क० धा०), स्फुरन्महावर्त्तो यस्य सः । यमुनाजलौघः—यमुनायाः जलौघः ।

व्या०—स्फुरन्—(स्फुर दीप्तौ)—स्फुर + शतृ = स्फुरन् । भ्राम्यन्—भ्रमु + शतृ + श्यन् , अत्र 'शमामष्टानां दीर्घः श्यनि' इति सूत्रेण दीर्घः भवति । रेजे—राजृ दीप्तौ अत्र राज् + लिट्—त—एश्, अत्र 'फणां च सप्तानाम्' इति सूत्रेण विकल्पेन एत्वे अभ्यासलोपे कृते च ।

सं० भा०—क्षमापुष्पतुल्यकान्तेः हरेः एकबाहुः आवर्त्तमानरश्मिसमूहजलपूरेण सुदर्शनेन चलन्महाभ्रमः यमुनाजलपूरः इव रराज ।

[पाँच श्लोकों में दिव्यास्त्रों का वर्णन]—

(सुदर्शन चक्र वर्णन)—

हिन्दी—तीसी (अलसी) के पुष्प के सदृश छविधारी उन श्रीकृष्ण की एक बाहु, चमकती हुई किरणों के मंडल से युक्त घूमते हुए सुदर्शन चक्र के कारण महाभ्रमर वाले यमुना नदी के जलप्रवाह के सदृश शोभायमान दीख रही थी ।

विशेष—श्रीकृष्ण श्याम थे यमुनाजल भी नीला (श्याम) है अतः यहाँ दोनों समान वर्ण के थे । श्रीकृष्ण के हाथ में सुदर्शनचक्र चमकती किरणों से युक्त घूम

रहा था। यमुना का जल गोलाकार लहरों से भ्रमरायमान जल के भ्रमरों से व्याप्त हो रहा था—बड़े बड़े भ्रमरों से भ्रमित हो रहा था]।

अथास्य गदासन्निधानमाह—

विरोधिनां विग्रहभेददक्षा मूर्तेव शक्तिः क्वचिदस्खलन्ती।
नित्यं हरेः सन्निहिता निकामं कौमोदकी मोदयति स्म चेतः॥ १८॥

अण्वयः—विरोधिनां विग्रहभेददक्षा क्वचित् अस्खलन्ती नित्यं सन्निहिता मूर्त्ता शक्तिः इव कौमोदकी हरेः चेतः निकामं मोदयति स्म।

सुधा—विरोधिनां = रिपूणाम्। विग्रहभेददक्षा = देहविदारणनिपुणा। क्वचित् = क्वापि। अस्खलन्ती = अप्रतिहता। नित्यं = सदा। सन्निहिता = सन्निकटा। मूर्त्ता = शरीरधारिणी। शक्तिः इव = सामर्थ्यमिव। कौमोदकी = गदा (श्रीकृष्णस्य अस्त्रविशेषः) हरेः = कृष्णस्य। चेतः = चित्तम्। निकामं = भृशम्। मोदयतिस्म = आनन्दयतिस्म।

[विशेषः—श्रीकृष्णः गदां धारितवान्।]

कोशः—'शरीरं वर्ष्म विग्रहः'। 'भेदोपजापावुपधा'। चित्तं तु चेतो'। 'कासू सामर्थ्ययोः शक्तिः'। (अमर०)।

समासादिः—विग्रहभेददक्षा—विग्रहस्य भेदः विग्रहभेदः तस्मिन् दक्षा। अस्खलन्ती—न स्खलन्ती। कौमोदकी [कु = पृथ्वी तत्र निजावतारेण यः ईश्वरः जनान् आनन्दयति तस्य नाम कुमोदकः तस्य इयं गदा अस्ति अत एव कौमोदकी]।

व्या०—मोदयतिस्म—अत्र 'लट् स्मे' सूत्रेण स्म।

सं० भा०—रिपूणां देहभेदनिपुणः सर्वत्र अप्रतिहता सदा निकटवर्त्तिनी देहधारिणी शक्तिरिव गदा कृष्णचित्तं अत्यन्तं आनन्दयतिस्म।

[गदा का वर्णन]

हिन्दी—भगवान् कृष्ण की गदा सदा रिपुओं के शरीर को नष्ट करनेवाली शक्ति रखती थी। वह गदा कभी भी असफल नहीं होती थी। सदा कृष्णजी के समीप ही रहती थी। अतः वह मूर्त्तिमान् सामर्थ्य के सदृश सर्वदा उनके (हरिके) चित्त को आनन्दित करती थी।

[विशेष—कौमोदकी नामक गदा अपने कार्यों से भगवान् कृष्ण को उसी प्रकार प्रसन्न रखती थी जैसे—कोई शक्तिशाली अनुचर (अपने स्वामी के

शत्रुओं के हनन करने में प्रवीण) सदा स्वस्वामी के समीप रहकर स्वामी को पुलकित करता है वैसे ही यह गदा पुलकित करती थी]।

अथास्य नन्दकखड्गसन्निधानमाह—

न केवलं यः स्वतया मुरारेरनन्यसाधारणतां दधानः ।
अत्यर्थमुद्वेजयिता परेषां नाम्नाऽपि सत्येव न नन्दकोऽभूत् ॥ १९ ॥

अन्वयः—अनन्यसाधारणतां दधानः यः केवलं स्वतया मुरारेः नन्दकः न परेषां अत्यर्थं उद्वेजयिता नाम्ना अपि सः तस्य एव अभूत् ।

सुधा—अनन्यसाधारणतां = अनन्याधीनताम् । दधानः = विभ्राणः । यः = नन्दकः खड्गः । केवलं = मात्रम् । स्वतया = स्वत्वेन । मुरारेः = हरेः (मुरासुरशत्रोः) नन्दकः = आनन्दकारकः । न = न । परेषां = रिपूणाम् । अत्यर्थं = अत्यन्तम् । उद्वेजयिता = क्लेशदाता । नाम्ना अपि = संज्ञया अपि । सः = नन्दकः । तस्य एव = हरेः एव । अभूत् = आसीत् ।

[विशेषः—अनन्यसाधारणत्वपरोद्वेजकत्वपदार्थसहिताभ्यां विशेषणगतिरूपया तदीयतामण्डनात् पदार्थहेतुनामकं काव्यलिङ्गमलङ्कारः अस्ति ।]

कोशः—'कौमोदकी गदा खड्गो नन्दकः कौस्तुभोमणिः' । 'निर्णीते केवलमिति त्रिलिङ्गं त्वेककृत्स्नयोः' । (अमर०) ।

समासादिः—अनन्यसाधारणताम्—अन्यस्य साधारणः तस्य भावः ताम् ।

व्या०—केवलम्—अव्ययपदम् । उद्वेजयिता—उत्पूर्वात् 'ओविजी भयसञ्चालनयोः' इति विज् धातोः तृच् प्रत्ययपरकरूपम् अस्ति ।

सं० भा०—अनन्याधीनतां विभ्राणः नन्दकः केवलं स्वत्वेन हरेः आनन्दकारकः न अभूत् । रिपूणां क्लेशदाता संज्ञया अपि सः हरेः (अनुचरः) आसीत् ।

(नन्दक खड्ग वर्णन)—

हिन्दी—अनन्याधीनता को रखनेवाला नन्दक केवल स्वजन होने से ही श्रीकृष्णजी को आनन्दायक न था अपितु—रिपुओं को अत्यन्त पीडित करनेवाला वह नाम से भी श्रीकृष्णजी को आनन्द देनेवाला था ।

[विशेषः—नन्दक खड्ग नाम से तथा कार्य से भी स्वामी का हितेच्छु था]।

अथास्य शार्ङ्गसन्निधानमाह—

न नीतमन्येन नतिं कदाचित् कर्णान्तिकप्राप्तगुणं क्रियासु ।
विधेयमस्याभवदन्तिकस्थं शार्ङ्गं धनुर्मित्रमिव द्रढीयः ॥ २० ॥

अन्वयः—अन्येन कदाचित् नतिं न नीतं क्रियासु कर्णान्तिकप्राप्तगुणं विधेयं द्रढीयः शार्ङ्गं धनुः मित्रमिव अस्य अन्तिकस्थं अभवत् ।

सुधा—अन्येन = अपरेण (न तु कृष्णेन) । पक्षे सुहृदरिपुणा द्वितीयनरेण । नतिं = कर्षणम् [पक्षे कपटभेदेन निजानुकूल्यम् । न = न । नीतं = प्रापितम् । क्रियासु = रणकर्मसु । पक्षे—हिताहितकार्येषु । कर्णान्तिकप्राप्तगुणं = श्रोत्रान्तिकप्राप्तमौर्वीकम् । पक्षे—श्रोत्रान्तदेशप्राप्तौदार्यावैरादिकम् । विधेयं = कर्मसु वश्यम् । पक्षे आदेशकरम् । द्रढीयः = दृढतरम्—अखण्डितम् । पक्षे—बलयुक्तम्—स्खलनरहितम् । अस्य = हरेः । शार्ङ्गं = शार्ङ्गं नाम । धनुः = चापः । मित्रमिव = सखा इव । अन्तिकस्थं = सन्निहितम् । अभवत् = अभूत् ।

[विशेषः—यथा सुहृद् निजमित्रस्य सन्निहितं भवति तथैव अस्य सन्निहितं तत् अभूत् । अत्र पूर्णोपमालङ्कारः] ।

कोशः—'शौर्यसन्ध्यादिके गुणः' । 'धनुश्चापौ' । 'अथ मित्रं सखा सुहृद्' 'कर्णशब्दग्रहः श्रोत्रम्' । (अमर०) ।

समासादिः—कर्णान्तिकप्राप्तगुणम्—कर्णस्य अन्तिकः कर्णान्तिकः । कर्णान्तिकं प्राप्तः गुणः यस्य तत् । शार्ङ्गम्—शृङ्गस्य विकारः । अन्तिकस्थम्—अन्तिके तिष्ठति तम् ।

व्या०—कदाचित्—कदा (अव्ययपदम्) चित् (प्रत्ययः) । द्रढीयः—दृढ + ईयसुन् 'रः ऋतो हलादेर्लघोः' इति नियमेन ऋकारस्य रेफादेशः भवति ।

सं० भा०—अपरजनेन कर्षणम् न प्रापितम् रणकर्मसु श्रोत्रान्तिकप्राप्तमौर्वीकं आज्ञापालकं दृढतरं शार्ङ्गं धनुः श्रीकृष्णस्य सन्निहितं मित्रमिव अभवत् ।

विशेषः—मित्रपक्षे—पुरुषान्तरेण भेदेन स्वानुकूल्यं न प्रापितं कर्णगोचरप्राप्तगुणं अविचलं शार्ङ्गधनुः मित्रमिव यथा मित्रं अन्यवशी न भवति तथैव] ।

हिन्दी—श्रीकृष्णजी के समीप दृढ़ शार्ङ्गधनुष आया । उसे अन्य कोई झुका नहीं सकता था । संग्राम में जिसकी डोरी कानतक खींची जाती थीं । जो अत्यन्त-वशीभूत था । जिसे कोई अपने वशीभूत नहीं कर सकता था । जो सदा सत्परामर्श

देनेवाला था। जो अपने कार्यों में अपने ही अधीन रहता था। वह शार्ङ्ग धनुष मित्र के समान भगवान् कृष्ण के समीप आकर उपस्थित हो गया।

अथास्य पाञ्चजन्यसन्निधानमाह—

प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः।
मन्दानिलापूरकृतं दधानो निध्वानमश्रूयत पाञ्चजन्यः॥ २१॥

अन्वयः—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः मन्दानिलापूरकृतं निध्वानं दधानः पाञ्चजन्यः अश्रूयत।

सुधा—प्रवृद्धमन्दाम्बुदधीरनादः = अतिगम्भीरजलदधीरघोषः। कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः = श्रीकृष्णसागरनिकटव्रजेकराजहंसः। मन्दानिलापूरकृतं = स्वल्पपवनधमनजनितम्। निध्वानं = शब्दम्। दधानः = बिभ्राणः। पाञ्चजन्यः = कृष्णशङ्खः। अश्रूयत = श्रूयते स्म।

[विशेषः—पाञ्चजन्यः अश्रूयत—अत्र उपचारेण पाञ्चजन्योत्पन्नशब्दाकर्णनाद स पाञ्चजन्य एव अश्रूयत इति कथितम्। क्वचित् स्थले—'प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः इति स्थले 'प्रवृद्धमन्द्राम्बुदनादधीरम्' पाठान्तरं अस्ति तस्मिन् स्थले इदं पदं निध्वानं इत्यस्य विशेषणम् अस्ति। तत्रार्थः 'अतिमधुरजलदध्वनिगम्भीरम्' अस्ति। 'प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः' अत्र पूर्णोपमालङ्कारः तथा 'कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः' इति स्थले 'श्लिष्टपरम्परितरूपकम् अस्ति।

कोशः—'नादनिस्वान निस्वनाः।' 'उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णं।' 'शङ्खोलक्ष्मीपतेः पाञ्चजन्यश्चक्रं सुदर्शनम्'। (अमर०)।

समासादि—प्रवृद्धमन्द्राम्बुदधीरनादः—अम्बुदस्य इव धीरः (मनोहरः) अम्बुदधीरः। मन्द्रश्च असौ अम्बुदधीरश्च असौ नादश्च मन्द्राम्बुदधीरनादः स प्रवृद्धः येन सः। कृष्णार्णवाभ्यर्णचरैकहंसः—कृष्ण एव अर्णवः कृष्णार्णवः कृष्णार्णवस्य अभ्यर्णः कृष्णार्णवाभ्यर्णः (ष० त०) कृष्णार्णवाभ्यर्णे चरति इति कृष्णार्णवाभ्यर्णचरः स च असौ एकहंसश्च। मन्दानिलापूरकृतम्—मन्दश्च असौ अनिलश्च—मन्दानिलः तस्य आपूरः मन्दानिलापूरः तेन कृतम्।

व्या०—अम्बुदः अम्बु + दा। अभ्यर्णः—अभि + अर्द + क्तः अत्र "अभेश्चाविदूर्ये" इति सूत्रेण इड् भावः। 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रेण नत्वम् भवति। पाञ्चजन्यः—पञ्चजने भवः अत्र 'बहिर्देवपञ्चजनेभ्यश्च वक्तव्यम्' इति

नियमेन 'ञ्य' प्रत्ययः भवति । [विशेषः—पञ्चजनो नाम कश्चित् असुरः आसीत् तत्र भवः पाञ्चजन्यः] ।

सं० भा०—अति गम्भीरमेघतुल्यमनोहरघोषः कृष्णसमुद्रनिकटराजहंस; स्वल्प-पवनधमनजनितशब्दं बिभ्राणः पाञ्चजन्यशङ्खः श्रूयते स्म ।

पाञ्चजन्यशङ्खवर्णन—

हिन्दी—वहाँ अति गम्भीर मेघ के सदृश मधुर ध्वनिवाले, कृष्णरूपी सागर के निकटस्थित राजहंस स्वरूप, मन्द-मन्द पवन के प्रविष्ट होने से शब्द उत्पन्न करनेवाले पाञ्चजन्य नामक (श्रीकृष्णजी के) शंख की ध्वनि सुनायी दी ।

अथ रथारूढस्य कृष्णस्य शोभामाह—

रराज सम्पादकमिष्टसिद्धेः सर्वासु दिक्ष्वप्रतिषिद्धमार्गम् ।
महारथः पुष्यरथं रथाङ्गी क्षिप्रं क्षपानाथ इवाधिरुढः ॥ २२ ॥

अन्वयः—महारथः रथाङ्गी इष्टसिद्धेः सम्पादकं सर्वासु दिक्षु अप्रतिषिद्धमार्गं क्षिप्रं पुष्परथं अधिरूढः क्षपानाथ इव रराज ।

सुधा—महारथः = युद्धनिपुणः, योधा । रथाङ्गी = हरिः । इष्टसिद्धेः = मनोरथनिष्पत्तेः । सम्पादकं = साधनम् । सर्वासु = निखिलासु । दिक्षु = काष्ठासु । अप्रतिषिद्धमार्गं = अनिषिद्धगमनम् । क्षिप्रं = त्वरितगामिनम् । पुष्यरथम् = क्रीडा-रथम् । अधिरूढः—समारूढः । क्षपानाथः, इव = चन्द्रमाः तुल्यः । रराज = शुशुभे ।

[विशेषः—महारथः—आत्मानं सारथिं चाश्वान् रक्षन् युध्येत यो नरः । स महारथसंज्ञः स्यादित्याहुर्नीतिकोविदाः ॥]

पुष्यचन्द्रयोगे आरब्धं कार्यं सफलं भवति । यथा—"पुष्यो हस्तो मैत्रमप्याश्विनं चत्वार्याहुः सर्वदिग्द्वारकाणि ।" "पुष्यरथम्—पुष्यनक्षत्रयुक्तं वा क्रीडारथम् ।" अत्र उपमालङ्कारः । क्षिप्रं चाश्विदिनेश पुष्यम्—इति शास्त्र वचनम् ।

कोशः—असौ पुष्यरथश्चक्रयानं न समराय यत् । (अमर०) ।

समासादिः—महारथः—महान् रथो यस्य सः । रथाङ्गी—रथाङ्गं अस्य अस्तीति । इष्टसिद्धेः—इष्टस्य सिद्धिः इष्टसिद्धिः तस्याः । अप्रतिषिद्धमार्गम्—न प्रतिषिद्धः अप्रतिषिद्धः (नञ् त० पु०) अप्रतिषिद्धः मार्गः यस्य सः, तम् । अथवा अप्रतिषिद्धः मार्गः येन सः तम् । पुष्यरथम्—पुष्यः इव रथः तम् । अथवा पुष्यः रथः, इव । क्षपानाथः—क्षपाणां नाथः ।

व्या०—इष्टसिद्धेः—इष्टसिद्धि + ङस् । रराज—राज् 'दीप्तौ' अत्र लिट्—तिप्–णल् ।

हिन्दी—सुदर्शन चक्रधारी महारथी श्रीकृष्ण इच्छानुसार गमनशील तथा सभी दिशाओंमें अप्रतिहत गति वाले शीघ्रगामी पुष्य रथ पर आरूढ़ हुए । उस समय वे ऐसे शोभित हुए जैसे—सर्वमनोरथसिद्धिप्रद तथा सर्व दिशाओंकी यात्रा में प्रशस्त क्षिप्रनक्षत्र पर स्थित चन्द्र शोभित होता है ।

अथास्य गरुडसन्निधानमाह—

ध्वजाग्रधामा ददृशेऽथ शौरेः संक्रान्तमूर्तिर्मणिकुट्टिमेषु ।
फणावतस्त्रासयितुं रसायास्तलं विविक्षन्निव पन्नगारिः ॥ २३ ॥

अन्वयः—अथ शौरेः ध्वजाग्रधामा मणिकुट्टिमेषु संक्रान्तमूर्त्तिः पन्नगारिः फणावतः त्रासयितुं रसायाः तलं विविक्षन् इव ददृशे ।

सुधा—अथ = स्यन्दनरूढानन्तरम् । शौरेः = हरेः । ध्वजाग्रधामा=केतुस्थितः, पताकास्थितः । मणिकुट्टिमेषु = रत्नजटितभूस्थलीषु संक्रान्तमूर्तिः = प्रतिबिम्बित-शरीरः । पन्नगारिः = गरुडः । फणावतः = नागान्–सर्पान् । त्रासयितुं = भीषयि-तुम् । रसायाः = भूमेः । तलं = निम्नप्रदेशं, पातालम् । विविक्षन् इव = प्रवेष्टुमिच्छन् इव । ददृशे = दृष्टः ।

[विशेषः—गरुडः अपि हरेः सन्निहितः अभूत । अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः । यत्र स्थले उत्तरार्धे "रसातलान्नागकुलानि जित्वात्यर्थं प्रयास्यन्निवपन्नागारिः ।" अस्ति तत्र उपर्युक्तार्थस्य आवश्यकता नास्ति । अपितु अस्या एव अर्द्धाल्या सरलं अर्थं कुरु ।

कोशः—'देवकीनन्दनः शौरिः' । 'गरुत्मान् गरुडस्तार्क्ष्यो वैनतेयः खगेश्वरः । नागान्तको विष्णुरथः सुपर्णः पन्नगाशनः ।' 'पताका वैजयन्ती स्यात् केतनं ध्वजम-स्त्रियाम् ।' (अमर०) ।

समासादिः—ध्वजाग्रधामा—ध्वजस्य अग्रम् ध्वजाग्रम् ध्वजाग्रं धाम यस्य सः । मणिकुट्टिमेषु—मणीनां कुट्टिमाः तेषु । पन्नगारिः—पन्नगानां अरिः ।

व्या०—ध्वजाग्रधामा—ध्वजाग्रधामन् + सु । विविक्षन्—विश् + सन् + लट् शतृ । ददृशे—दृश्—कर्मणि लिट् + त + एश् ।

सं० भा०—रथारोहणानन्तरं हरेः केतुस्थितः रत्नजटितभूमिषु प्रतिबिम्बित-शरीरः गरुडः सर्पान् भीषयितुं भूमितलं (पातालं) प्रवेष्टुमिच्छन् इव दृष्टः। (जनैः इति शेषः)।

हिन्दी—पूज्य श्रीकृष्ण के रथारोहण के पश्चात् सदा उनकी ध्वजा के अग्र भाग में स्थित रहने वाले गरुड़जी आकर उपस्थित हो गये—ध्वजा में स्थित हो गये। उस समय उन गरुड़जी की छाया रत्नजटित फर्शों वाली भूमि में पड़ी तब ऐसा ज्ञात होता था कि वे गरुड़जी सर्पों को भय दिखाने के लिये मानो पाताल में प्रविष्ट हो रहे हैं।

टिप्पणी—गणेश, महेश, विष्णु, देवी तथा अन्य देवी देवताओं के केतुओं में तत्तद्देववाहन मूसा, वृषभ, गरुड़, सिंह प्रभृति आज भी चित्रित रहते हैं।]

प्रस्थितस्य तस्य पटहप्रणादं वर्णयति—

यियासितस्तस्य महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः।
जलान्तराणीव महार्णवौघः शब्दान्तराण्यन्तरयाञ्चकार ॥ २४ ॥

अन्वयः—यियासितः तस्य महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान् पटहप्रणादः महार्णवौघः जलान्तराणि इव शब्दान्तराणि अन्तरयाञ्चकार।

सुधा०—यियासितः = (हरिप्रस्थं) यातुं इच्छतः। तस्य = हरेः। महीध्र-रन्ध्रभिदापटीयान् = शैलबिलविदारणपटुतरः। पटहप्रणादः = दुन्दुभि-(आनक-) शब्दः। महार्णवौघः = समुद्रप्रवाहः। जलान्तराणि, इव = अन्यानि अम्बूनि यथा। शब्दान्तराणि = अन्यान् शब्दान्। अन्तरयाञ्चकार = आच्छादयाञ्चकार—आच्छाद-यामास।

[विशेष—अत्र उपमालङ्कारः। अश्वगजरथानां ह्रेषणं, गर्जनं चीत्कारशब्दं च आच्छादयामास।

कोशः—'आनकः पटहो स्त्री'। 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये छिद्रात्मीयविनाबहिरवसरमध्येऽन्तरात्मनि।' (अमर०)।

समासादिः—महीध्ररन्ध्रभिदापटीयान्–महीध्राणां रन्ध्राणि तेषां भिदव तत्र पटीयान्, पटहप्रणादः—पटहस्य प्रणादः, महार्णवौघः—महान् चासौ अर्णवः (क० धा०) तस्य ओघः, जलान्तराणि—अन्यानि, जलानि शब्दान्तराणि—अन्यान् शब्दान् (सुप् सुपेति स०)।

व्या०—'भिदा' इत्यत्र षिद्भिदादिभ्योऽङ् सूत्रेण अङ् प्रत्ययः। अन्तर्धानार्थाद् अन्तरशब्दात् अत्र 'तत्करोति तदाचष्टे' इत्यादिना ण्यन्तात् लिट् भवति।

सं० भा०—इन्द्रप्रस्थं यातुं इच्छतः हरेः शैलबिलविदारणसमर्थः दुन्दुभिशब्दः समुद्रप्रवाहः अन्यानि जलानि इव अन्यान् शब्दान् आच्छादयामास।

हिन्दी—इन्द्रप्रस्थ जाने के लिये इच्छुक श्रीकृष्णजी के पर्वतोंकी गुफाओं को विदारण करने में समर्थ नगाड़े के शब्दों ने अन्य सभी शब्दों को इस प्रकार तिरस्कृत कर दिया जिस प्रकार सागर का जलप्रवाह अन्य जलों के शब्दों को तिरस्कृत कर देता है दबा देता है। श्रीकृष्ण के नगाड़े के शब्दों के समक्ष सब शब्द हीन थे।

अथ श्रीकृष्णस्य गमनं वर्णयति—

यतः स भर्ता जगतां जगाम धर्त्रा धरित्र्याः फणिना ततोऽधः।
महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे ॥ २५॥

अन्वयः—जगतां भर्त्ता सः यतः जगाम धरित्र्याः धर्त्रा फणिना ततः अधः महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं प्रसस्रे।

सुधा—जगतां = भुवनानाम्। भर्त्ता = स्वामी। सः = हरिः। यतः = यस्मिन् प्रदेशे। जगाम = गतवान्। धरित्र्याः = पृथिव्याः। धर्त्रा = धारयित्रा। फणिना शेषेण। ततः = तस्मिन् प्रदेशे। अधः = अधःप्रदेशे (पाताले)। महाभराभुग्नशिरःसहस्रसाहायकव्यग्रभुजं = महागौरवकुब्जीभूतफणासहस्रसाहाय्यव्याकुलबाहुम्। प्रसस्रे = प्रसृतम्। (हरिः हरिप्रस्थं चचाल)।

विशेष—अत्र विशिष्टप्रसरणात् असम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेः अतिशयोक्तिः अलङ्कारः।

कोशः—'धरा धरित्री धरणिः'। 'काकोदरः फणी'। (अमर०)।

समासादिः—महाभराभुग्नभुजसहस्रसाहायकव्यग्रभुजम्—महान् च असौ भरः महाभरः (क० धा०) महाभरेण आभुग्नं यत् शिरःसहस्रं (तृ० त०) तस्य साहायके व्यग्राः भुजाः यस्मिन् कर्मणि तत् यथास्तथा।

व्या०—साहायक—अत्र 'योपधाद् गुरूपोत्तमाद्' सूत्रेण 'वुञ्' प्रत्ययः भवति। प्रसस्रे—प्र + सृ + भावे लिट् त—एश् भवति।

सं०—भुवनस्वामी हरिः यस्मिन्प्रदेशे गतवान् पृथिवीधारकेन फणिना तस्मिन् प्रदेशे अधो भागे महागौरवकुब्जीभूतफणासहस्रसाहाय्यव्याकुलभुजं प्रसृतम्।

हिन्दी—भुवनधारक हरि जिस-जिस स्थल पर (आगे) चले। पृथ्वी-धारक शेषनागजी उस-उस स्थल में (पाताल में) विशाल भार से दबते हुए अपने सहस्रों शिरों के सहायतार्थं भुजाओं से उन शिरों को सहायता देते हुए व्यग्र हुए। [जैसे कोई व्यक्ति शिर पर रखे भारी बोझ को अपने बाहुओं से सहायता देता हुआ व्यग्र होता है। तद्वत् वे व्यग्र हुए।]

अथाऽस्य सैन्यानुगमनमाह—

अथोच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि।
क्रियाफलानीव सुनीतिभाजं सैन्यानि सोमान्वयमन्वयुस्तम् ॥ २६ ॥*

अन्वयः—अथ उच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि सैन्यानि सोमान्वयं तं सुनीतिभाजं क्रियाफलानि, इव अन्वययुः।

सुधा—अथ = प्रस्थानान्तरम्। उच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि = उन्नतबहिर्द्वारसंसर्गभयावनम्रीकृतपताकानि। सैन्यानि = सेनाः। सोमान्वयं = चन्द्रवंश्यम्। तं = हरिम्। सुनीतिभाजं = सम्यग् नीतिमन्तम्। क्रियाफलानि = कर्त्तव्यफलानि। इव = यथा। अन्वयुः = अनुजग्मुः।

विशेषः—अत्र उपमालंकारः। यथा—"सामादिप्रयोगकारकाः सुवर्णपृथ्वीमित्रादि लाभं कुर्वन्ति" तथैव "क्रियाफलानि इव"।

कोशः—'तोरणोऽस्त्री बहिर्द्वारम्'। 'वरूथिनी बलं सैन्यम्' (अमर०)।

समासादिः—उच्चकैस्तोरणसङ्गभङ्गभयावनम्रीकृतकेतनानि—उच्चकैः तोरणम् तेन सङ्गः तेन भंगः उच्चकैस्तोरणसंगभङ्गः तस्मात् भयं तेन अवनम्री कृतानि केतनानि यैः तानि। सुनीतिभाजम्—शोभना च असौ नीतिः च सुनीतिः (प्रादि० स०) सुनीतिं भजते इति सुनीतिभाक् तम्। सोमान्वयम्—सोमस्य अन्वयः, तम्।

व्या०—सुनीतिभाजम्—सुनीति + भज् + ण्विः इत्यत्र 'भजो ण्विः' सूत्रेण ण्विः। अन्वयुः—अनु + या + लङ्—झि इत्यत्र 'लङः शाकटायनस्यैव' सूत्रेण झेः जुस्।

सं०—प्रस्थानान्तरं उन्नतबहिर्द्वारसंसर्गभयावनमीकृतपताकानि सेनाः चन्द्रवंशोद्भवं हरिं सुनीतिमन्तं कर्त्तव्यफलानि इव अनुजग्मुः।

---

* २६ वें श्लोक की कुछ चीजें अन्यत्र दुर्लभ हैं। केवल इसी में है।

हिन्दी—ततः ऊँचे वाहरी (नगर के) फाटकों में टकरा कर टूट जाने के भय से झण्डों को झुकाते हुए सैनिकगण चन्द्रवंशी श्रीकृष्ण के पृष्ठभाग में (पीछे) इस रीति से चले, जिस रीति से नीतिज्ञ पुरुषों के पश्चात् कर्त्तव्यफल चलते हैं। [द्वारका नगरी के बहिर्द्वार-तोरण ऊँचे थे तथा झण्डे उन वाहरी फाटकों से भी ऊँचे थे अतः सैनिकगण झण्डों को झुकाकर फाटक के वाहर हुए]।

अथाऽस्य रथैः सुवर्णभूमिरेणुक्षोदनमाह—

श्यामारुणैर्वारणदानतोयैरालोडिताः काञ्चनभूपरागाः।
आनेमिमग्नैः शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतश्चुक्षुदिरे रथौघैः॥ २७॥

अन्वयः—श्यामारुणैः वारणदानतोयैः आलोडिताः शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः काञ्चनभूपरागाः आनेमिमग्नैः रथौघैः चुक्षुदिरे।

सुधा—श्यामारुणैः = कृष्णलोहितैः। वारणदानतोयैः = गजमदजलैः। आलोडिताः = मिश्रिताः, कर्दमत्वं प्रापिताः। शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः = नीलकण्ठबर्हचूर्ण कान्तयः। काञ्चनभूपरागाः = स्वर्णभूमिपांसवः। आनेमिमग्नैः = नेमिपर्यन्तत्रुडितैः। रथौघैः = स्यन्दनसमुदायैः। चुक्षुदिरे = पिष्टाः—क्षुणाः।

विशेषः—'शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः' अत्र उपमालङ्कारः अस्ति। भूपरागाणां विशेषपेषणसम्बन्धाभावेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेः 'अतिशयोक्तिः।' तया च विशाला गजसमृद्धिः व्यज्यते वस्तुध्वनिः अलङ्कारेण इति।

कोशः—गण्डः कटो मदो दानम्। नेमिः स्त्री स्यात् प्रधिः पुमान्। स्यन्दनो रथः। (अमर०)।

समासादिः—श्यामारुणैः—श्यामाः च ते अरुणाः च श्यामारुणाः, तैः। वारणदानतोयानि—दानानां तोयानि दानतोयानि वारणानां दानतोयानि तैः। शितिकण्ठपिच्छक्षोदद्युतः—शितिः कण्ठः यस्य सः शितिकण्ठः शितिकण्ठस्य पिच्छं तस्य क्षोदाः शितिकण्ठपिच्छक्षोदाः ते इव द्योतन्ते। काञ्चनभूपरागाः—काञ्चनस्य भूः काञ्चनभूः काञ्चनभुवः परागाः काञ्चनभूपरागाः। आनेमिमग्नैः—नेमि अभिव्याप्य इति आनेमि आनेमिपर्यन्तं मग्नं तैः। रथौघाः—रथानां ओघाः तैः।

व्या०—आलोडिताः आ + लोडिताः। क्षोदद्युतः—क्षोद + द्युत + क्विप् + जस्। चुक्षुदिरे—क्षुदिर कर्मणि लिट्—झ ततः इरेच् प्रत्ययः।

सं० भा०—कृष्णलोहितमदजलैः मिश्रितमयूरबर्हचूर्णकान्तयः स्वर्णभूमिपांसवः नेमिपर्यन्तमग्नस्यन्दनसमूहैः क्षुण्णाः।

हिन्दी—गजों के श्याम तथा लाल वर्ण के मदजल से स्वर्णिम भूमि की धूलि मिश्रित हो गयी अर्थात्—मोरपंखों के सदृश वह धूलि विभिन्न रङ्ग वाली हो गयी। उस धूलि पर पहियों तक धँसे हुए रथों के चलने से वह अत्यन्त विमर्दित (पिष्ट) हो गयी।

अथ सुवर्णभूरेणोः महाजनशिरोऽलङ्घनमाह—

न लङ्घयामास महाजनानां शिरांसि नैवोद्धतिमाजगाम।
अचेष्टताष्टापदभूमिरेणुः, पदाहतो यत् सदृशं गरिम्णः॥ २८॥

अन्वयः—अष्टापदभूमिरेणुः पदाहतः महाजनानां शिरांसि न लङ्घयामास। उद्धतिं नैव आजगाम। यत् गरिम्णः सदृशम् अचेष्टत।

सुधा—अष्टापदभूमिरेणुः=स्वर्णभूरजः। पदाहतः = चरणपीडितः। महाजनानां=समादरणीयानाम्। शिरांसि = उत्तमाङ्गानि, मस्तकानि इत्यर्थः। न=न। लङ्घयामास=लङ्घितं करोति स्म। उद्धतिं=उत्प्लवनं धृष्टत्वं च। नैव = न हि। आजगाम=आव्रजाम। यत्=यस्मात् कारणात्। गरिम्णः = गुरुतायुक्तगुणस्य। सदृशं = तुल्यं। अचेष्टत = चेष्टयामास।

[विशेष—अत्र अलङ्घनकार्ये गुरुतायाः औद्धत्यप्रतिबन्धकत्वम्। अनौद्धत्यादि-प्रस्तुतस्वर्णधूलिविशेषणसादृश्यात् अप्रस्तुतजनप्रतीतिकारणात् समासोक्तिः अलङ्कारः। अत्र 'पदाहतः' स्थाने 'खुराहतः' वर्त्तते तत्र तस्य पर्यायः शफपीड़ित भवति]।

कोशः—'रुक्मं कार्त्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्।' 'रेणुर्द्वयोः स्त्रियां धूलिः'। 'पदोऽङ्घ्रिश्चरणोऽस्त्रियाम्'। (अमर०)।

समासादि—महाजनानाम्—महान्तः च ते जनाः च महाजनाः, तेषां। अष्टापदभूमिरेणुः—अष्टसु पदं यस्य तत् अष्टापदम्, अष्टापदस्य भूमिः तस्याः रेणुः।

व्या०—लङ्घयामास—लघि + लिट् अस्तेः अनुप्रयोगः 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' सूत्रेण 'आम्' प्रत्ययः भवति। आजगाम—आङ् + गम् + लिट् तिप् + णल्। अचेष्टत—चेष्ट + लङ्—त अडागमः भवति।

सं० भा०—स्वर्णभूरजः चरणताडितः अपि समादरणीयजनमस्तकानि न लङ्घनं करोति स्म तथा च धृष्टतां अपि न करोति स्म। गुरुत्वगुणतुल्यं कार्यं अकरोत्।

हिन्दी—स्वर्णमयी भूमि की धूलि न तो उड़ी ही तथा न सैनिकों के मस्तकों पर ही पड़ी उसने अपने गुरुत्व के अनुसार कार्य किया। जैसे—महाजन लोग तिरस्कृत होने पर लघुतापूर्ण व्यवहार नहीं करते। यद्यपि धूल पैर की ठोकर से उड़ कर शिर पर चढ़ती है किन्तु वह धूल 'हलकी' (लघु) होती है—जैसे कोई लघु उद्दण्ड व्यक्ति जरासी बात में बड़ों को कष्ट देता है। अर्थात् उस भारी धूल ने भारीपन का व्यवहार किया।

अथाऽस्याश्वान् वर्णयति—

निरुध्यमाना यदुभिः कथञ्चिन्मुहुर्यदुच्चिक्षिपुरग्रपादान्।

ध्रुवं गुरून्मार्गरुधः करीन्द्रानुलङ्घ्य गन्तुं तुरगास्तदीषुः॥ २९॥

अन्वयः—तुरगाः यदुभिः कथञ्चित् निरुध्यमानाः यत् अग्रपादान् मुहुः उच्चिक्षिपुः तत् ध्रुवं मार्गरुधः गुरून् करीन्द्रान् उल्लङ्घ्य गन्तुं ईषुः।

सुधा—तुरगाः=हयाः, अश्वाः। यदुभिः = यादवैः। कथञ्चित् = केनप्रकारेण, प्रबलप्रयासेन। निरुध्यमानाः=वार्यमाणाः। यत् = यस्मात् कारणात्। अग्रपादान् अग्रिम चरणान्। मुहुः = वारम्वारम्। उच्चिक्षिपुः = उत्क्षिप्तवन्तः। तत् = तस्मात् कारणात्। ध्रुवं=शङ्के। मार्गरुधः = अध्वरोधिनः। गुरून् = मान्यान्। करीन्द्रान्= इभेन्द्रान्। उल्लङ्घ्य = उत्क्रम्य। गन्तुं=व्रजितुम्। ईषुः = अभिलषन्ति स्म।

विशेषः—अत्र कविः उत्प्रेक्षालङ्कारेण कथयति—अध्वनिरोधकाः मान्याः अपि अन्यैः उल्लङ्घ्यन्ते। एवं वस्तुध्वनिः व्यज्यते।

कोशः—'घोटके वीतितुरग'। 'कुञ्जरो वारणः करी'। (अमर०)

समासादिः—अग्रपादान्—अग्रः च पादः च अग्रपादः, तान्। मार्गरुधः—मार्गं रुन्धन्ति इति मार्गरुधः, तान्। करीन्द्रान्—करिणां इन्द्राः करीन्द्राः, तान्।

व्या०—करीन्द्रान्—करिन् + शस् = । उच्चिक्षिपुः—उद् + क्षिप् + लिट् झि अस्। मार्गरुधः—मार्ग + रुध् + क्विप् + शस्। इषु इच्छायाम् लिट्–झि–उस् प्रत्ययः।

सं० भा०—अश्वाः यादवैः केनप्रबलप्रयत्नेन वार्यमाणाः यत् अग्रचरणात् मुहुः उत्क्षिप्तवन्तः। तत् शङ्के अध्वरोधिनः मान्यगजेन्द्रान् उत्क्रम्य व्रजितुं इच्छन्ति स्म।

हिन्दी—यादव घुड़सवारों के घोड़े यादव घुड़सवारों के द्वारा प्रबल प्रयत्न से रोके जाने पर भी जो बार-बार अपने अग्रिम पैर चलाते थे। इससे ऐसा लगता था मानो वे निश्चय ही (मन्दगामी) गजेन्द्रों को लाँघ जाना चाह रहे थे।

अथ मातृभिर्मार्गप्रक्रीडितशावकापसारणमाह—

अवेक्षितानायतवल्गमग्रे तुरङ्गिभिर्यत्ननिरुद्धवाहैः ।
प्रक्रीडितान् रेणुभिरेत्य तूर्णं निन्युर्जनन्यः पृथुकान् पथिभ्यः ॥ ३० ॥

अन्वयः—आयतवल्गम् यत्ननिरुद्धवाहैः तुरङ्गिभिः अग्रे अवेक्षितान् रेणुभिः प्रक्रीडितान् पृथुकान् जनन्यः तूर्णम् एत्य पथिभ्यः निन्युः ।

सुधा—आयतवल्गम् = आकृष्टरज्जुम् । यत्ननिरुद्धवाहैः = प्रयासनिवारिताश्वैः तुरङ्गिभिः = अश्ववारैः । अग्रे = पुरःप्रदेशे । अवेक्षितान् = अवलोकितान् । रेणुभिः = रजोभिः । प्रक्रीडितान् = खेलाकरान् । पृथुकान् = बालकान् , शिशून् जनन्यः = मातरः । तूर्णं = त्वरितम् । पथिभ्यः = मार्गेभ्यः । निन्युः = अपास्यन् ।

विशेषः—अत्र स्वभावोक्तिः अलङ्कारः । प्रसादो गुणः अस्ति ।

कोशः—"वाजिवाहार्वगन्धर्व" 'सत्वरं चपलं तूर्णं' 'पृथुकौ चिपिटार्भकौ' । (अमर०) ।

समासादिः—आयतवल्गम्—आयता वल्गा यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथा यत्ननिरुद्धवाहैः—यत्नैः निरुद्धाः वाहाः यैः तैः ।

व्या०—प्रक्रीडितान्—प्र + क्रीड + क्तः । पृथुकान्—पृथुक + जस् । तूर्णम्—त्वर + क्तः, ऊठ् णत्वम् । निन्युः—णीञ् प्रापणे—नी + लिट्–झि–उस् प्रत्ययः ।

सं० भा०—आकृष्टरज्जुं प्रयासनिवारिताश्वैः अश्ववारैः अग्रे अवलोकित-पृथुकान् मातरः मार्गेभ्यः त्वरितम् अपसारयद् ।

हिन्दी—घोड़ों की लगामों को खींचकर प्रयत्नपूर्वक अश्वों को रोकनेवाले घुड़सवार यदुवंशियों के द्वारा देखे गये, मार्ग की धूलि में खेलने वाले शिशुओं को, उनकी माताएँ आकर शीघ्र मार्गों से उठा ले गयीं ।

अथ श्रीकृष्णदर्शनार्थं जनसमूहागमनमाह—

दिदृक्षमाणाः प्रतिरथ्यमीयुर्मुरारिमारादनघं जनौघाः ।
अनेकशः संस्तुतमप्यनल्पा नवं नवं प्रीतिरहो करोति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—अनघं मुरारिं दिदृक्षमाणाः जनौघाः प्रतिरथ्यम् आराद् ईयुः । अहो अनल्पा प्रीतिः अनेकशः संस्तुतम् अपि नवं नवं करोति ।

सुधा—अनघं = निष्कलङ्कम् । मुरारिम् = हरिं [मुरनामकदैत्यारिम्] दिदृक्षमाणाः = द्रष्टुं इच्छन्तः । जनौघाः = जनसङ्घाः । प्रतिरथ्यं = प्रतिप्रतोलीम् ।

आराद् = समीपम् । ईयुः = जग्मुः । अहो = आश्चर्यम् । अनल्पा = प्रचुरा । प्रीतिः = स्नेहः । अनेकशः = वहुवारम् । संस्तुतमपि = परिचितमपि । नवं नवं = नूतनं । करोति = कुरुते ।

[विशेषः—अत्र अर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः—विशिष्टरूपपूर्वार्धस्य सामान्यरूपोत्तरार्धेन समर्थनात्—सामान्येन विशेषसमर्थनात् । यथा—अत्यन्तप्रीतिजनकं वस्तु पौनःपुन्येन दृष्टमपि अदृष्टमिव प्रतिक्षणं दिदृक्षते । तथैव जनैः हरिः अपि । केचिद् पुरुषाः 'आराद्' पदस्य अर्थं "दूरं" कुर्वन्ति । अन्य पुस्तके "ईयुः" ।

कोशः—'ओघो वृन्देऽम्भसां रये ।' 'आराद् दूरसमीपयोः' । 'रथ्या प्रतोली विशिखा (अमर०) ।

समासादि—मुरारिम्—मुरस्य अरिम् । जनौघाः—जनानां ओघाः । प्रतीरथ्यम्—रथ्यायां प्रति । (अव्ययीभावः) ।

व्या०—दिदृक्षमाणाः—दृश् + सन् + लट्—शानच् "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" सूत्रेण आत्मनेपदम् । ईयुः—इण् + लिट्–झि–उस् 'दीर्घं इणः किति सूत्रेण शस् प्रत्ययः भवति ।

सं० भा०—निष्कलङ्कं मुरारिं द्रष्टुं इच्छन्तः जनसमूहाः प्रतिप्रतोलीं समीपं जग्मुः । आश्चर्यमस्ति प्रचुरस्नेहः वहुवारपरिचितं अपि नूतनं करोति ।

हिन्दी—उन निष्कलंक श्रीकृष्ण के दर्शनार्थ जनता प्रति गली (मार्ग) के समीप आयी । आश्चर्य है कि, बहुत वार देखी हुई वस्तु को भी प्रीति नूतन बना देती है । वार-बार उस वस्तु को नवीन वस्तु की भाँति देखने की अभिलाषा होती है ।

नीरन्ध्रसेनापरिवृतस्यास्य रथमन्दगमनाज्ञानमाह—

उपेयुषो वर्त्म निरन्तराभिरसौ निरुच्छ्वासमनीकिनीभिः ।
रथस्य तस्यां पुरि दत्तचक्षुर्विद्वान् विदामास शनैर्न यातम् ।। ३२ ।।

अन्वयः—विद्वान् तस्यां पुरि दत्तचक्षुः असौ निरन्तराभिः अनीकिनीभिः निरुच्छ्वासं वर्त्म उपेयुषः रथस्य शनैः यातं न विदामास ।

सुधा—विद्वान् = विपश्चित् । तस्यां = द्वारकायाम् । पुरि = नगर्याम् । दत्तचक्षुः = समर्पितनयनः । असौ = श्रीकृष्णः । निरन्तराभिः = रन्ध्ररहिताभिः, बहुलाभिः ।

अनीकिनीभिः = चमूभिः । निरुच्छ्वासं = अतिसंकटम् । वर्त्म = मार्गम् । उपेयुषः = गतस्य, प्राप्तस्य । रथस्य = स्यन्दनस्य । शनैः = मन्दम् । यातं = व्रजनं, गमनम् । न = न । विदामास = विवेद ।

[विशेषः—अत्र स्थले आवेदने व्यासङ्गस्य पदार्थस्य कारणत्वात् पदार्थहेतुकं नाम काव्यलिङ्गम् अलङ्कारः अस्ति । वाहो याति न वा, संकटे मार्गे शनैः गच्छन् न बुध्यते । अत्र व्यासङ्गात् असंवेदनं न तु वास्तविकात्—इति वस्तुस्थितिः । विद्वान् विदामास अत्र अनुप्रासः अस्ति ।

कोशः—'अयनं वर्त्म मार्गाध्व०' । 'पृतनानीकिनीचमूः' । (अमर०) ।

समासादिः—निरन्तराभिः—निर्गतम् अन्तरम् आसां इति निरन्तराः, ताभिः । दत्तचक्षुः—दत्तं चक्षुः येन सः । निरुच्छ्वासम्—निर्गतः उच्छ्वासः यस्मिन् तत् ।

व्या०—विद्वान्—विद् + शतृ "विदेः शतुर्वसुः" सूत्रेण 'वसु' प्रत्ययः । रथस्य—रथ + ङस्—स्य । यातम्—भावे क्तः या + क्तः । विदामास—विद् + लिट्—तिप्—णल् ।

सं० भा०—अभिज्ञः द्वारकानगर्यां समर्पितनेत्रः हरिः नीरन्ध्रचमूभिः अतिसंकटमार्गं गतस्य स्यन्दनस्य मन्दं—मन्दम् गमनं न ज्ञातवान् ।

हिन्दी—द्वारका नगरी को देखने में दृष्टि लगाये हुए अभिज्ञ हरि ने सेना से व्याप्त मार्गको प्राप्तकर अपने रथ की मन्दगति को नहीं जाना । रथ धीमी चाल से चल रहा है यह बात वे नहीं जान सके ।

अथैकत्रिंशच्छ्लोकैर्द्वारकां वर्णयति—

मध्ये-समुद्रं ककुभः पिशङ्गीर्या कुर्वती काञ्चनवप्रभासा ।
तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वालेव भित्त्वा जलमुल्ललास ॥ ३३ ॥

अन्वयः—मध्येसमुद्रम् काञ्चनवप्रभासा ककुभः पिशङ्गीः कुर्वती या जलं भित्त्वा तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला इव उल्ललास ।

सुधा—मध्येसमुद्रम् = समुद्रस्य मध्ये । काञ्चनवप्रभासा = स्वर्णप्राकारकान्त्या ककुभः = आशाः, दिशः । पिशङ्गीः = पीतवर्णाः । कुर्वती = कुर्वाणा । या = द्वारकानगरी । जलं = उदकम् । भित्त्वा = विदार्य । तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला इव = वडवाग्निशिखा, इव । उल्ललास = दिदीपे, उद्बभासे ।

[विशेषः—अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः । ईदृग्ज्वालायाः अप्रसिद्धत्वेन उपमानत्वा-

योगात् । तथा च अत्र दण्डिकविराह—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः । उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैः, इव शब्दोऽपि तादृशः ।"

कोशः—"स्याच्चयो वप्रमस्त्रियाम्" । "दिशस्तु ककुभः काष्ठा" । "वह्नेर्द्वयोर्ज्वालकीला०" । (अमर०) ।

समासादिः—मध्येसमुद्रम्—समुद्रस्य मध्ये । (अव्ययी०) । काञ्चनवप्रभासा-काञ्चनस्य वप्रं (ष० त०) काञ्चनवप्रस्य भाः तया (ष० त०) ।

तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहज्वाला—यत् हूयते तत् हव्यम् हव्यं वहति इति हव्यवाहः तुरङ्गस्य कान्ता तुरङ्गकान्ता । तुरङ्गकान्तायाः मुखम् तुरङ्गकान्तामुखम् तस्मिन् हव्यवाहःतस्य ज्वाला—तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहस्य ज्वाला । अथवा—अन्यजनविचारे तु निम्नविग्रहः अस्ति—'तुरङ्गकान्तया तुल्यं मुखं यस्य सः च असौ हव्यवाहः—'तुरङ्गकान्तामुखहव्यवाहस्य ज्वाला ।

व्या०—मध्येसमुद्रम्—"पारे मध्ये षष्ठ्या वा" सूत्रेण विकल्पात् अव्ययीभावः । ककुभः ककुभ् + शस् । पिशङ्गी—"पिशङ्गात्०" इति वार्तिकेन ङीप् । उल्ललास—उद् + लस + लिट् + तिप् + णल् प्रत्ययः ।

सं० भा०—द्वारकानगरी समुद्रमध्ये स्वर्णप्राकारच्छविना दिशः पीतवर्णाः कुर्वती जलं भित्त्वा वडवाग्निशिखा, इव दिदीपे ।

हिन्दी—द्वारका नगरी समुद्र के मध्य भाग में स्वर्ण के कलशों की दीप्ति से दिशाओं को पीतवर्णा बनाती हुई तथा समुद्रजल को भेदनकर वडवाग्नि की शिखा के तुल्य देदीप्यमाना हो रही थी । अर्थात्—वह द्वारका स्वर्ण के गृहों से विभूषित सागर के मध्य में विराजमान थी ।

अन्यच्च कीदृश्यसावित्याह—

कृतास्पदा भूमिभृतां सहस्रैरुदन्वदम्भःपरिवीतमूर्ति ।
अनिर्विदा या विदधे विधात्रा पृथिवी पृथिव्याः प्रतियातनेव ॥ ३४ ॥

अन्वयः—भूमिभृतां सहस्रैः कृतास्पदा उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्त्तिः पृथिवी या अनिर्विदा विधात्रा पृथिव्याः प्रतियातना इव विदधे ।

सुधा—भूमिभृतां = राज्ञां, शैलानां च । सहस्रैः = सहस्रसङ्ख्याकैः । कृतास्पदा = कृताधिष्ठाना, कृतावस्थितिः । उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्त्तिः = सागरजलपरिव्याप्तस्वरूपा । पृथिवी = विस्तीर्णा । या = द्वारकानगरी । अनिर्विदा = आलस्यहीनेन ।

विधात्रा = ब्रह्मणा । पृथिव्याः = भूमेः । प्रतियातना, इव = प्रतिकृतिरिव । विदधे = चक्रे, कृता ।

विशेषः—अत्र स्थले पृथिवी प्रतिनिधित्वस्य उत्प्रेक्षया तत् नगर्याः वैचित्र्य-विस्ताराद् इव वस्तु व्यज्यते ॥ ३४ ॥

कोशः—"भूभृद् भूमिधरे नृपे ।" "विधाता विश्वसृड् विधिः ।" गोत्रा कुः पृथिवी पृथ्वी ;

समासादिः—भूमिभृताम्—भूमिं बिभ्रति इति भूमिभृत् तेषां भूमिभृताम् । कृतास्पदा—कृतं आस्पदं यस्यां सा । उदन्वदम्भःपरिवीतमूर्त्तिः—उदकं अस्य अस्ति, इति उदन्वान् । उदन्वतः अम्भांसि उदन्वदम्भांसि तैः परिवीता मूर्त्तिः यस्याः सा । अनिर्विदा—निर्विद्यते इति निर्विद् न निर्विद् इति अनिर्विद्, तेन ।

व्या०—भूमिभृताम्—भूमि + डुभृञ् भरणे + क्विप् 'तुक्' आगमः । अनि-र्विदा—न + निर् + विद् 'सत्सूद्विष०' सूत्रेण क्विप् । उदन्वद्—'उदन्वानुदधौ च' सूत्रेण निपातनात् सिद्धिः । पृथिवी—प्रथेरौणादिकः पिवन् षिद् गौरादिभ्यश्च सूत्रेण ङीप् । विदधे—वि (उपसर्गं पूर्वकं) डुधाञ् धारणपोषयोः कर्मणि लिट्—त—एश् प्रत्ययः ।

सं० भा०—राज्ञां शैलानां च सहस्रसंख्याकैः कृताधिष्ठाना सागरजलपरिवेष्टित-स्वरूपा विस्तीर्णा (भूः) या द्वारका आलस्यहीनब्रह्मणा भूमेः प्रतिकृतिरेव चक्रे ।

हिन्दी—सहस्रों नृपों की निवासभूमि तथा सागर के जल से परिवेष्टित रूपवाली विस्तीर्ण जिस द्वारका नगरी को आलस्यहीन ब्रह्मदेव ने सहस्रों शैलों से व्याप्त एवं समुद्र जल से घिरी हुई पृथ्वी की मानो प्रतिकृति के सदृश रचा था । (द्वारका की छटा अनुपम थी) ।

अपरं कीदृशीत्याह—

त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्-प्रसरस्य सीमा ।
अदृश्यतादर्शतलामलेषु छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु ॥ ३५ ॥

अन्वयः—त्वष्टुः सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य सीमा या आदर्श-तलामलेषु जलधेः जलेषु स्वः छाया इव अदृश्यत ।

सुधा—त्वष्टुः = देवशिल्पिनः, सदाभ्यासगृहीतशिल्पविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य = शाश्व-ताभ्याससंप्राप्तक्रियाकौशलसम्पत्तिविस्तारस्य । सीमा = अवधिः । या = द्वारका ।

आदर्शतलामलेषु = दर्पणपृष्ठविमलेषु । जलधेः = सागरस्य । जलेषु = तोयेषु । स्वः = स्वर्गस्य । छाया इव = प्रतिविम्बमिव । अदृश्यत = आलोक्यत ।

विशेषः—अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः । द्वारकाप्रशंसायाम्—भूतले ब्रह्मणा ततोऽन्यद् किञ्चित् सुन्दरं न निर्मितम् इत्यर्थः ।

कोशः—"दर्पणे मुकुरादर्शौ" । "स्वरव्ययम् ।" देवशिल्पिन्यपि त्वष्टा । (अमर०) "छायात्वनातपेकान्ती" (वैजयन्ती) ।

समासादिः—सदाभ्यासगृहीतविज्ञानसम्पत्प्रसरस्य—सदा अभ्यासः सदाभ्यासः (विशेषणसमा०) सदाभ्यासेन गृहीतः शिल्पस्य विज्ञानं शिल्पविज्ञानस्य सम्पद् तस्याः प्रसरः शिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरः सदाभ्यासगृहीतश्चासौ शिल्पविज्ञानसंपत्प्रसरः तस्य । आदर्शतलामलेषु—आदर्शस्य तलं आदर्शतलं आदर्शतलमिव अमलानि, आदर्शतलामलानि तेषु आदर्शतलामलेषु ।

व्या०—या—यत् + सु । (स्त्री०) । अदृश्यत—दृशिर् प्रेक्षणे कर्मणि लङ् + यक् + त ।

सं०—विश्वकर्मणः निरन्तराभ्यासप्राप्तशिल्पज्ञानप्रसरस्य सीमा या द्वारका दर्पणतलस्वच्छेषु समुद्रस्य नीरेषु स्वर्गस्य प्रतिविम्बमिव दृष्टा ।

हिन्दी—निरन्तर अभ्यास से प्राप्त विश्वकर्मा की (देवशिल्पी की) चातुरी सम्पत्ति की चरमावधिस्वरूपा द्वारकापुरी, दर्पणतल के सदृश समुद्र के विमल जल में, मानो स्वर्ग की छाया के समान दीख रही थी । जैसे—शीशे में किसी की छाया दीखती है तद्वत् वह द्वारका समुद्र में दीख रही थी ।

अपरं कीदृशीत्याह—

> रथाङ्गभर्त्रेऽभिनवं वराय यस्याः पितेव प्रतिपादितायाः ।
> प्रेम्णोपकण्ठं मुहुरङ्कभाजो रत्नावलीरम्बुधिराबबन्ध ।। ३६ ।।

अन्वयः—अम्बुधिः पिता इव वराय रथाङ्गभर्त्रे अभिनवं प्रतिपादितायाः अङ्कभाजः यस्याः उपकण्ठं मुहुः प्रेम्णः रत्नावलीः आबबन्ध ।

सुधा—अम्बुधिः = सागरः । पिता इव = जनकः, इव । वराय = जामात्रे, श्रेष्ठाय । अभिनवं = अभिनूतनम् । प्रतिपादितायाः = समर्पितायाः । अङ्कभाजः = उत्सङ्गवर्तिन्याः, समीपस्थितायाः । यस्याः = नगर्याः । उपकण्ठं = कण्ठे, समीपे च । मुहुः—वारं वारम् । प्रेम्णा = प्रीत्या । रत्नावलीः = मणिमालाः । आबबन्ध= बन्धयामास, रचयामास ।

विशेषः—श्लेषानुप्राणितः उपमालङ्कारः ।

कोशः—"अम्बुधिः जलधिश्चैव ।" (हला०) 'वरो जामातरि श्रेष्ठे' । (विश्व०) 'अङ्कः समीपे उत्सङ्गे ।" (केशव०) "उपकण्ठान्तिकाभ्यर्णा" (अमर०) ।

समासादिः—अम्बुधिः—अम्बूनि धीयन्ते । रथाङ्गभर्त्रे—रथस्य अङ्गं रथाङ्गम् रथाङ्गस्य भर्त्ता-रथाङ्गभर्त्ता तस्मै रथाङ्गभर्त्रे । अङ्कभाजः—अङ्कं भजते इति अङ्कभाक् तस्याः अङ्कभाजः । उपकण्ठम्—कण्ठस्य समीपे उपकण्ठम् ।

व्या०—वराय—वर + ङे = वराय । आबबन्ध—आङ् + बन्ध बन्धने + लिट्-तिप्-णल् ।

सं० – समुद्रः पितेव श्रेष्ठश्रीकृष्णाय नूतनप्रतिपादितायाः समीपस्थितायाः द्वारकायाः कण्ठे वारं वारं प्रीत्या रत्नमालाः बन्धयामास ।

हिन्दी—समुद्रने, चक्रधारी जामाता श्रीकृष्ण को तत्काल प्रदत्त एवं समीप स्थिता द्वारका के समीप में प्रेम से रत्नमालाओं को इस रीति से सजा दिया जैसे—कोई पिता अपने जामाता (दामाद) को तत्काल प्रदत्त तथा अङ्क (गोद) में रहनेवाली पुत्री के कण्ठ में प्रीति से मणियों की माला समर्पित कर देता है—विदाई के समय पुत्री को आभरण आदि देता है ।

पुनः कीदृशीत्याह—

यस्याश्चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन ।
वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रोऽन्वहमन्वकारि ॥ ३७ ॥

अन्वयः—चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन यस्याः वप्रेण पर्यन्तचरोडुचक्रः सुमेरुवप्रः अन्वहम् अन्वकारि ।

सुधा—चलद्वारिधिवीचिच्छटोच्छलच्छङ्खकुलाकुलेन = कम्पद्नीरधितरङ्गश्रेणी-प्रपतत्कम्बुसमूहव्याप्तेन । यस्याः = द्वारकायाः । वप्रेण = प्राकारेण । पर्यन्त-चरोडुचक्रः = समीपवर्त्तिनक्षत्रमण्डलः । सुमेरुवप्रः = हेमशैलसानुः । अन्वहम् = प्रतिदिनम् । अन्वकारि = अनुकृतः ।

विशेषः—अत्र सुमेरुशैलसाम्याद् वप्रस्य औन्नत्यं तत्तुल्यं व्यज्यते ।

कोशः—'शङ्खः स्यात् कम्बुरस्त्रियौ ।' 'सानुप्राकारयोर्वप्रम्' मेरुः सुमेरुर्हेमाद्री ।' (अमर०)

समासादिः—वारिधिवारयः—वारिधेः वारयः वारिधिवारयः—तेषां

वीचयः चलन्त्यश्च ताः वारिधिवारिवीचयः चलद्वारिधिवारिवीचयः तासां छटाः चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटाः ताभिः आकुलम् तेन—चलद्वारिधिवारिवीचिच्छटाकुलेन। पर्यन्तचरोडुचक्रः पर्यन्ते चरति इति पर्यन्तचरम् उडूनां चक्रम् उडुचक्रम् पर्यन्तचरं उडुचक्रं यस्य सः पर्यन्तचरोडुचक्रः। सुमेरुवप्रः—सुमेरोः वप्रः सुमेरुवप्रः। अन्वहम्—अहनि–अहनि इति अन्वहम्।

व्या०—अन्वहम्—"अव्ययं विभक्ति" सूत्रेण अव्ययीभावः। 'अनश्च' तथा। 'नपुंसकादन्यतरस्याम्' सूत्राभ्यां समासान्तः 'टच्' प्रत्ययः। 'अन्वकारि' अनु + कृ कर्मणिप्रयोगे लुङ्–त।

सं० भा०—कम्पत्समुद्रतरङ्गश्रेणीसमुच्छलदशङ्खसमूहव्याप्तद्वारकायाः प्राकारेण, समीपवर्त्तिनक्षत्रमण्डलः हेमशैलसानुः प्रतिदिनम् अनुकृतः।

हिन्दी—चंचल समुद्र के जल की लहरों से उच्छलित शंखों के समुदायों से परिव्याप्त उस द्वारका नगरी के परकोटों ने सर्वदिशाओं में भ्रमणशील नक्षत्रों वाले सुमेरुशैल का अनुकरण किया।

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जि मुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप ॥ ३८ ॥

अन्वयः—यत्र वणिक्पथे पूगकृतानि अलोलद्युतिभाञ्जि रत्नानि लोलैः भ्रमागतैः अम्बुभिः मुष्णन् अम्बुराशिः रत्नाकरताम् अवाप।

सुधा०—यत्र = द्वारकायां। वणिक्पथे = आपणे। पूगकृतानि = राशीकृतानि। अलोलद्युतिभाञ्जि = अचञ्चलकान्तियुक्तानि। रत्नानि = मणीन्। लोलैः = चपलैः। भ्रमागतैः = नीरनिःसरणमार्गप्राप्तैः। अम्बुराशिः = सागरः। रत्नाकरतां = मणिकोषत्वम्। अवाप = लेभे।

कोशः—'भ्रमाश्च जलनिर्गमाः।' 'नीरक्षीराम्बुमम्बरम्।' रत्नं स्वजातिश्रेष्ठेऽपि। (अमर०)।

समासादिः—वणिक्पथे—वणिजां पन्थाः वणिक्पथः तस्मिन् वणिक्पथे। पूगकृतानि—अपूगाः पूगाः सम्पद्यमानानि कृतानि पूगकृतानि। अलोलद्युतिभाञ्जि—अलोला च असौ द्युतिः च अलोलद्युतिः तां भजन्ति यानि तानि अलोलद्युतिभाञ्जि। भ्रमागतैः—भ्रमैः आगतैः भ्रमागतैः। अम्बुराशिः—अम्बूनां राशिः अम्बुराशिः। रत्नाकरताम्—रत्नानां आकरः तस्य भावः ताम् रत्नाकरताम्।

व्या०—रत्नानि—रत्न + जस् = रत्नानि । अवाप—अव + आप्लृ + लिट्—तिप्-णल् ।

सं० भा०—द्वारकायां आपणे राशीकृतानि अचञ्चलकान्तिसहितानि रत्नानि चपलजलमार्गप्राप्तैः सागरः मणिनिकरतां लेभे ।

हिन्दी—जिस द्वारका नगरी के बाजारों में स्थिरकान्ति वाले, एकत्र किये हुए, मणिसमूहों को नालियों के मार्ग से आने वाले समुद्र ने अपनी चञ्चल तरंगों से चुराते हुए रत्नाकरत्व को प्राप्त किया—रत्नों की खान समुद्र है यह प्रसिद्धि प्राप्त की ।

अपरं कीदृशीत्याह—

अम्भश्च्युतः कोमलरत्नराशीनपांनिधिः फेनपिनद्धभासः ।
यत्रातपे दातुमिवाधितल्पं विस्तारयामास तरङ्गहस्तैः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—यत्र अपांनिधिः अम्भश्च्युतः फेनपिनद्धभासः कोमलरत्नराशीन् आतपे दातुमिव तरङ्गहस्तैः अधितल्पं विस्तारयामास ।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम् । अपांनिधिः = जलनिधिः, समुद्रः । अम्भश्च्युतः = नीरस्राविणः । फेनपिनद्धभासः = डिण्डीराच्छादितकान्तीन् । कोमलरत्नराशीन् = नवीनमणिसमूहान् । आतपे = घर्मे, प्रकाशे । दातुमिव = निधातुमिव । तरङ्गहस्तैः = ऊर्मिकरैः । अधितल्पं = तल्पप्रदेशेषु । विस्तारयामास = विस्तारितवान् ।

[विशेष—यत्र पाठे उपतल्पम् तत्र तल्पसमीपे इति पर्यायः । यत्र विसारयामास तत्र विचिक्षेप पर्यायः । यथा जनाः आर्द्रं वस्तु घर्मे स्थापयन्ति तथैव सागरः घर्मे रत्नानि स्थापितवान्—इति फलोत्प्रेक्षा । 'तरङ्गहस्तैः' अनेनपदेन रूपकालङ्कारः तथा आतपदानाय तरङ्गहस्तसाध्यत्वेन अत्र अनयोः अङ्गाङ्गिभाववशात् सङ्करालङ्कारः ।

कोशः—'निधिर्नाशेवधिः भेदाः ।' 'डिण्डीरोऽब्धिकफः फेनः ।' 'तल्पंशय्याट्टदारेषु ।' 'प्रकाशोद्योत आतपः ।' 'भङ्गस्तरङ्ग ऊर्मिर्वा स्त्रियां वीचिः ।' 'पुञ्जराशी तूत्करः ।' (अमर०) ।

समासादिः—अम्भश्च्युतः—अम्भांसि च्योतन्ति इति अम्भश्च्युतः तान् । फेनपिनद्धभासः—फेनैः पिनद्धा भासः येषां तान् फेनपिनद्धभासः । कोमलरत्नराशीन्—कोमलानि च रत्नानि कोमलरत्नानि तेषां राशयः कोमलरत्नराशयः तान्

कोमलरत्नराशीन् । अधितल्पम्—तल्पेषु अधि अधितल्पम् । तरङ्गहस्तैः—तरङ्ग एव हस्तः तैः तरङ्गहस्तैः ।

व्या०—यत्र—अव्ययपदम् । पिनद्ध—अपिपूर्वकअण् अत्र 'णहबन्धने' इति धातोः कर्मणि 'क्त' प्रत्ययः भवति । "वष्टिभागुरि०" इत्यादि सूत्रेण अपेः अकार-लोपः । विस्तारयामास—'वि' उपसर्गपूर्वक स्तृञ् + लिट्–तिप् + णल् । अस्तेः अनुप्रयोगः भवति ।

सं० भा०—द्वारकायां समुद्रः जलस्राविफेनव्याप्तकान्तिनवीनरत्नसमूहान् घर्मे शोषणार्थं निधातुमिव अट्टेषु तरङ्गकरैः प्रसारितवान् ।

हिन्दी—जिस द्वारका नगरी में समुद्र टपकते हुए जल वाले तथा फेनों से ढके हुए नवीन (कोमल) रत्न समूहों को मानो घाम दिखाने के लिये छतों पर अपने तरंगरूपी हाथों से विस्तारित कर देता था । जैसे—कोई अन्न को घाम में सुखाने को फैला देता है ।

पुनः कीदृशीत्याह—

यच्छालमुत्तुङ्गतया विजेतुं दूरादुदस्थीयत सागरस्य ।
महोर्मिभिर्व्याहतवाञ्छितार्थैर्व्रीडादिवाभ्याशगतैर्विलिल्ये ॥ ४० ॥

अन्वयः—सागरस्य महोर्मिभिः यच्छालम् उत्तुङ्गतया दूरात् विजेतुं उदस्थीयत अभ्यासगतैः व्याहतवाञ्छितार्थैः व्रीडादिव विलिल्ये ।

सुधा०—सागरस्य = समुद्रस्य । महोर्मिभिः = विशालतरङ्गैः । यच्छालं = यत्प्राकारम् । उत्तुङ्गतया = औन्नत्यगुणेन । दूरात् = दूरप्रदेशात् । विजेतुं = परिभवितुम् । उदस्थीयत = उत्थितम् । अभ्यासगतैः = निकटागतैः । व्याहतवाञ्छितार्थैः = नष्टमनोरथैः । व्रीडादिव = लज्जायुक्तायाः, इव । विलिल्ये = विलीनम् ।

[विशेषः—अत्र उभयोत्प्रेक्षयोः सापेक्षत्वेन विद्यमानत्वात् अङ्गाङ्गिभाव-युक्तेन सङ्करालङ्कारः । यथा—यः कोऽपिजनः केनचित् गुणेन न जयति जिगीषितं अवश्यं एव स ह्रियादर्शनं याति ।

कोशः—'प्राकारो वरणः शालः ।' 'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपाव्रीडा (अमर०) ।

समासादिः—महोर्मिभिः—महान्तः ऊर्मयः तैः महोर्मिभिः । यच्छालम्—यस्याः शालः यच्छालः तम् यच्छालम् । अभ्यासगतैः—अभ्यासं गतैः अभ्यासगतैः ।

व्याहतवाञ्छितार्थैः—वाञ्छिताः अर्थाः वाञ्छितार्थाः, व्याहताः वाञ्छितार्थाः येषां ते व्याहतवाञ्छितार्थाः तैः व्याहतवाञ्छितार्थैः।

व्या०—सागरस्य—सागर + स्य = सागरस्य। उदस्थीयत—उद् + स्था + भावे लङ्—त—यक् अडागमः उदस्थीयत। विलिल्ये—वि + लीङ्—श्लेषणे + भावे लिट्—त—एश् = विलिल्ये।

सं० भा०—समुद्रस्य विशालतरङ्गैः यत्प्राकारं औन्नत्येन दूरदेशात् परिभवितुं उत्थितम्, निकटागतनष्टमनोरथैः लज्जासदितायाः इव विलीनम्।

हिन्दी—जिस द्वारकानगरी के परकोटों को ऊँचेपन से मानो विजय करने के लिये समुद्र की विशाल तरंगें उठीं किन्तु उन परकोटों के निकट आकर वे तरंगें नष्ट मनोरथवाली होकर लज्जा से उसी समुद्र में समाप्त हो गयीं क्योंकि द्वारका के परकोटे बहुत ऊँचे थे। जैसे कोई असफल होने पर नष्ट हो जाता है।

पुनस्तामेव वर्णयति—

कुतूहलेन जवादुपेत्य प्राकारभित्या सहसा निषिद्धः।
रसन्नरोदीद् भृशमम्बुवर्षव्याजेन यस्या बहिरम्बुवाहः॥ ४१॥

अन्वयः—अम्बुवाहः कुतूहलेन इव जवात् उपेत्य यस्याः प्राकारभित्या सहसा निषिद्धः सन् बहिः रसन् अम्बुवर्षव्याजेन भृशम् अरोदीत्।

सुधा—अम्बुवाहः=वारिवाहः, मेघः। कुतूहलेन=कौतुकेन। जवात्=वेगात्। उपेत्य= प्राप्य। यस्याः = द्वारकानगर्याः। प्राकारभित्या = शालकुड्येन। सहसा = शीघ्रम्। निषिद्धः = निवारितः। बहिः = बहिर्देशे। रसन् = क्रन्दन्, गर्जन्। अम्बुवर्ष-व्याजेन = जलवर्षणछलेन। भृशं = अत्यन्तम्। अरोदीत् = रोदनं कृतवान्, जलानि त्यक्तवान्।

विशेषः—यत्र 'उपेत्य' स्थाने, उपेतः, पाठान्तरं अस्ति तत्र पर्यायः निकटं गतम्। अत्र अम्बुवर्षणछलेन उत्पादितापह्नुतेः कथितः श्लेषोत्प्रेक्षासापेक्षत्वात् सङ्करालङ्कारः। यः जनः कौतुकात् आगतः प्रवेशात् निवार्यते सः जनः निश्चय-रूपेण परिभवात् दीर्घशब्देन रोदिति।

कोशः—'कुतुकं च कुतूहलम्।' 'कपटोऽस्त्री व्याजदम्भो।' (अमर०)।

समासादिः—अम्बुवाहः—अम्बु वहति इति अम्बुवाहः। प्राकारभित्या—

प्राकारस्य भित्तिः प्राकारभित्तिः तया प्राकारभित्त्या । अम्बुवर्षव्याजेन—अम्बुनः वर्षं अम्बुवर्षं तस्य व्याजेन अम्बुवर्षव्याजेन ।

व्या०—अम्बुवाहः = अत्र 'कर्मण्यण्' सूत्रेण अण्, अम्बु + वह + अण् । बहिः इति अव्ययपदम् । आरोदीत्—रुदिर् + लङ् अत्र रुदश्च पञ्चभ्यः सूत्रेण अट् आगमः ।

सं० भा०—मेघः कौतुकेन वेगाद् प्राप्य द्वारकाप्राकारभित्त्या शीघ्रं निवारितः बहिर्देशे गर्जन् जलवृष्टिच्छलेन अत्यन्तं रोदितवान् ।

हिन्दी—मेघ मानो उत्कण्ठायुक्त वेग से द्वारका के निकट आकर उस द्वारका के प्राकारभित्ति से एकाएक रोका हुआ (स्थित होकर) बाहर ही जलवृष्टि के व्याज (छल) से गर्जन करता हुआ रोने लगा ! जैसे—कोई व्यक्ति अन्तःप्रवेश के निषेध पर किसी बहाने से रोदन करने लगता है ।

अपरं कीदृशीत्याह—

यदङ्गनारूपसरूपतायाः कञ्चिद् गुणं भेदकमिच्छतीभिः ।
आराधितोऽद्धा मनुरप्सरोभिश्चक्रे प्रजाः स्वाः सनिमेषचिह्नाः ॥४२॥

अन्वयः—यदङ्गनारूपसरूपतायाः भेदकं कञ्चिद् गुणं इच्छतीभिः अप्सरोभिः आराधितः मनुः स्वाः प्रजाः सनिमेषचिह्नाः अद्धा चक्रे ।

सुधा—द्वारकापुरीरमणीसौन्दर्यसादृश्यात् । भेदकं = विशेषव्यावर्त्तकम् । कञ्चिद् = कमपि । गुणं = धर्मम् । इच्छतीभिः कामयमानाभिः । अप्सरोभिः = स्वर्गवेश्याभिः । आराधितः = प्रार्थितः । मनुः = भगवान् मनुः (मनुष्यादिकर्त्ता) । स्वाः = स्वकीयाः । प्रजाः = सन्ततीः । सनिमेषचिह्नाः = नयनसंकोचविकाससहिताः । अद्धा = निश्चितम् । चक्रे = कृतवान् ।

विशेषः—कटाक्षपूर्णविलोकनादियोगात् भङ्ग्या द्वारकारमणीनां अप्सरोभ्यः विशेषः ध्वनितः । उपर्युक्त भावेन द्वारकारमणीनां निमेषयुक्तं तथा स्वर्गरमणीनां अनिमेषत्वं द्योतितम् । न तु अन्यः कश्चित् रूपातिशयः स्वर्गवेश्यानां कथितः ।

कोशः—'विशेषास्त्वङ्गनाभीरुः' । 'स्त्रियां बहुष्वप्सरसः स्वर्वेश्या उर्वशीमुखाः ।' प्रजा स्यात् सन्ततौ जने ।' (अमर०) ।

समासादिः—यदङ्गनारूपसरूपतायाः—यस्याम् अङ्गनाः यदङ्गनाः तासां रूपं यदङ्गनारूपम् तस्य सरूपता यदङ्गनारूपसरूपता तस्याः । निमेषचिह्नाः—

निमेष एव चिह्नं यासान्ताः या निमेषचिह्नेन सह विद्यन्ते ताः सनिमेषचिह्नाः ।

व्या०—कश्चिद्—कं + चित् (प्रत्ययः) = कश्चिद् । सनिमेपचिह्नाः अत्र तेन सह इति तुल्ययोगे सूत्रेण बहुव्रीहिः । चक्रे—डुकृञ् + लिट्–त–एश् = चक्रे ।

सं० भा०—निश्चितम् अस्ति—द्वारकानगर्य्याः रमणीसौन्दर्यसाम्यात् कमपिभेद-धर्मं कामयमानाभिः स्वर्वेश्याभिः प्रार्थितमनुः स्वप्रजाः निमेषयुक्ताः कृतवान् ।

हिन्दी—यह निश्चित है—जिस द्वारकापुरी में स्थित रमणियों के सौन्दर्यसाम्य से भेदक धर्म को चाहनेवाली स्वर्ग की वेश्याओं से प्रार्थित जगत् कर्त्ता मनुमहाराज ने अपनी सन्तति को निमेषयुक्त नेत्रवाली रच दिया—द्वारका की रमणियाँ तथा देवांगनाओं में केवल इतना ही भेद था कि ये सनिमेष थीं वे (स्वर्ग की) अनिमेष थीं ।

अपरं कीदृशीत्याह—

स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुताः स्फाटिकसौधपङ्क्तीः ।
आरुह्य नार्यः क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन् ॥ ४३ ॥

अन्वयः—यत्र क्षणदासु नार्यः स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः विनिह्नुताः स्फाटिक-सौधपङ्क्तीः आरुह्य देव्य इव व्यराजन् ।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम् । क्षणदासु = रजनीषु । नार्यः = रमण्यः । स्फुर-त्तुषारांशुमरीचिजालैः = उल्लसत् हिमचन्द्रकिरणसमूहैः । विनिह्नुताः = अपह्नुताः । स्फाटिकसौधपङ्क्तीः = स्फाटिकहर्म्यमालाः । आरुह्य = आस्थित्य । नभोगताः = गगनस्थिताः । देव्य इव = देवरमण्य इव । व्यराजन् = बभुः ।

विशेषः—सामान्यालङ्कारस्यलक्षणम्—सामान्यं गुणसाम्येन यत्र वस्त्वन्त-रैकता । अतः अत्र एकरूपताग्रहणात् सामान्यालङ्कारः अस्ति । तत् एकरूपतापत्तेः अगृह्यमाणा । अत्र नभोगतत्वोत्प्रेक्षायाः च सामान्यसापेक्षत्वात् सङ्करालङ्कारः अस्ति ।

कोशः—'क्षणदा क्षपा' । 'भानुः करो मरीचिः स्त्री' । 'वीथ्यालिरावलिः पंक्तिः । (अमर०) ।

समासादिः—स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैः–तुषाराः अंशवः यस्य सः तुषारांशुः, तुषारांशोः मरीचयः तेषां जालानि तुषारांशुमरीचिजालानि—स्फुरन्ति च तानि तुषारांशुमरीचिजालानि तैः, स्फाटिकसौधपंक्तीः—स्फटिकानां विकारः स्फाटिकः स्फाटिकाश्च ये सौधाश्च ते स्फाटिकसौधाः तेषां पंक्तयः स्फाटिकसौधपङ्क्तयः ताः ।

व्या०—यत्र (अव्ययपदम्)। देव्यः 'देव' अत्र 'टिड्ढाणञ्' सूत्रेण ङीप् = देवी + जस्। व्यराजन्—वि + राज् + लङ् लकारः ततः अडागमः।

सं०—रजनीषु द्वारकायां रमण्यः देदीप्यमानचन्द्रकिरणापहृताः स्फटिक हर्म्यमालाः, अधिरुह्य गगनगताः देवाङ्गना इव शोभितवत्यः।

हिन्दी—जिस द्वारका नगरी में अंगनाएँ रात्रि में, देदीप्यमान चन्द्र किरणों के समूहों में एक रूप होकर शुभ्रस्फटिकमणि के प्रासादों की पंक्तियों पर स्थित होकर ऐसी शोभायमान होती थीं जैसे देवांगनाएँ आकाश में शोभायमान होती हैं। शुभ्र चन्द्रकिरणों में तथा शुभ्र स्फटिकों में वे एकरूप हो जाती थीं। अतः देवियों जैसी ज्ञात होती थीं।

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु प्रतिक्षपं हर्म्यतलेषु यत्र।
उच्चैरधःपातिपयोमुचोऽपि समूहमूहुः पयसां प्रणाल्यः॥ ४४॥

अन्वयः—यत्र प्रतिक्षपम् कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु हर्म्यतलेषु उच्चैः प्रणाल्यः अधःपातिपयोमुचः अपि पयसां समूहम् ऊहुः।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम्। प्रतिक्षपं = अनुरात्रिम्। कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु = मनोहरचन्द्रकान्तमणिजटितभूभागेषु। हर्म्यतलेषु = सौधपृष्ठभागेषु। उच्चैः = उन्नताः। प्रणाल्यः = जलमार्गाः। अधःपातिपयोमुचः = अधःस्थितमेघाः। अपि = अपि। पयसां = तोयानां (जलानाम्)। समूहम् = राशिपूरम्। ऊहुः = वदन्तिस्म।

विशेषः—असम्बन्धे अपि तत्सम्बन्धोक्तया अतिशयोक्तिनामालङ्कारः। यथा—सौधप्रणालीनां तादृक् औन्नत्यपयःपूरवर्णनम्।

कोशः—'इन्दुः कुमुदबान्धवः।' 'कुट्टिमं बद्धभूमिः स्यात्।' 'द्वयोः प्रणाली पयसः पदव्याम्। (अमर)।

समासादिः—प्रतिक्षपम—क्षपासु इति प्रतिक्षपम् विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः सूत्रेण सिद्धिः। कान्तेन्दुकान्तोपलकुट्टिमेषु—इन्दुः च कान्तः च इन्दुकान्तः, इन्दुकान्ताः च ये उपलाः च ते इन्दुकान्तोपलाः तेषां कुट्टिमानि तानि सन्ति येषु तेषु कान्तेन्दु-कान्तोपलकुट्टिमेषु। हर्म्यतलेषु—हर्म्यस्य तलं तानि हर्म्यतलानि तेषु। अधःपातिपयो-मुचः—पयांसि मुञ्चन्ति इति पयोमुचः अधः पतन्ति इति अधःपातिनः अधःपातिनः च ते पयोमुचः अधःपातिपयोमुचो यासां ताः अधःपातिपयोमुचः।

व्या०—प्रतिक्षपम्—क्षपां प्रति । पयोमुचः—पयस् + मुच्लृ + क्विप् = पयोमुचः । ऊहुः —वह् + लिट् ततः 'झि' ततः उसस् 'वचिस्वपि०' इत्यादि सूत्रेण सम्प्रसारणम् भवति ।

सं०—द्वारकायां प्रतिरात्रि मनोहरचन्द्रकान्तमणिजटितसौधप्रदेशेषु उन्नतजलमार्गाः अधःस्थितमेघाः तोयराशिपूरं वदन्ति स्म ।

हिन्दी—जिस द्वारका नगरी में चन्द्रकान्त जटित प्रासाद बने थे उन उच्च प्रासादों की छतों पर से रात्रि में जल, नालियों से गिरता था (चन्द्रकान्तमणि चन्द्रोदय होने पर जल टपकाती है)। इधर मेघ भी नीचे बरसते थे (मेघों से वहाँ के प्रासाद ऊँचे थे)। ऐसी द्वारका नगरी मेघों वाली होकर जलराशि को गिराती थी। द्वारका में मेघों से ऊंचे प्रासाद (महल) बने थे ।

पुनः कीदृशीत्याह—

रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य[1] दीपाञ्जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः ।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो [2]वैदूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः ॥ ४५ ॥

---

१. क्वचित् स्थले निशाम्य|इत्यस्य स्थाने निशम्य पाठान्तरं दृश्यते तत्तु केचित् जनाः समीचीनं आमनन्ति । तेषां मते "शमेर्मित्त्वाद्ध्रस्वादेशः" युक्तः अतः ते निशाम्य पदं चिन्त्यं कथयन्ति ।

२. 'विदूराञ्ञ्यः' सूत्र से प्रभव अर्थ में विदूर शब्द में 'ञ्य' प्रत्यय लगकर वैदूर्यशब्द बनता है किन्तु कुछ जन इसे वैदूर्य इसलिये कहते हैं कि, यह पदार्थ विदूर नगर में उत्पन्न हुआ है अथवा संस्कृत हुआ है। यह बात ठीक नहीं है क्योंकि महाभाष्य निर्माता पतञ्जलि ने इसका अच्छा विवेचन किया है—

वे कहते हैं—यह पदार्थ बालवाय नामक शैल पर प्राप्त होता है—बालवाय को व्याकरण से विदूर आदेश होता है अथवा बालवाय का दूसरा नाम ही विदूर है। या बालवाय से निःसृत रत्न को विदूर देश में यंत्र से खराद पर साफ किया जाता है जिससे वह चमकने लगता है। जो भी हो विदूर शब्द से प्रभवार्थ में वैदूर्य होता है—यह लकीरों से लाञ्छित फिरोजी पीतवर्णी रत्न होता है। चन्द्रकिरणें जब खिड़कियों के झरोखों से वैदूर्यमणि की दीवारों पर पड़ती हैं तब यह बिल्ली के नेत्रों की भाँति प्रतीत होता है।

अन्वयः—यत्र अधिगृहं गृहिण्यः रतौ ह्रिया दीपान् निशाम्य जालगताभ्यः वैदूर्यकुड्येषु विडालेक्षणभीषणाभ्यः शशिद्युतिभ्यः बिभ्युः।

सुधा—यत्र = द्वारकायां। अधिगृहं = भवनेषु। गृहिण्यः = कुलरमण्यः। रतौ = रति समये। ह्रिया = लज्जया। दीपान् = दीपशिखान्। निशाम्य = निर्वाप्य। जालगताभ्यः = गवाक्षप्रविष्टाभ्यः। वैदूर्यकुड्येषु = वैदूर्यमणिभित्तिषु (वालवायजभित्तिषु)। विडालेक्षणभीषणाभ्यः = मार्जारविलोकनभयङ्कराभ्यः। शशिद्युतिभ्यः = चन्द्रछविभ्यः। बिभ्युः = भीताः।

[विशेषः—अत्र मौग्ध्याद् भीताः कामिन्यः। अस्मिन् वैदूर्यविषये महाभाष्यानुसारेण श्रीमल्लिनाथाः कथयन्ति—विदूरात्प्रभवन्ति वैदूर्याणि। अत्र विदूरशब्दः वालवायस्य आदेशः, पर्यायः, तत्र उपरचितः वा। तेन कारणेन असौ वालवायाद् गिरेः प्रभवति न तु विदूरात् नगरात् अपितु तत्र संस्क्रियते इति आक्षेपः प्रत्युक्तः। यदुक्तम्—

वालवायो विदूरश्च प्रकृत्यन्तरमेव वा।
न वै तत्रेति चेद् ब्रूयाद्–जित्वरीवदुपाचरेत्॥

अत्र त्रपानिवारणार्थं प्रदीपनिर्वापणे न केवल तत् असिद्धिः अपितुं भयं च उत्पन्नं तेन अनर्थोत्पत्तिरूपो विषमालङ्कारः अस्ति—यदुक्तम्—

विरुद्धकार्यस्योत्पत्तिर्यत्रानर्थस्य वा भवेत्।
विरूपघटना या स्यात् विषमालङ्कृतिर्मता॥

कोशः—'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा।' 'जालंगवाक्ष आनायः।' 'भाश्छविद्युतिदीप्तयः।' भित्तिरस्त्री कुड्यमेडूकम्।' (अमर०)।

समासादिः—अधिगृहम्—'विभक्त्यर्थे अव्ययीभावः' इत्यनेन अव्ययीभावः गृहेषु अधि इति अधिगृहम्। जालागताभ्यः—जालम् आगताभ्यः जालागताभ्यः। वैदूर्यकुड्येषु—विदूरात् प्रभवन्ति वैदूर्याणि तेषां कुड्यानि वैदूर्यकुड्यानि तेषु। शशिद्युतिभ्यः—शशिनः द्युतयः शशिद्युतयः ताभ्यः।

व्या०—रतौ—रति + ङि = रतौ। बिभ्युः—ञिभी भये + लिट् ततः झि ततः उस्।

सं० भा०—द्वारकायां रमण्यः भवनेषु रतिकाले दीपान् निर्वाप्य वैदूर्यमणिभित्तिषु गवाक्षप्रविष्टमार्जारविलोकनभयङ्करचन्द्रछविभ्यः भीताः भवन्ति।

हिन्दी—द्वारका नगरी मे गृहों में महिलाएं लज्जावश रतिसमय में प्रज्वलित दीपोंको बुझाकर (जब वल्लभों के साथ सम्पर्कित हो जाती थीं तब) खिड़की के गवाक्षों से प्रविष्ट लहसुनियाँ या वैदूर्यमणि से निर्मित दीवालों पर प्रतिबिम्बित होने के कारण बिल्ली की आँखों के सदृश भयप्रद चन्द्र की किरणों से वे भयभीत होती थीं ।

पुनः कीदृश्यसावित्याह—

यस्यामतिश्लक्ष्णतया गृहेषु विधातुमालेख्यमशक्नुवन्तः ।
चक्रुर्युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः सजीवचित्रा इव रत्नभित्तीः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—यस्यां, गृहेषु अतिश्लक्ष्णतया आलेख्यं विधातुम् अशक्नुवन्तः युवानः प्रतिबिम्बिताङ्गाः रत्नभित्तीः सजीवचित्रा इव चक्रुः ।

सुधा—यस्यां = द्वारकापुर्याम् । गृहेषु = भवनेषु । अतिश्लक्ष्णतया = अतिमसृणतया । आलेख्यं = चित्रम् । विधातुं = रचितुम् । अशक्नुवन्तः = अशक्ताः । युवानः = तरुणाः । प्रतिबिम्बिताङ्गाः = प्रतिफलितदेहाः । रत्नभित्तीः = मणिकुड्यानि । सजीवचित्राः = सप्राणिचित्रयुक्ताः । इव = इव । चक्रुः = विदधुः ।

कोशः—'गृहं गेहोदवसितं वेश्म सद्म निकेतनम् ।' 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम् ।' 'भित्तिः स्त्री कुड्यमेडूकम् ।' 'चेव जीवोऽसुधारणम् । (अमर) ।

समासादिः—अतिश्लक्ष्णतया—अत्यन्तं श्लक्ष्णम् अतिश्लक्ष्णम् तस्य भावः अतिश्लक्ष्णता तया । आलेख्यम्—लेखानां भावं लेख्यम् आ समन्तात् लेख्यम् आलेख्यम् । प्रतिबिम्बिताङ्गाः—प्रतिबिम्बितानि अङ्गानि यासु ताः अथवा येषां ते प्रतिबिम्बिताङ्गाः । रत्नभित्तीः—रत्नानां भित्तयः रत्नभित्तयः ताः । सजीवचित्राः—जीवेन सह वर्त्तमानं सजीवं तानि सजीवानि चित्राणि सजीवचित्राणि तानि सन्ति यासु ताः ।

व्या०—युवानः—युवन् + जस् ततः दीर्घः । चक्रुः—डुकृञ्करणे + कृ + लिट् ततः झि ततः उस् = चक्रुः ।

सं० भा०—द्वारकायां भवनेषु अतिमसृणतया चित्रं रचितुम् अशक्ताः तरुणाः प्रतिबिम्बितशरीराः मणिभित्तीः सप्राणिचित्राः, इव विदधुः ।

हिन्दी—द्वारका नगरी के प्रासादों की रत्नों की दीवालों पर, अत्यन्त

अत्र 'गोश्वपुरीषे' सूत्रेण सिद्धिः। चक्रुः—डुकृञ् करणे + 'लिट्' ततः 'झि' ततः उस्।

सं० भा०—द्वारकायां मूढरमण्यः कीरदेहवन्नीलमणिरचितगृहदेहलीदीप्त्या व्याप्तप्रघाणेषु गोपुरीषलेपनानि न विदधुः निश्चयेन।

हिन्दी—द्वारका नगरी में सभी भवनों की देहलियाँ पन्ने (मरकतमणि) की बनी थीं जिनकी दीप्तियों से द्वार प्रदेश का उभयभाग नीला हो जाता था। उस समय ऐसा ज्ञात होता था कि वे भाग गोबर से लीपे गये हैं। अत एव मुग्धाङ्गनाएँ उन्हें लीपना भूल जाती थीं—वे सोचती थीं हम इन्हें लीप चुकी हैं। भ्रान्तिमान् अलंकार के कारण यह अर्थ झलकता है।

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

गोपानसीषु क्षणमास्थितानामालम्बिभिश्चन्द्रकिणां कलापैः।
हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैर्गृहाणि नीध्रैरिव यत्र रेजुः॥ ४९॥

अन्वयः—यत्र गृहाणि गोपानसीषु क्षणम् आस्थितानां चन्द्रकिणां आलम्बिभिः कलापैः हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः नीध्रैः इव रेजुः।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम्। गृहाणि = सद्मानि। गोपानसीषु = वलभीषु। क्षणं = किञ्चित्कालम्। आस्थितानाम् = उपविष्टानाम्। चन्द्रकिणां = मयूराणाम्। आलम्बिभिः = लम्बमानैः। कलापैः = बर्हैः। हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः = मरकतमणिश्यामतृणमनोरमैः। नीध्रैरिव = पटलप्रान्तैः, इव रेजुः = बभुः।

विशेषः—हरितत्वात् नीध्रैरिव इत्यत्र जातिस्वरूपोत्प्रेक्षालङ्कारः।

कोशः—'गोपानसी तु वलभी।' 'कलापो भूषणे बर्हे।' 'तास्तु त्रिंशत्क्षणस्ते तु।' 'अश्मगर्भो हरिन्मणिः।' 'वलीकनीध्रे पटलप्रान्तेऽथ पटलं छविः।' (अमर०)।

समासादिः—आस्थितानाम्—आसमन्तात् स्थितानाम्। हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः—हरितः च ते मणयः च हरिन्मणयः हरिन्मणय इव श्यामानि हरिन्मणिश्यामानि तानि च तृणानि हरिन्मणिश्यामतृणानि तैः अभिरामैः हरिन्मणिश्यामतृणाभिरामैः।

व्या०—कलापैः—कलाप + भिस्=कलापैः। रेजुः—राजृ दीप्तौ राजृ + लिट् ततः 'झि' ततः 'उस्'। अत्र 'फणां च सप्तानाम्' सूत्रेण एत्वं तथा अभ्यासलोपः।

सं० भा०—द्वारकापुर्यां भवनानि, वलभीषु क्षणं उपविष्टमयूराणाम् लम्बमानकलापैः मरकतरत्नश्यामतृणमनोहरैः पटलप्रान्तैः, इव बभुः ।

हिन्दी—द्वारका के प्रासाद, अपने छतों के छज्जों पर क्षणभर स्थित मोरों (मयूरों) के लम्बमान पिच्छों से ऐसे मनोहर लगते थे मानो वे, पन्ना (मरकत) रत्न के सदृश श्यामवर्णी सुन्दर छतों के छज्जों से शोभायमान हो रहे हों। अर्थात्—द्वारका में मोर अधिकता से थे तथा जनों को आनन्दकारक थे।

अपरं कीदृशीत्याह—

बृहत्तुलैरप्यतुलैर्वितानमालापिनद्धैरपि चावितानैः ।
रेजे विचित्रैरपि या सचित्रैर्गृहैर्विशालैरपि भूरिशालैः ॥ ५० ॥

अन्वयः—या बृहत्तुलैः अपि अतुलैः च वितानमालापिनद्धैः अपि अवितानैः विशालैः अपि भूरिशालैः विचित्रैः अपि सचित्रैः गृहैः रेजे ।

सुधा—या = द्वारका। बृहत्तुलैः = विशालदारुबन्धस्तम्भपीठैः अपि। अतुलैः तुलारहितैः। [विरोधः—तत्परिहारः अतुलैः = उपमारहितैः ।] च = तथा। वितानमालापिनद्धैः = उल्लोचपङ्क्तिव्याप्तैः अपि । अवितानैः = उल्लोचहीनैः [विरोधः—तत्परिहारः अवितानैः = अशून्यैः ।] विचित्रैः, अपि = चित्ररहितैः, अपि । सचित्रैः = चित्रसहितैः [विरोधः—तत्परिहारः विचित्रैः = विस्मयप्रदैः ।] विशालैः, अपि = शालारहितैः, अपि । भूरिशालैः = प्रभूतगेहैः। [विरोधः—परिहारः विशालैः = पृथुलैः । गृहैः = भवनैः । रेजे = शोभते स्म ।]

विशेषः—सर्वत्र अपिरयं विरोधे विरुद्धवदाभासाद् विरोधालङ्कारः। लक्षणं तु काव्यप्रकाशे—"विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद्वचः ।"

कोशः—'तुला माने पलशते सादृश्ये राशिभाण्डयोः। गृहाणां दारुबन्धाय पीठ्याम् (हैमः)। 'अस्त्रीवितानमुल्लोचः ।' 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम् ।' 'विशालं पृथुलं महत् ।' (अमर०)। 'शाला गृहे तरुस्कन्धे शाखागारैकदेशयोः (विश्वः)।

समासादिः—बृहत्तुलैः—बृहत्यः च तुलाः च बृहत्तुलाः सन्ति ताः येषु बृहत्तुलाः तैः बृहत्तुलैः। अतुलैः—न तुला अतुला तैः अतुलैः। वितानमालापिनद्धैः—वितानानां मालाः वितानमालाः वितानमालाभिः पिनद्धाः वितानमालापिनद्धाः तैः। अवितानैः—न वितानं यत्र अवितानं तैः अवितानैः। अथवा न वितानैः इति अवितानैः। विचित्रैः—विगतः चित्रः यस्मात् विचित्रः तैः विचित्रैः। सचित्रैः—चित्रैः

सह सचित्राः तैः सचित्रैः । विशालैः—विगता शाला यस्मात् विशालाः तैः विशालैः । भूरिशालैः—भूरयः शालाः यत्र तैः भूरिशालैः ।

व्या०—अपि इति अव्ययपदम् । विशालैः—'वि'शब्दात् शालच् प्रत्ययः (वेः शालच्छङ्कटचौ सूत्रेण) । रेजे—राज् + लिट् ततः 'त' ततः एश् ।

सं० भा०—द्वारका विशालदारुस्तम्भपीठैः अपि तुला रहितैः (अनुपमैः) । तथा च उल्लोचपंक्तिव्याप्तैः अपि अवितानैः (अशून्यैः) चित्रैः रहितैः अपि सचित्रैः (अद्भुतपदार्थयुक्तैः) विशालैः अपि प्रभूतगेहैः (पृथुलैः) भवनैः शोभते स्म ।

हिन्दी—द्वारका वृहत्तुलावाली होकर भी अतुलावाली थी—यहां विरोध टपकता है । उसका परिहार यह है कि द्वारका नगरी अनुपम थी । वह वितानों से युक्त होकर भी अवितानवाली थी—यह विरोध है । परिहार उसका यह है—अशून्य (भरीपूरी) थी । चित्रों से रहित होने पर भी सचित्र थी—यह विरोध है । परिहार है—वह अद्भुत थी । विशाल अर्थात् शालाओं से रहित थी तिस पर विशाल (बड़ी) थी । यह विरोध है परिहार है—बड़े-बड़े आरामगृहों से युक्त भवनोंवाली थी ।

द्रष्टव्य—जहां वृहत्तुला है उसे अतुल कहना विरोध है अतः अतुल का अर्थ अनुपम करने से विरोध हट गया । [तुला का अर्थ है 'शहतीर' अर्थात् वह लकड़ी जो खम्भों पर रख कर मकान अतिवृत करने के काम आती है अर्थात् शहतीर पर के मकान द्वारका में प्रचुर थे । वितान (तम्बू) के समूहवाली होकर भी तम्बू (शामियाना) से रहित थी [वितान का अशून्य (पदार्थों से परिपूर्ण) अर्थ होने पर परिहार हो जाता है । विचित्र का अर्थ चित्र रहित है अतः वह चित्र रहित होने पर सचित्र (चित्र सहित कैसे थी ?) परिहार है—अद्भुत पदार्थ तथा शोभावाली थी । विशाल का अर्थ है शालाहीन तथा भूरिशाल का अर्थ है प्रभूत शालाओं (गृहों) वाली अतः विरोध है । परिहार है—बड़े-बड़े भवनोंवाली थी । यहाँ कवि ने विरोधाभास अच्छी रीति से दर्शाया है ।

अपरं कीदृशीत्याह—

चिक्रंसया कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः कपोलपालीषु निकेतनानाम् ।
मार्जारमप्यायतनिश्चलाङ्गं यस्यां जनः कृत्रिममेव मेने ॥ ५१ ॥

अन्वयः—यस्यां निकेतनानां कपोतपालीषु कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः चिक्रंसया आयतनिश्चलाङ्गं मार्जारमपि कृत्रिमं एव जनः मेने।

सुधा—यस्यां = द्वारकायाम् । निकेतनानां = भवनानाम् । कपोतपालीषु = विटङ्केषु । कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः = काष्ठखगश्रेण्याः । चिक्रंसया = मारितुं इच्छया आयतनिश्चलाङ्गं = विस्तृतनिश्चलदेहम् । मार्जारमपि = विडालमपि । कृत्रिमं = मनुष्यरचितं । एव = निश्चयेन । मेने = ज्ञातवान् ।

विशेषः—अत्र कर्मणिषष्ठी—कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः । यत्र आनतनिश्चलाङ्गं पाठः तत्र नम्रीभूतशरीरम् इति पर्यायः । अत्र श्लोके कृत्रिमाकृत्रिमभेदः दुर्ग्रहः इति शिल्पविज्ञानभूतातिशयोक्तिः । द्वारकायां सर्वगेहेषु कपोतपाल्यः आसन् तासु कपोत-पालीषु काष्ठादिनिर्मिताः क्रीडनकाः शुकादयः स्थिताः आसन् । अत्र भ्रान्तिमान-लङ्कारः अस्ति—कृत्रिमाकृत्रिमेषुविरुद्धवर्णनात्—इति ।

कोशः—'वेश्म सद्म निकेतम् ।' 'कपोतपालिकायां तु विटङ्कं पुंनपुंसकम् ।' 'ओतुर्विडालो मार्जारः । 'दीर्घमायतम् ।' (अमर०) ।

समासादिः—कपोतपालीषु—कपोतं पालयति इति कपोतपाली तेषु । कृत्रिमपत्रिपङ्क्तेः—कृत्रिमाश्च ते पत्रिणश्च कृत्रिमपत्रिणः तेषां पङ्क्तिः कृत्रिमपत्रि-पंक्तिः तस्याः । चिक्रंसया—क्रमितुं इच्छा चिक्रंसा तया । आयतनिश्चलाङ्गम्—आयतं च निश्लं च अङ्गं च यस्य सः आयतनिश्चलाङ्गः तम् आयतनिश्चलाङ्गम् ।

व्या०—निकेतनानाम्—निकेतन + नुट् + आम् = निकेतनानाम् । कृत्रिमम्—डुकृञ् + क्त्रि + मप्, अत्र 'ड्वितः क्त्रिः' सूत्रेण 'क्त्रिः' ततः 'क्त्रेर्मम्नित्यम् वार्तिकेन 'मप्' प्रत्ययः भवति । मेने—मन् (ज्ञाने) लिट् ततः 'त' ततः 'एश्' ततः 'अत एक हल्० सूत्रेण एत्वं ततः अभ्यास लोपः भवति ।

सं० भा०—द्वारकायां भवनकपोतपालीषु काष्ठादिनिर्मितखगमालाः मारितु-मिच्छया विस्तीर्णनिश्चलशरीरमार्जारं अपि जनाः कृत्रिमं मेने ।

हिन्दी—द्वारका में, गृहों में बनी हुई कपोतपालियों पर स्थित कृत्रिम पक्षियों को अकृत्रिम समझकर आक्रमणार्थं निश्चलांग सजीव बिलार (बिल्ली) को भी वहाँ के लोगों ने देखकर कृत्रिम ही बिल्ली समझा—काष्ठादि के द्वारा निर्मित बिल्ली समझा । द्वारका में स्थित कपोतपालियों की तथा कृत्रिम पक्षियों की सुन्दरता का वर्णन तथा शिल्पकला का वर्णन इस श्लोक में अनुपम है ।

पुनः कीदृशीत्याह—

क्षितिप्रतिष्ठोऽपि मुखारविन्दैर्वधूजनश्चन्द्रमधश्चकार ।
अतीतनक्षत्रपथानि यत्र प्रासादशृङ्गाणि वृथाध्यरुक्षत् ॥ ५२ ॥

अन्वयः—यत्र वधूजनः क्षितिप्रतिष्ठः अपि चन्द्रं मुखारविन्दैः अधः चकार अतीतनक्षत्रपथानि प्रासादशृङ्गाणि वृथा अध्यरुक्षत ।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम् । वधूजनः = रमणीसमुदायः । क्षितिप्रतिष्ठः = भूस्थितः । अपि = अपि । चन्द्रम् = इन्दुम् । मुखारविन्दैः = मुखपद्मैः । अधः = निम्नः । चकार = कृतवान् । अतीतनक्षत्रपथानि = लङ्घिततारकमार्गाणि । प्रासादशृङ्गाणि = कूटशिखराणि । वृथा = फलरहितम् । अध्यरुक्षत् = अध्यरोहत ।

विशेषः—अत्र विरोधः, अस्ति—यः जनः भूस्थितः सः जनः केन प्रकारेण गगनस्थं चन्द्रं तिरस्कुर्यात् । स्वकीयसौन्दर्येण तिरश्चकार—अधरीचकार इति विरोधपरिहारः । अत्र वृथाध्यरुक्षत् स्थाने मुधाध्यरोहत् पाठान्तरं क्वचित् दृश्यते । द्वारकायां चन्द्राददपि सुन्दरतराणि रमजीजनवदनानि । नक्षत्रेभ्योऽपि अधिकोन्नताः प्रासादाः वर्त्तन्ते । अत्र श्लोके अधःकरणपदार्थस्य श्लेषविरोधवैयर्थ्ये हेतुत्वात् सङ्कीर्णः, अतः काव्यलिङ्गालङ्कारः वर्त्तते ।

कोशः—'क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः-।' 'कूटोऽस्त्रीशिखरं शृङ्गम् ।' 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा' 'वृथा मुधा ।' (अमर०) ।

समासादिः—वधूजनः—वधूः एव जनः वधूजनः । क्षितिप्रतिष्ठः—क्षितौ प्रतिष्ठा यस्य सः क्षितिप्रतिष्ठः । मुखारविन्दानि—मुखं एव अरविन्दं तत् मुखारविन्दम् तानि मुखारविन्दानि तैः मुखारविन्दैः । अतीतनक्षत्र पथानि—अतीतानि नक्षत्रपथानि अतीतनक्षत्रपथानि । प्रासादशृङ्गाणि—प्रासादानां शृङ्गाणि प्रासादशृङ्गाणि ।

व्या०—चन्द्रम्—चन्द्र + अम् = चन्द्रम् । अध्यरुक्षत्—अधिउपसर्गपूर्वकं रुह + लुङ् ततः तिप् अडागमः ततः 'शल इगुपधाद् अनिटः क्सः' सूत्रेण 'च्लेः' स्थाने 'क्सः' आदेशः भवति ।

सं० भा०—द्वारकायां रमण्यः भूमिस्थिताः अपि स्वमुखकमलैः चन्द्रं तिरस्कृतवत्यः । लङ्घिततारकमार्गहर्म्यशृङ्गाणि वृथा अध्यरोहन् ।

हिन्दी—द्वारका में रमणियों ने पृथ्वी पर निवास करते हुए भी निज मुख-

कमलों से गगनचारी चन्द्र को जीत लिया। निज मुख के सौन्दर्य से चन्द्र को तिरस्कृत कर दिया। अतः ताराओं से भी उच्च—नक्षत्रमार्गलंघक महलों के शिखरों पर उनका चढ़ना वृथा था। अर्थात्—अट्टालिकाओं पर उनका चढ़ना निष्फल था।

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं विविक्ता इति वर्धयन्तीः।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥ ५३ ॥

अन्वयः—यस्यां युवानः रम्याः इति पताकाः प्राप्तवतीः विविक्ताः इति रागं वर्धयन्तीः नमद्वलीकाः वलभीः वधूभिः समम् असेवन्त।

सुधा—यस्यां = द्वारकायाम्। युवानः = तरुणाः। रम्याः = मनोहराः। इति= इत्थं: पताकाः = वैजयन्तीः। प्राप्तवतीः = आप्ताः। विविक्ताः = शून्याः, विजनाः। इति = अस्मात्। रागं = स्नेहं, कामम्। वर्धयन्तीः = वृद्धिं नयन्तीः। नमद्वलीकाः= विषमछादनान्ताः, नम्रनीध्राः। वलभीः = चन्द्रशालाः कूटवेश्मानि वा। वधूभिः = रामाभिः। समं = साकम्। असेवन्त = सेवन्ते स्म। वधूसहायाः भेजिरे—इति।

विशेषः—अत्र वलभीः वधूभिः सह भेजिरे अत एव अर्थान्तरप्रतीत्या वधूरपि सेवन्ते स्म। कथम् सेवन्ते स्म—रम्याः = रमणीयाः। इति = इत्थं। पताकाः = प्रसिद्धयः। प्राप्तवतीः = आप्ताः। विविक्ताः = रम्याः, स्वच्छा। इति = अस्मात् हेतोः रागं = कामम्। वर्द्धयन्तीः = वृद्धिं नयन्तीः। नमद्वलीकाः = नमत्त्रिवलीयुक्ताः, नमन्मध्यरेखासहिताः। अत्र वलभीनां च प्रकृतानामेव वधूनां धर्मसाधर्म्येण औपम्यावगमात् केवलप्रकृतगोचरा तुल्ययोगिता अस्ति। श्लेषः नास्ति तत्र श्लिष्टत्वनियमात् विशेषयापि। यथा—प्रस्तुतानां तथान्येषां केवलं तुल्यधर्मतः। औपम्यं गम्यते यत्र सा मता तुल्ययोगिता। अत्र सम्भोगशृङ्गार रसः, प्रसादगुणः रीतिः वैदर्भी च।

कोशः—'पताकावैजयन्त्यां च।' 'इति हेतौ प्रकरणे।' (विश्व०)। 'वलीमध्यमरेखोर्मिः।' (वैज०)। 'विविक्तौ पूतविजनौ।' 'कूटागारं तु वलभी।' 'साकं सत्रा समं सह।' (अमर०)।

समासादिः—नमद्वलीकाः—नमन्त्यः वलीकाः नमद्वलीकाः नमद्वलीकाः यासां ताः।

व्या०—समम्—अव्ययपदम्। नमद्वलीकाः—अत्र 'नद्यृतश्च' सूत्रेण कप्

प्रत्ययः नमद्वली + कप् = नमद्वलीकाः । असेवन्त—अत्र 'सेवृ' धातुना—सेव + लङ् ततः 'झ' ततः अडागमः भवति ।

सं० भा०—अत्र द्वारकायां तरुणाः रम्यवैजयन्तीप्राप्तविविक्तस्नेहं वर्धयन्ती-चन्द्रशालाः वधूभिः सह असेवन्त ।

हिन्दी—द्वारका नगरी में युवकगण पताका से युक्त विजन में राग को बढ़ाने वाली झुकी हुई त्रिवली (रेख) वाली रमणियों के साथ, अटारियों में विहार करते थे । अथवा—द्वारकानगरी में—सुन्दरता से प्रसिद्ध तथा शुद्धता से स्नेहवर्धन-शील छज्जोंवाली, लटकती हुई त्रिरेखा (त्रिवलीं) वाली रमणियों के साथ अट्टालि-काओं का सेवन करते थे—'अटारी के सेवन से' अटारियों में रमणियों का सेवन करते थे उनके साथ विहार करते थे ।

पुनः कथंभूतेत्याह—

सुगन्धितामप्रतियत्नपूर्वां बिभ्रन्ति यत्र प्रमदाय पुंसाम् ।
मधूनि वक्त्राणि च कामिनीनामामोदकर्मव्यतिहारमीयुः ।। ५४ ।।

अन्वयः—यत्र अप्रतियत्नपूर्वां सुगन्धितां बिभ्रन्ति मधूनि कामिनीनां वक्त्राणि च यूनां प्रमदाय आमोदकर्मव्यतिहारं ईयुः ।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम् । अप्रतियत्नपूर्वां = अकृत्रिमां, स्वाभाविकीम् । सुगन्धिताम् = सौरभतां, सौरभ्यम् । बिभ्रन्ति = धारयन्ति । मधूनि = मद्यानि कामिनीनाम् = रामाणाम् । वक्त्राणि = आननानि । यूनां = तरुणानाम् । प्रमदाय = हर्षाय । आमोदकर्मव्यतिहारम् = आह्लादक्रियाविनिमयम् । ईयुः = जग्मुः ।

विशेषः—अस्मिन् स्थले अपि मधूनां वक्त्राणां च धर्मसाधर्म्यात् तुल्ययोगिता-लङ्कारः वर्त्तते । तेन यूनां मधुसुवासितवधूमुखपानं मुखसुवासितगण्डूषपानं च वस्तु द्योत्यते । तेन कारणेन निरातङ्कभोगाः पौराः इति च व्यज्यते ।

कोशः—'प्रतियत्नस्तु संस्कारः' (वैज०) । 'वयस्थतरुणो युवा ।' 'वक्त्रास्ये वदनं तुण्डम् ।' 'इष्टो गन्धः सुगन्धिः स्यात् ।' (अमर०) ।

समासादिः—अप्रतियत्नपूर्वाम्—न प्रतियत्नः अप्रतियत्नः अप्रतियत्नः पूर्वः यस्याः सा अप्रतियत्नपूर्वा ताम् । सुगन्धिताम्—शोभनः च असौ सुगन्धः सुगन्धेः भावः सुगन्धिता ताम् । आमोदकर्मव्यतिहारम्—आमोदस्य कर्म आमोदकर्म, आमोदकर्मणः व्यतिहारः आमोदकर्मव्यतिहारः तम् ।

व्या०—सुगन्धिताम्—सु + गन्ध अत्र 'गन्धस्येदुत्पूतिषु०' सूत्रेण इकारादेशः ततः भावे तल् भवति । ईयुः—इण् + लिट् ततः 'झि' ततः उस् = ईयुः ।

सं० भा०—द्वारकायां स्वाभाविकसुगन्धि धारयती मद्यकामिनीमुखे जनानां प्रमोदाय परस्परसुवासितकरणस्य कार्यस्य आदान-प्रदानं कृतवती ।

हिन्दी—द्वारका में अकृत्रिम सुगन्ध धारण करते हुए मधु (मद्य) तथा रमणियों के आननों ने जनों के प्रमोद के लिये परस्पर सुवासित करने के कार्य का आदान-प्रदान किया ।

अपरं च कीदृशीत्याह—

रतान्तरे यत्र गृहान्तरेषुं वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः ।
रुतानि शृण्वन् वयसां गणोऽन्तेवासित्वमाप स्फुटमङ्गनानाम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—यत्र गृहान्तरेषु वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः वयसां गणः अङ्गनानां रतान्तरे रुतानि शृण्वन् स्फुटं अन्तेवासित्वम् आप ।

सुधा—यत्र द्वारकायाम् । गृहान्तरेषु = वेश्ममध्येषु । वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः = विहारवेदिकामत्तवारणकपोतपालिकाकुलायः । वयसां = खगानाम् । गणः= समूहः । अङ्गनानाम् = कामिनीनाम् । रतान्तरे = रमणकाले । रुतानि = प्रेमालापानि । शृण्वन् = आकर्णयन् । स्फुटं = स्पष्टरूपम् । अन्तेवासित्वं = छात्रत्वम् । आप = प्रात ।

विशेषः—समीपे प्रतिशब्दं यथाश्रुतं उच्चारणाद एव उत्प्रेक्ष्यते । अतः स्फुटं इति व्यञ्जकप्रयोगः । यथा—छात्रः गुरोः यद् शृणोति तद् एव वदति इति भावः ।

कोशः—'गृहं गेहो ।' 'स्याद् वितर्दिस्तु वेदिका ।' 'कुलायो नीडमस्त्रियाम् ।' 'निर्यूहो मत्तवारणः ।'

समासादिः—गृहान्तरेषु—गृहणां अन्तराः गृतान्तराः तेषु गृहान्तरेषु । वितर्दिनिर्यूहविटङ्कनीडः—वितर्दीनां निर्यूहाः वितर्दिनिर्यूहाः तेषां विटङ्काः वितर्दिनिर्यूहविटङ्काः वितर्दिनिर्यूहविटङ्का एव नीडाः यस्य येषां वा । रतान्तरे—रतानां अन्तरः रतान्तरः तस्मिन् । अन्तेवासित्वम्—अन्ते वसति इति अन्तेवासी अन्तेवासिनः भावः तत्त्वम् अन्तेवासित्वम् ।

व्या०—शृणु + शतृ = शृण्वन् । अन्तेवासित्वम्—अन्ते + वस ततः 'आव-

श्यकाधमर्ण्ययोर्णिनिः' सूत्रेण णिनिः ततः भावे त्वः अत्र 'शयवासवासिष्वकालात् सूत्रेण ङेरलुक् भावः। आप—आप्लृ + लिट् ततः तिप् ततः णल्।

सं० भा०—द्वारकायां भवनविहारवेदिकपोतपालिकानीडेषु स्थिताः पक्षिणः रतिसमये सुन्दरीणां शब्दान् शृण्वन्तः स्पष्टवाण्या तदनुकरणानि वचनानि उच्चारितवन्तः। अतः तासां छात्रत्वं—शिष्यत्वं गृहीतवन्तः।

हिन्दी—द्वारका में गृहों के मध्य भाग में विहार वेदियाँ बनी थीं जिन पर कपोत पालिका में घोंसले में पक्षी गण रहते थे। वे पक्षी गण रतिकाल में युवतियों के सीत्कार आदि शब्दों को श्रवणकर उनका स्पष्ट अनुकरण कर कूजते थे—तब ऐसा ज्ञात होता था कि वे पक्षीगण उक्त युवतियों के शिष्य हैं। जैसे शिष्य गुरु मुख से श्रवण कर पाठ स्पष्ट तदनुरूप पढ़ता है। वैसे ही वे पक्षीगण उनके रतिकालजनित शब्दों का अनुकरण करते थे।

अन्यच्च कथंभूतेत्याह—

छन्नेष्वपि स्पष्टतरेषु यत्र स्वच्छानि नारीकुचमण्डलेषु।
आकाशसाम्यं दधुरम्बराणि न नामतः केवलमर्थतोऽपि ॥ ५६ ॥

अन्वयः—यत्र छन्नेषु अपि स्पष्टतरेषु नारीकुचमण्डलेषु स्वच्छानि अम्बराणि केवलं नामतः न (अपितु) अर्थतः अपि आकाशसाम्यं दधुः।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम्। छन्नेषु = आच्छादितेषु। अपि = अपि। स्पष्टतरेषु = प्रत्यक्षेषु। नारीकुचमण्डलेषु = रमणीस्तनभागेषु। स्वच्छानि = विमलानि, सूक्ष्माणि। अम्बराणि = वस्त्राणि। केवलं = मात्रम्। नामतः = संज्ञेव। न = न। अर्थतः = कार्यकलापतः। अपि = अपि। आकाशसाम्यम् = व्योमसादृश्यम्। दधुः = धारितवन्ति।

विशेषः—अत्र उपमालङ्कारः। अतिसूक्ष्मत्वात् अव्यवधायकत्वं दृष्ट्यादेर्मूर्तान्तरगत्यविघातित्वं चेत्यादिनापि साम्यं दधुरित्यर्थः।

कोशः—'स्तनौ कुचौ।' 'अम्बरं व्योम्नि वाससि।' 'अपि सम्भावनाप्रश्न०' (मेदिनी०)।

समासादिः—नारीकुचमण्डलेषु—नारीणां कुचमण्डलं नारीकुचमण्डलं तानि नारीकुचमण्डलानि तेषु। आकाशसाम्यम्—आकाशस्य साम्यम् आकाशसाम्यम्।

व्या०—अपि—उपसर्गः (अव्यय०)। दधुः—धारणपोषणयोः अर्थे डुधाञ् + लिट् ततः झि + ततः उस् प्रत्ययः।

सं० भा०—द्वारकायां रमणीस्तनमण्डलेषु आच्छादितानि (किन्तु) स्पष्ट-गोचरीभूतानि सूक्ष्मनिर्मलवस्त्राणि केवलं नामतः न अपितु कार्यतः गगन (अम्बर)-साम्यं धारितवन्ति । [अम्बराणि = वस्त्राणि । अम्बराणि = गगनानि ।] तत्र वस्त्राणि अति सूक्ष्माणि आसन् । अतः कुचानां आच्छादनं शिथिलम् अभवद् ।

हिन्दी—द्वारका में रमणीकुचमण्डलों पर वस्त्र आच्छादित थे किन्तु वे वस्त्र इतने सूक्ष्म थे कि, (उनकी "चोली" पहनने पर भी) स्त्रियाँ चोली रहित दीखती थीं । अतः कवि कहता है वह अम्बराणि शब्द सार्थक था नाम से भी और काम से भी । नाम से साम्य था कि—'अम्बर' का अर्थ आकाश तथा वस्त्र होता है । काम (कार्य) से साम्य—सूक्ष्म होने से । आकाश जैसे स्पष्ट सबको दिखता है वैसे कुचमण्डल भी सर्वदृश्य था ।

अपरम्कथंभूतेत्याह—

यस्यामजिह्मा महतीमपङ्काः सीमानमत्यायतयोऽत्यजन्तः ।
जनैरजातस्खलनैर्न जातु द्वयेऽप्यमुच्यन्त विनीतमार्गाः ॥ ५७ ॥

अन्वयः—यस्याम् अजिह्माः अपङ्काः महतीं सीमानं अत्यजन्तः अत्यायतयः द्वये अपि विनीतमार्गाः अजातस्खलनैः जनैः जातु न अमुच्यन्त ।

सुधा—यस्यां = द्वारकायाम् । अजिह्माः = अकुटिलाः (पक्षे—अवक्राः) । अपङ्काः = पापरहिताः (पक्षे—कर्दमरहिताः) । महतीं = पूज्याम् । (पक्षे—बृहतीम्) । सीमानं = विस्तारम् । (पक्षे—आचारम्) । अत्यजन्तः = अमुच्यन्तः । अत्यायतयः = अत्यन्तविशालाः । (पक्षे—दीर्घोत्तरसमयाः) । द्वये = उभये । अपि = अपि । विनीतमार्गाः = शुचिवीथयः (पक्षे—साधुमार्गाः) । अजातस्खलनैः = अजातप्रस्तरादिविघातैः (पक्षे—अजातविरुद्धवृत्तैः) । जनैः = लोकैः । जातु = कदाचिदपि । न = न । अमुच्यन्त = त्यक्ताः ।

विशेषः—अत्र मार्गशब्दस्य साधर्म्याद् एकवृन्तावलम्बिफलद्वयवद् एकशब्देन अर्थद्वयप्रतीतेः द्वयानां अपि मार्गाणां प्रकृतत्वाद् च प्रकृतिविषयः अर्थश्लेषः । विशेष्यस्यापि श्लिष्टत्वाद् तुल्ययोगिता न । वृत्तिविषये—आचरेत् सदृशीं वृत्तिम् अजिह्मां अशठां तथा । इति स्मरणाद् इति भावः, अस्ति ।

कोशः—सीमसीमे स्त्रियामुभे । (अमर०) । 'जिह्मः कपटवक्रयोः ।' (विश्व०) । 'पङ्कोऽघेकर्दमे' (हैम०) ।' 'आयतिस्तूत्तरे काले संयमायामयोरपि ।' (विश्व०) ।

समासादि:—अजिह्मा:—न वर्त्तते कपटं यस्मिन् ते अजिह्मा: । अथवा न जिह्मा: इति अजिह्मा: । अपङ्का:—न विद्यते पङ्कं येषु ते अपङ्का: । अत्यजन्त:—न त्यजन्त: इति अत्यजन्त: । अत्यायतय:—अतिमात्रा आयति: येषां ते अत्यायतय: । द्वये—द्वौ अवयवौ येषां ते द्वये । विनीतमार्गा:—विनीता: च मार्गा: च विनीतमार्गा: । अथवा विनीतानां मार्गा: विनीतमार्गा: । अजातस्खलनै:—न जातं इति अजातं—अजातं स्खलनं येषां तै: अजातस्खलनै: ।

व्या०—महतीम्—महती + अम् = महतीम् । द्वये—अत्र 'द्वित्रिभ्यां तपस्यायज्वा' सूत्रेण तपस्य स्थाने अयजादेश: । तत: 'प्रथमचरमतया०' सूत्रेण विभाषया सर्वनामसंज्ञा । द्वौ अवयवौ येषां ते द्वये । अमुच्यन्त—मुच्लृ + लङ् (कर्मणि प्रयोगे) तत: 'झ' तत: 'यक्' भवति ।

सं० भा०—द्वारकायां सरला: (निष्कपटा:), कर्दमरहिता: (दोषरहिता:) अलङ्घितमर्यादा: (अलङ्घितसीमायुक्ता:) मार्गा: आसन् तथा अतिदीर्घा: (अधिकोन्नतिकाला:) द्विप्रकारसुपरिचितमार्गा: । अविरुद्धाचरणशीला: (प्रस्तरादिना अपीडिता:) आसन् । तत्र जना: निवसन्त: सरलादिमार्गान् न त्यक्तवन्त: ।

हिन्दी—द्वारकापुरी में सरल (निष्कपट) दोषहीन (कर्दमहीन) मर्यादा (सीमा) का उल्लंघन न करनेवाले तथा दीर्घ (उत्तर काल में उन्नति शील) दो प्रकार के सुपरिचित मार्गों को प्रस्तर (पत्थर) प्रभृति से क्लेश न प्राप्त करनेवाले सरल सदाचारी जनों ने नहीं त्यागा—सदा वे लोग सावधान होकर निष्कपट भाव से उस द्वारका में रहते थे—किसी को कष्ट नहीं देते थे तथा विरुद्धाचरणशील भी नहीं थे । यहाँ पर 'विनीतमार्गा:' पद श्लेष युक्त है—एक तरफ मुड़े हुए मार्ग अर्थ है, तो दूसरी ओर 'सदाचार' परक अर्थ है । अत: सभी विशेषण भी द्व्यर्थक है ।

अन्यच्च कीदृशीत्याह—

परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपा: पौरस्त्रियो यत्र विधाय वेधा: ।
श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यमलं　　　ममार्ज ॥ ५८ ॥

अन्वय:—यत्र परस्परस्पर्धिपरार्ध्यरूपा: पौरस्त्रिय: विधाय वेधा: श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम् अलं ममार्ज ।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम् । परस्परस्पर्धिपरार्घ्यरूपाः = अन्योन्यस्पर्धनशीलोत्कृष्टसौन्दर्याः । पौरस्त्रियः = पौरसुन्दर्यः । विधाय=रचयित्वा । वेधाः = आत्मभूः । श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणैकवर्णोपमावाच्यम् = रमानिर्माणप्राप्तवज्रकीटोत्कीर्णकाक्षरसादृश्यापवादम् । अलं = पर्याप्तम् । ममार्ज = प्रक्षालितवान् ।

विशेषः—अत्र 'वाच्यमलं' पदस्य केचिज्जनाः 'वाच्यमेव मलम्' इतिभावं कुर्वन्ति । अस्मिन् संसारे नराः, सदा "ब्रह्मणः अयं अपवादः अस्ति," कथयन्ति । यद् सुन्दरं वस्तुनिष्पादने ब्रह्मा अशक्तः वर्त्तते । तेन या श्रीः निर्मिता सा तु घुणाक्षरन्यायेन—रचिता । यथा—घुणः काष्ठे कदाचित् एकं अक्षरं रचयति तत्र घुणस्य कौशलं नास्ति । तेनैव प्रकारेण अत्रापि । अतः लक्ष्मीरचनाकरणप्राप्तं घुणाक्षरलाञ्छनं समस्तपुरनारीसौदर्न्यविधानाद् प्रक्षालयत् । अतिशयोक्त्या अनया पौरस्त्रीणां रमासदृशसौन्दर्यं द्योत्यते ।

कोशः—'रूपं स्वरूपे सौन्दर्ये' (विश्व०) । निर्माणं निर्मितौ' (मेदिनी०) । 'अलं भूषणपर्याप्ति' (अमर०) ।

समासादिः—परस्परस्पर्धिपरार्घ्यरूपाः—परस्परस्पर्धीनि परार्घ्यानि रूपाणि यासान्ताः परस्परस्पर्धिपरार्घ्यरूपाः । पौरस्त्रियः—पुरे भवाः पौराः पौराणां स्त्रियः पौरस्त्रियः ताः । श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम्—एकः च असौ वर्णः च एकवर्णः, घुणैः क्षतः घुणक्षतः घुणक्षतः च असौ एक वर्णः च घुणक्षतैकवर्णः घुणक्षतैकवर्णस्य उपमा तया वाच्यम्—घुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम्, श्रियाः निर्मितिः श्रीनिर्मितिः श्रीनिर्मित्या प्राप्तं, श्रीनिर्मितिप्राप्तं तद् घुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम्, श्रीनिर्मितिप्राप्तघुणक्षतैकवर्णोपमावाच्यम् ।

व्या०—वेधस् + सु = वेधाः । ममार्ज—मृजूष शुद्धौ लिट् ततः तिप् ततः णल् = ममार्ज ।

सं० भा०—द्वारकायां परस्पर्धनशीलरूपसम्पन्ननारीणां निर्माणं कृत्वा ब्रह्मा घुणाक्षरन्यायेन स्वरचितलक्ष्मीरचनानिन्दां दूरीकृतवान् ।

हिन्दी—द्वारका पुरी में परस्पर स्पर्धनशील रूपवाली रमणियों का निर्माण करके घुणाक्षरन्याय के साम्य से निर्मित रमा की रचना से प्राप्त अपवाद (निन्दा) को ब्रह्मा ने उत्तम रीति से परिष्कृत कर दिया—

[विशेषः—द्वारका में निर्मित उत्तमांगनाओं की रचना के पूर्व लोग ब्रह्मा की

निन्दा करते थे कि—"ऐसी सुन्दर लक्ष्मी, ब्रह्मा ने घुण द्वारा काष्ठ पर निर्मित अक्षर के तुल्य भाग्यवश वना दी।" उसी अपवाद को ब्रह्मा ने द्वारका में अनेक सुन्दरियों को बनाकर दूर कर दिया।]

तत्रापूर्वधनसम्पत्तिमाह—

क्षुण्णं यदन्तःकरणेन वृक्षाः फलन्ति कल्पोपपदास्तदेव।
अध्यूषुषो यामभवञ्जनस्य याः सम्पदस्ता मनसोऽप्यगम्याः ॥ ५६ ॥

अन्वयः—यत् अन्तःकरणेन क्षुण्णं कल्पोपपदा वृक्षाः तदेव फलन्ति याम् अध्यूषुषः जनस्य याः सम्पदः अभवन् ताः मनसः अपि अगम्याः।

सुधा—यद् = वस्तु। अन्तःकरणेन = चित्तेन। क्षुण्णम् = चिन्तितम्। कल्पोपपदाः = कल्पविशेषकाः। वृक्षाः = पादपाः। तदेव = चिन्तितमेव। फलन्ति = प्रकटयन्ति। याम् = द्वारकाम्। अध्यूषुषः = अधिवसतः। जनस्य = प्राणिनः। याः = याः। सम्पदः = लक्ष्म्यः। अभवन् = आसन्। ताः = सम्पदः। मनसः = चित्तस्य। अपि = अपि। अगम्याः = अचिन्त्याः।

विशेषः—यत्र प्रार्थितात् अधिकं आप्नोति तत्र मनसा अपि वाञ्छितुं न शक्यते। वाचां अभूमयः इति किमु वक्तव्यम्। द्वारकायां भवने भवने कल्पवृक्षवर्णनसम्बन्धातिशयोक्त्या तत्र स्थितानां देवेन्द्रभोगो व्यज्यते। अत्र 'कल्प' इति उपपदं स्वसंज्ञैकदेशः अस्ति। येषां व्याख्याने हिरण्यपूर्वंकशिपुं इत्यादिवत्—अवाच्यवचनदोषावकाशः।

कोशः—'सन्तानः कल्पवृक्षश्च।' 'अथ सम्पदि सम्पत्तिः श्रीश्च।' 'स्वान्तं हृन्मानसं मनः।' (अमर०)।

समासादिः—अन्तःकरणेन—अन्तः च असौ करणञ्च अन्तःकरणम् तेन। कल्पोपपदाः—कल्पाः, उपपदं येषां ते कल्पोपपदाः।

व्या०—कल्पोपपदाः—कल्पोपपद + जस् = कल्पोपपदाः। फलन्ति—अत्र 'फलनिष्पत्तौ इत्यनेन धातोः लट् ततः 'झि' = फलन्ति। याम्—अत्र 'उपान्वध्याङ्वसः' इति सूत्रेण कर्मत्वं भवति। अध्यूषुषः—अत्र 'भाषायां सदवसश्रुवः' सूत्रेण क्वसुः प्रत्ययः भवति। अभवन्—'भू' धातुना लङ् ततः झि प्रत्ययः भवति।

सं० भा०—जनाः यानि वस्तूनि चित्तेन वाञ्छन्ति कल्पवृक्षाः तानि तेभ्यः ददति किन्तु द्वारकायां स्थितजनानां सम्पत्तिः चित्तकल्पनायाः अपि अधिकतरा।

हिन्दी—स्वर्गीय कल्पवृक्ष उसी पदार्थ को देता है जिसे मनुष्य चित्त से चाहते हैं किन्तु द्वारका निवासियों के समीप चित्त की कल्पना से भी अधिक सम्पत्तियाँ थीं । अर्थात्—देवेन्द्रभोग सामग्रियाँ वहाँ थीं ।

पुनः कीदृशीत्याह—

कला दधानः सकला स्वभाभिरुद्भासयन् सौधसिताभिराशाः ।
यां रेवतीजानिरियेष हातुं न रौहिणेयो न च रोहिणीशः ॥ ६० ॥

अन्वयः—सकलाः कलाः दधानः सौधसिताभिः स्वभाभिः आशाः उद्भासयन् रेवतीजानिः रौहिणेयः यां हातुं न इयेष रोहिणीशः च (अपि) न ।

सुधा—सकलाः = समस्ताः । कलाः = वाद्यगीतादिचतुःषष्टिकलाः । पक्षे कलाः = रेखाः = षोडशांशभागांश्च । दधानः = धारणं क्रियमाणः । सौधसिताभिः = शुभ्रसद्म-शुभ्राभिः । स्वभाभिः = निजकान्तिभिः । आशाः = काष्ठाः । उद्भासयन् = प्रकाशयन् । रेवतीजानिः = रेवतीपतिः । रौहिणेयः = रोहिणीतनयः (बलरामः) । यां = द्वारकाम् । हातुं = त्यक्तुम् । न इयेष = न वाञ्छति स्म । रोहिणीशः = चन्द्रमाः च = अपि । न = न (इच्छति स्म) ।

विशेषः—द्वारकायां चन्द्रबलदेवौ सदा ऊषतुः । अत्र केवलप्रकृतविषयतुल्ययोगितालङ्कारः—रोहिणीशरौहिणेययोः परमोत्कर्षावहत्वेन उभयोः विशेषस्य अश्लिष्टत्वात् प्रकृतत्वात् च । [रेवत्याः अपरं नाम ककुद्मिकन्या तथा तारा अपि आसीत्] [बलभद्रस्य मातृनाम रोहिणी आसीत्] [चन्द्रस्य पत्नी रोहिणी अस्ति] ।

कोशः—'कला तु षोडशो भागः ।' 'कला शिल्पे कालभेदे ।' 'नीलाम्बरो-रौहिणेयः' (अमर०) ।

समासादिः—सौधसिताभिः—सौधं, इव सिताः सौधसिताः ताभिः । स्वभाभिः—स्वस्य भाः स्वभाः ताभिः । रेवतीजानिः—रेवतीजाया यस्य सः रेवतीजानिः । रौहिणेयः—रोहिण्याः, अपत्यं पुमान् रौहिणेयः । रोहिणीशः—रोहिण्याः ईशः ।

व्या०—स्वभाभिः—स्वभा + भिस् = स्वभाभिः । रेवतीजानिः—रेवती + जाया अत्र 'जायाया निङ्' सूत्रेण 'निङ्' आदेशः ततः 'लोपो व्योर्वलि' सूत्रेण यकारलोपः । रौहिणेयः—रोहिणी + ढक् , अत्र 'स्त्रीभ्यो ढक्' सूत्रेण ढक् पुनः ढक् स्थाने इय् ।

'हातुम्'–अत्र ओहाक् त्यागे तुमुन् भवति। इयेष—इच्छायाम्—इषु पुनः लिट् ततः तिप् ततः णल् भवति।

सं० भा०—सम्पूर्णकला–(षोडशकला–) धारयन् सुधालिप्तसौध (भवन) तुल्यकान्तिना गगनं प्रकाशयन् रेवतीरमणः, चन्द्रमा च तां द्वारकां त्यक्तुं न इच्छतः स्म। तौ तत्र सदा निवसतः स्म।

हिन्दी—चूने से पुते हुए सद्म के सदृश शुभ्र कान्ति से दिशाओं को देदीप्यमान करते हुए, समस्त चौंसठ अथवा सोलह कलाओं को धारण करते हुए रेवती के पति बलिरामजी तथा चन्द्रमा (रौहिणेय) द्वारकापुरी को त्यागना नहीं चाहते थे—सदा वहाँ स्थित रहना चाहते थे।[1]

बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेरासत्तिमासाद्य जनार्दनस्य।
शरीरिणा जैत्रशरेण यत्र निःशङ्कमूषे मकरध्वजेन॥ ६१॥

अन्वयः—यत्र बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः जनार्दनस्य आसत्तिं आसाद्य शरीरिणा जैत्रशरेण मकरध्वजेन निःशङ्कम् ऊषे।

सुधा—यत्र = द्वारकायाम्। बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः = बाणासुरसंग्राम निर्वर्तितशङ्करबलस्य। जनार्दनस्य = हरेः। आसत्तिं = सामीप्यं (प्रत्यासत्तिम्)। आसाद्य = प्राप्य। शरीरिणा = देहवता। जैत्रशरेण = सफलबाणप्रसरेण। मकरध्वजेन = मीनकेतुना (प्रद्युम्नेन)। निःशङ्कम् = निर्भयम्। ऊषे = उषितम्।

विशेषः—अत्र विशेषणगत्या शङ्करबलव्याघातवस्तुनः निर्भयनिवासकारणत्वेनोक्तेः, काव्यलिङ्गालङ्कारः अस्ति। अस्मिन् विषये एका पौराणिकी कथा वर्तते प्राचीनकाले बाणासुरस्नेहेन दीनानाथशिवः बाणासुराभियोधिनं कृष्णं अभियुज्य पराजितः अभवत्।

कोशः—'जैत्रस्तु जेता'। 'मकरध्वज आत्मभूः।' (अमर०) 'शङ्कावितर्कभययोः।' (विश्व०)

समासादिः—बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तेः—शम्भोः शक्तिः शम्भुशक्तिः बाणस्य आहवः बाणाहवः, बाणाहवे व्याहता शम्भुशक्तिः येन सः बाणाहवव्याहतशम्भुशक्तिः तस्य। मकरध्वजेन—मकरः ध्वजे यस्य सः मकरध्वजः तेन।

---

१. यहाँ श्लिष्ट विशेषणों के कारण तथा चन्द्र एवं बलराम के प्रस्तुत विषय होने से तुल्ययोगिता अलंकार है।

व्या०—जनार्दनस्य—जनार्दन + स्य = जनार्दनस्य । ऊषे—वसनिवासे, भावे लिट् ततः 'त' एश् प्रत्ययः । अत्र 'वचिस्वपियजा०' सूत्रेण संप्रसारणम् भवति ।

सं० भा०—बाणासुरसंग्रामे शिवशक्ति नाशयितुः कृष्णस्य सामीप्यं प्राप्य विजयशीलशरधारी देहधारी कामः द्वारकानगर्यां निर्भयं वसति स्म ।

हिन्दी—बाणासुर संग्राम में शंकर जी के बल को विनष्ट करने वाले श्रीकृष्ण भगवान् के नैकट्य को प्राप्तकर विजयशील शरधारी, देहधारी कामदेव द्वारका नगरी में निःशङ्क निवास करता था ।[1]

अपरं कथम्भूतेत्याह—

निषेव्यमाणेन शिवैर्मरुद्भिरध्यास्यमाना हरिणा चिराय ।
उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धावाह्वास्त मेरावमरावतीं या ॥ ६२ ॥

अन्वयः—शिवैः मरुद्भिः निषेव्यमाणेन हरिणा चिराय अध्यास्यमाना उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि सिन्धौ मेरौ अमरावतीम् या आह्वास्त ।

सुधा—शिवैः = कल्याणप्रदत्रिभिः (शीतलमन्दसुगन्धयुक्तैः) पक्षे—एकादश रुद्रैः । मरुतैः = पवनैः । पक्षे—देवैः । निषेव्यमाणेन = संसेव्यमानेन । हरिणा = कृष्णेन । पक्षे—इन्द्रेण । चिराय = चिरकालम् अध्यास्यमाना = संस्थीयमाना । उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि = ऊर्ध्वमयूखमणिशलाकास्थले । सिन्धौ = सागरे । मेरौ = सुमेरुशैले । अमरावतीम् = शक्रपुरीम् । या = द्वारका । आह्वास्त = स्पर्धापूर्वकं आहूतवती ।

विशेषः—उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि पर्याये विशेषः भावः अस्ति । अर्थात्—द्वारकापक्षे रत्नाकरत्वात् विशिष्टा तथा सुमेरुपक्षे—रत्नसानुत्वात् विशिष्टा । अत्र-

---

१. एकदा स्वप्न में बाणासुर की पुत्री ऊषा ने अनिरुद्ध (कृष्ण भगवान् के पौत्र) को देखा तथा अपनी सखी चित्ररेखा से उनका अपहरण करा लिया । ज्ञात होने पर कृष्णजी ने बाणासुर की राजधानी शोणितपुर पर चढ़ाई कर दी । वहां शंकरजी ने बाणासुर का पक्ष लेकर (बाणासुर शंकरभक्त था अतः भक्त को साहाय्य देने के लिये) श्रीकृष्ण के साथ युद्ध किया । श्रीकृष्ण ने शंकरजी को जीत लिया तथा अनिरुद्ध सहित ऊषा के साथ द्वारका आये । यह श्लोक बतलाता है कि द्वारका में नर-नारी सभी बढ़कर थे—सुन्दरता में पृथ्वी पर उनके समान कोई न था ।

श्लोके प्रथम द्विपादयोः श्लेषे स्थलेऽपि सिन्धौ मेरौ स्थितां, इति प्रतिबिम्बभावेन साधर्म्योक्तेः इयं उपमा श्लेषानुप्राणिता। आह्वास्त इति सादृश्यप्रतिपादकः शब्दः। स्पर्धते ह्वयते द्वेष्टि इति अनुशासनात्।

कोशः—'श्वश्रेयसं शिवं भद्रम्'। 'मेरुः सुमेरुः हेमाद्री'। 'नगरी त्वमरावती।' (अमर०)। 'यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु (विश्व०)।

समासादिः—उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम्नि—रत्नानां अङ्कुराः रत्नाङ्कुराः, उद्गताः रश्मयः येषां ते उद्रश्मयः, उद्रश्मयः च ये रत्नाङ्कुराः च उद्रश्मिरत्नाङ्कुराः उद्रश्मिरत्नाङ्कुराणां धाम उद्रश्मिरत्नाङ्कुरधाम तस्मिन्। अमरावतीम्—अमराणां अवती तां अमरावतीम्। (अवती = रक्षिका)।

व्या०—चिराय—अव्ययपदम्। आह्वास्त—अत्र ह्वयतेः लुङ् ततः त ततः 'स्पर्धायामाङ्' सूत्रेण आत्मनेपदम् ततः 'लिपि सिचि ह्वश्च।' पक्षे—'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' सूत्रेण च्लेः अङभावपक्षे सिच् आदेशः भवति।'

सं० भा०—कल्याणप्रदपवनैः अथवा कल्याणप्रद देवैः (रुद्रैः देवैश्च) सेव्यमानकृष्णेन अथवा सेव्यमानशक्रेण बहुकालं अधिष्ठीयमाना ऊर्ध्वकिरणरत्नशलाकास्थाने समुद्रे स्थिता द्वारका सुमेरौ स्थितशक्रपुरीं स्पर्धापूर्वकं आकारयत्।

हिन्दी—कल्याणप्रद त्रिप्रकार की (शीतल मन्द सुगन्ध वाली) पवनों से चिरकाल से सेवित तथा श्रीकृष्ण से अधिष्ठित अथवा एकादश रुद्रों तथा देवगणों से सेवित एवं इन्द्र भगवान् से अधिष्ठित जिनकी मयूखें (किरणें) ऊर्ध्वप्रदेश की ओर उठ रही हैं ऐसे रत्नांकुरों के स्थल में विद्यमान द्वारका नगरी उस अमरावती की स्पर्धा कर रही थी—मानो उसे ताल ठोककर ललकार रही थी—जो अमरावती ऊपर की ओर देदीप्यमान किरणों से व्याप्त रत्नांकुरों के स्थानभूत सुमेरु शैल पर विद्यमान (स्थित) थी।

विशेष—यहाँ पर अमरावती और द्वारका का साम्य दिखाया गया है—अमरावती में रुद्र तथा देवगण सेवित इन्द्र रहते हैं तथा वह देदीप्यमान किरणवाले रत्नांकुरों से व्याप्त सुमेरु पर्वत पर विद्यमान है। द्वारका में भी तीन प्रकार की पवनों से सेवित श्रीकृष्ण रहते हैं एवं यह (द्वारका) भी देदीप्यमान किरण वाले रत्नांकुर से परिव्याप्त समुद्र में स्थित है। अतः दोनों (अमरावती और द्वारका)

समान हैं। समान होने के अभिमान में द्वारका अमरावती को मानो ललकारती है कि, हे अमरावति, मैं तुमसे अधिक हूँ—कम नहीं हूँ। मेरा वैभव तो देखो।

पुनः कथम्भूतेत्याह—

स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तो वध्वा इवाध्वंसितवर्णकान्तेः।
विशेषको वा विशिशेष यस्याः श्रियं त्रिलोकीतिलकः स एव ॥ ६३ ॥

अन्वयः—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः सुवृत्तः त्रिलोकीतिलकः सः, एव विशेषकः वा अध्वंसितवर्णकान्तेः वध्वाः इव यस्याः श्रियं विशिशेष।

सुधा—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः=चिक्कणकज्जलइव कृष्णच्छविः। पक्षेचिक्कण-कज्जलेन कृष्णशोभा। सुवृत्तः = वर्त्तुलः। पक्षे—सदाचारः। त्रिलोकीतिलकः = त्रिभुवनभूषणः। सः, एव = श्रीकृष्णः, एव। विशेषकः वा = तिलकः, इव अध्वंसितवर्णकान्तेः = असंकीर्णविप्रादिवर्णकान्तेः। पक्षे—अविनष्टगौरादिवर्ण-सौन्दर्यायाः। वध्वा इव = नायिकाया इव। यस्याः = द्वारकायाः। श्रियं = छविम्। विशिशेष = प्रचुरां कृतवान्।

विशेषः—अनेकशब्देयमुपमेत्येके। शब्दमात्रसादृश्यात् श्लेष इत्यन्ये। श्लेषोप-मेत्याह—दण्डी। अत्र श्लोके 'वा' इत्यस्य विषये—'इववद्वा यथा शब्दः,' इति अनुशासनात्।

कोशः—'वर्णोद्विजादौ शुक्लादौ।' 'तमालपत्रतिलकचित्रकाणि विशेषकम्।' (अमर०)।

समासादिः—स्निग्धाञ्जनश्यामरुचिः—स्निग्धः च असौ अञ्जनश्च स्निग्धाञ्जनः, स्निग्धाञ्जनः, इव श्यामा रुचिः यस्य सः अथवा स्निग्धाञ्जनेन श्यामा रुचिः यस्य सः स्निग्धाञ्जनरुचिः। सुवृत्तः—शोभनः च असौ वृत्तः च सुवृत्तः। अथवा शोभनं वृत्तं यस्य सः सुवृत्तः। त्रिलोकीतिलकः—त्रयाणां लोकानां समाहारः त्रिलोकी त्रिलोक्याः तिलकः त्रिलोकीतिलकः। विशेषकः—विशेषयति इति विशेषकः। अध्वं-सितवर्णकान्तेः—वर्णानां कान्तिः वर्णकान्तिः न ध्वंसिता वर्णानां कान्तिः यस्याः तस्याः अध्वंसितवर्णकान्तेः।

व्या०—सुवृत्तः = सुवृत्त + सु = सुवृत्तः। त्रिलोकी—अत्र 'तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च' सूत्रेण समासः ततः 'संख्यापूर्वो द्विगुः' सूत्रेण द्विगु संज्ञा ततः स्त्रीत्वे 'द्विगोः' सूत्रेण 'ङीप्' भवति। विशिशेष—'वि उपसर्गपूर्वकात् शिष्लृ विशेषणे इति धातोः लिट् ततः तिप् ततः णल्—विशिशेष।

सं० भा०—यथा चिक्कणकज्जलेन श्यामवर्णः वर्त्तुलः तिलकः अनष्टवर्ण-लावण्यशरीरधारिणीसुन्दरीणां शोभां वर्धयति तथैव चिक्कणकज्जलतुल्यवर्णधारी त्रिभुवनभूषणरूपश्रीकृष्णः ब्राह्मणादिवर्णमर्यादाप्रणष्टायाः द्वारकायाः छविं वर्द्धितवान्। [द्वारकानगरी ब्राह्मणादिवर्णमर्यादा रक्षिका आसीद]।

हिन्दी—जिस प्रकार चिकने कज्जल से कृष्णवर्णवाला पूर्णरूपेण गोल आकारवाला ललाट का तिलक, जिस युवती के सौन्दर्य नष्ट नहीं हुए हैं जो वर्ण (रंग) से गोरी-नारी है उसकी छवि को बर्द्धित करता है—उसी प्रकार चिक्कण कज्जल के सदृश रंगवाले, सुवृत्त त्रिलोक के भूषण भगवान् कृष्णने भी उस द्वारका नगरी की छवि वर्द्धित की जिसमें ब्राह्मणादि वर्ण की मर्यादा नष्ट नहीं हुई थी—अपितु ब्राह्मण-क्षत्रिय वैश्य-शूद्रवर्ण की वह मार्यादारक्षिका थी।

अथ कृष्णस्य प्रतोलीप्राप्तिमाह—

तामीक्षमाणः स पुरं पुरस्तात्प्रापत्प्रतोलीमतुलप्रतापः।
वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीर्या देवसेनेव परैरलङ्घ्या ॥ ६४ ॥

अन्वयः—अतुलप्रतापः सः तां पुरम् ईक्षमाणः पुरस्तात् प्रतोलीं प्रापत् ; वज्रप्रमोद्भासिसुरायुधश्रीः या देवसेना इव परैः अलङ्घ्या।

सुधा—अतुलप्रतापः = अनुपमबलः। सः = हरिः। तां = पूर्वोक्ताम्। पुरं = द्वारकाम्। ईक्षमाणः = अवलोकमानः। पुरस्तात् = अग्रे। प्रतोलीं = रथ्याम्। प्रापत् = आससाद। वज्रप्रमोद्भासिसुरायुधश्रीः = तोरणगतहीरकादिमणिदेदीप्य-मानशक्रकार्मुकछविः। या = प्रतोली। देवसेना इव = अमरचमूवत्। परैः = शत्रुभिः। अलङ्घ्या = दुष्प्रधर्ष्या।

विशेषः = अत्र उपमालङ्कारः। गौडीरीतिः।

कोशः—'स प्रतापः प्रभावश्च।' 'रथ्या प्रतोली विशिखा'। 'आयुधं तु प्रहरणम्।'

समासादिः—अतुलप्रतापः—अतुलः प्रतापः यस्य सः अतुलप्रतापः। वज्र-प्रमोद्भासिसुरायुधश्रीः—सुरस्य आयुधं सुरायुधम् सुरायुधस्य श्रीः सुरायुधश्रीः, वज्राणां प्रभा वज्रप्रभा वज्रप्रभयोः उद्भासिनी वज्रप्रभोद्भासिनी वज्रप्रभोद्भासिनी सुरायुधश्रीः यस्यां सा अथवा यया सा। अथवा—सुराणाम् आयुधानि सुरायुधानि तेषां श्रीः सुरायुधश्रीः वज्राणां प्रभाः वज्रप्रभाः ताभिः उद्भासिनी सुरायुधश्रीः यस्याः सा वज्रप्रभोद्भासिसुरायुधश्रीः।

व्या०—सः—तद्-सः (पुल्लिङ्गे)। प्रापत्—प्र + आप्लृ व्याप्तौ + लुङ् ततः तिप् 'पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु' सूत्रेण च्लेः अङ् आदेशः।

सं० भा०—अनुपमपराक्रमी श्रीकृष्णः द्वारकां विलोकयन् पूर्वदिक्प्रतोलीं आगतवान्। हीरकरत्नप्रभया शक्रधनुषः इव शोभायुक्ता देवसेना इव शत्रुभिः अलङ्घ्या सा प्रतोली आसीत्।

हिन्दी—द्वारकापुरी की अनुपम छवि को देखते हुए श्रीकृष्णजी पूर्वदिशा की प्रतोली (गली) में आ गये। वह प्रतोली तोरणादि में जटित हीरों से सुशोभित थी अथवा इन्द्रधनुष के सदृश कान्ति से देदीप्यमान थी और देवसेना के तुल्य शत्रुओं से दुर्लंघ्य थी। [देवताओं की सेना को कोई नहीं जीत सकता—उसी प्रकार वह भी अलंघ्य थी]।

अथ द्वारकातः श्रीकृष्णसेनानिष्क्रमणमाह—

प्रजा इवाङ्गादरविन्दनाभेः शम्भोर्जटाजूटतटादिवापः।
मुखादिवाथ श्रुतयो विधातुः पुरान्निरीयुर्मुरजिद्ध्वजिन्यः॥ ६५॥

अन्वयः—अथ अरविन्दनाभेः अङ्गात् प्रजाः इव, शम्भोः जटाजूटतटात् आपः इव, विधातुः मुखात् श्रुतयः, इव पुरात् मुरजिद्ध्वजिन्यः निरीयुः।

सुधा—अथ = अनन्तरम्। अरविन्दनाभेः = नारायणस्य। अङ्गात् = शरीरात्। प्रजाः इव = जनाः इव। शम्भोः = शङ्करस्य। जटाजूटतटात् = सटाबन्धस्थलात्। आपः इव = जलानि (गङ्गानीराणि) इव। विधातुः = ब्रह्मणः। मुखात् = वदनात्। श्रुतयः, इव = वेदा इव। पुरात् = द्वारकानगरात्। मुरजिद्ध्वजिन्यः = श्रीकृष्णभगवतः सेनाः। निरीयुः = निष्क्रान्ताः।

विशेषः—अस्मिन् श्लोके—मालोपमालङ्कारः। विष्णुशरीरात् प्रजाः अभवन् अत्र श्रुतिवचनम्—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते।'

कोशः—'विधाता विश्वसृड्विधिः।' 'अरविन्दं महोत्पलम्।' 'आननं लपनं मुखम्।' (अमर०)।

समासादिः—अरविन्दनाभेः—अरविन्दं नाभौ यस्य सः, तस्य अरविन्दनाभेः। जटाजूटतटात्—जटानां जूटः जटाजूटः तस्य तटं जटाजूटतटम् तस्मात् जटाजूटतटात्। मुरजिद्ध्वजिन्यः—मुरः (राक्षसः) जितः येन सः मुरजित् मुरजितः ध्वजिन्यः मुरजिद्ध्वजिन्यः।

व्या०—आप:—अप् + जस् = आप: । निरीयु:—निर् उपसर्गपूर्वक इण् गतौ धातुना लिट् तत: 'झि' तत: उस् = निरीयु: ।

सं० भा०—तत: विष्णुशरीरात् जना इव, शङ्करजटाजूटस्थलात् गङ्गाजलमिव, ब्रह्मण: मुखात् वेदा इव द्वारकानगरात् हरिसेना: निसत्रु: ।

हिन्दी—यथा विष्णु के शरीर से प्रजा, शङ्करजी के जटा (सटा) संघस्थल से गङ्गाजल, ब्रह्माजी के मुख से वेद निकलते हैं तथैव द्वारका नगरी से हरिसैन्य का बहिर्निगमन हुआ । 'तस्यनि:श्वसितं वेदा: ।' यह देद वाक्य ब्रह्ममुख से वेदप्राकट्य का प्रमाण है ।

अथाश्ववाराणां निष्क्रमणमाह—

श्लिष्यद्भिरन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं हरिभिर्विलोलै: ।
परस्परोत्पीडितजानुभागा दु:खेन निश्चक्रमुरश्ववारा: ।। ६६ ।।

अन्वय:—अन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं श्लिष्यद्भि: विलोलै:, हरिभि: अश्ववारा: परस्परोत्पीडितजानुभागा: दु:खेन निष्चक्रमु: ।

सुधा—अन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलत्खलीनं = परस्पराननव्यतिकरस्खलत्कविकम् । श्लिष्यद्भि: = घृष्यद्भि: । विलोलै: = चपलै: । हरिभि: = तुरगै: । अश्ववारा: = हयारोहा: । परस्परोत्पीडितजानुभागा: = इतरेतरघर्षितोरुप्रदेशा: । दु:खेन=क्लेशेन । निश्चक्रमु: = निर्जग्मु: ।

विशेष:—अत्र स्वभावोक्त्यतिशयोक्त्ययो: कारणात् सङ्करालङ्कार: ।

कोश:—'पीडा बाधा व्यथादु:खमामनस्यं प्रसूतिजम् । (अमर०) ।

समासादि:—अन्योन्यमुखाग्रसङ्गस्खलीनं—अन्योन्य मुखानां अग्राणि अन्योन्यमुखाग्राणि मुखाग्रेषु सङ्ग: मुखाग्रसङ्ग: तेन अन्योन्यमुखाग्रसङ्गेन, अन्योन्यमुखाग्रसङ्गेन स्खलन्त: खलीना: यस्मिन् कर्मणि तत् यथास्यात्तथा । अश्ववारा:—अश्वान् वारयन्ति इति । परस्परोत्पीडितजानुभागा:—परस्परै: उत्पीडिता: जानुभागा: येषां ते ।

व्या०—दु:खेन—दु:ख + टा + इन = दु:खेन । निष्चक्रमु:—निस् + क्रमु—लिट् तत: झि तत: उस् ।

सं० भा०—इतरेतरतुण्डव्यतिकरस्खलत्कविक मिलद्भि: चपलै: अश्वै: अश्वारोहा: अन्योन्यपीडितजानुप्रदेशा: कष्टेन निष्क्रान्ता: ।

हिन्दी—परस्पर मुखाग्र के सटने से घर्षित होती हुई लगामवाले, रगड़ खाते हुए चपल घोड़ों से अन्योन्य में सटी हुई जाँघोंवाले घुड़सवार क्लेशपूर्वक बाहर गये।

अथ मार्गे द्विपानां सुखपूर्वकं गमनमाह—

निरन्तरालेऽपि विमुच्यमाने दूरं पथि प्राणभृतां गणेन।
तेजोमहद्भिस्तमसेव दीपैर्द्विपैरसम्बाधमयाम्बभूवे॥ ६७॥

अन्वयः—तमसा इव प्राणभृतां गणेन निरन्तराले अपि पथि दूरं विमुच्यमाने तेजोमहद्भिः द्विपैः दीपैः, इव असम्बाधम् अयाम्बभूवे।

सुधा—तमसा इव = ध्वान्तेन इव (अन्धकारेण इव) प्राणभृतां जन्तूनाम्। गणेन = समूहेन। निरन्तराले = अतिसङ्कटे। पथि = मार्गे। दूरं = दूरतः। विमुच्यमाने = त्यज्यमाने। तेजोमहद्भिः = कान्तिसम्पन्नैः अथवा बलशालिभिः। द्विपैः = गजैः। दीपैः, इव = दीपकैः, इव। असम्बाधम् = अकठिनम् (असङ्कटम्) अयाम्बभूवे = अगामि, जग्मे।

विशेषः—अत्र 'तमसा' स्थाने 'तमसि' वर्त्तते तत्र तु अयुक्तम्।

कोशः—'पन्थानं पदवी सृतिः।' 'दीपः प्रदीपः।'. 'द्विरदोऽनेकपोद्विपः।' (अमर०) तेजो बलं प्रभा तेजः।' (विश्व०)।

समासादिः—प्राणभृताम्—प्राणान् बिभ्रति इति प्राणभृतः, तेषाम्। तेजोमहद्भिः—तेजसा महान्तः तेजोमहान्तः, तैः।

व्या०—पथि—पथिन् + ङि = पथि।. अयाम्बभूवे—अत्रस्थले 'अय गतौ' भावे लिट् ततः 'त' ततः एश् भवतेः अनुप्रयोगः भवति पश्चात् द्वित्वादिकार्याणि ततः 'दयायासश्च' सूत्रेण आम् प्रत्ययः।

सं० भा०—यथा अन्धकारेण प्राणिसमूहेन अतिसङ्कटे मार्गे दूरत एव त्यज्यमाने बलाधिकैः प्रभावसम्पन्नैः गजैः दीपकैः, इव असङ्कटम् जग्मे।

हिन्दी—पूर्णरूपेण जनों से भरे होने पर भी, अन्धकार के सदृश, मनुष्यों से त्यागे हुए मार्ग में कान्तियुक्त दीपकों के तुल्य बलिष्ठ गजों ने सुख से गमन किया।

विशेषः—यथा—अन्धकारमय स्थल को दूर से ही भय के कारण अन्धकार के द्वारा त्यागे हुए मार्ग स्थल में दीपक अच्छी तरह से जाते हैं तथैव जनों से खचाखच भरे हुए तथा भयवश प्राणियों के द्वारा त्यक्त मार्ग में गज सुख से आगे चले।

अथ हयानां हस्तिनखात्समतलभूमिं रथप्रापणमाह—

शनैरनीयन्त रयात्पतन्तो रथाः क्षितिं हस्तिनखादखेदैः ।
सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैस्तुरङ्गैः ॥ ६८ ॥

अन्वयः—रयात् पतन्तः रथाः सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः अखेदैः तुरङ्गैः हस्तिनखात् शनैः क्षितिम् अनीयन्त ।

सुधा—रयात् = वेगात् । पतन्तः = धावन्तः । रथाः = स्यन्दनाः । सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाग्रसंसक्तयुगैः = सप्रयत्नसारथ्याकृष्टरज्जु (प्रग्रह) वक्रीकृतकन्धरासंलग्नयुग्यैः । अखेदैः = खेदहीनैः । तुरङ्गैः = हयैः । हस्तिनखात् = पुरद्वारस्थलात् । शनैः = मन्दम् । क्षितिं = पृथ्वीम् । अनीयन्त = नीताः, प्रापिताः ।

[विशेषः—अत्र यथावत् वस्तुवर्णनात् स्वभावोक्तिः अलङ्कारः अस्ति । तथा च हस्तिनखविषये तु कोऽपि जनः कथयति—पूर्वद्वारि परिकूटं तु सन्तो हस्तिनखं विदुः] ।

कोशः—'सरसी तु रयः स्यदः ।' 'सूतः क्षत्ता च सारथिः ।' 'ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि ।' 'कूटं पूर्द्वारि यद्धस्तिनखस्तस्मिन् ।' 'किरण प्रग्रहौ रश्मी ।' (अमर०) ।

समासादिः—सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवासंसक्तयुगैः—यत्नेन सहिताः सयत्नाः, सयत्नाः सूताः सयत्नसूताः सयत्नसूतैः आयताः रश्मयः सयत्नसूतायतरश्मयः सयत्नसूतायतरश्मिभिः भुग्नानि ग्रीवाणि सयत्नसूतायतरश्मिभुग्नग्रीवाणि तेषु संसक्ताः युगाः येषां तैः । अखेदैः—न खेदः अखेदः तैः ।

व्या०—पतन्तः पत्लृ गतौ + शतृ = जस् । अनीयन्त—णीञ् + कर्मणि लङ् ततः 'झ' भवति ।

सं० भा०—वेगात् धावन्तः स्यन्दनाः सप्रयत्नसारथिभिः आकृष्टप्रग्रहवक्रीभूत कन्धरासंलग्नयुग्यैः खेदहीनैः हयैः पुरद्वारप्रदेशात् मन्दं पृथ्वीम् नीताः ।

हिन्दी—वेग के साथ दौड़नेवाले रथों को (ढालू भूमि पर से) प्रयत्नपूर्वक सारथियों के द्वारा आकृष्ट लगामों से टेढ़ी गर्दन के आगे के भाग में लगे हुए रथाग्रभाग (जूए के भाग) में स्थित घोड़े विना परिश्रम के ही हस्तिनखभूमि से समतल पृथ्वी पर लाये गए । (प्राचीनकाल में नगर के गोपुर पर शत्रु धावा न करें इस लिये वहाँ की भूमि ढालू बना दी जाती थी । उसे हस्तिनख नाम से कहा जाता था ।

अथ द्वारकायाः स्वद्वारवतीत्वं नेष्टमासीदित्याह—

वलोर्मिभिस्तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजाया वलयैरिवास्याः ।
प्रायेण निष्क्रामति चक्रपाणौ नेष्टं पुरो द्वारवतीत्वमासीद् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—वलोर्मिभिः वलयैः, इव तत्क्षणहीयमानरथ्याभुजायाः अस्याः पुरः चक्रपाणौ निष्क्रामति प्रायेण द्वारवतीत्वम् इष्टं न आसीत् ।

सुधा—वलोर्मिभिः = सैन्यतरङ्गैः । वलयैः = कटकैः । इव = यथा । तत्क्षण-हीयमानरथ्याभुजायाः = तत्कालत्यज्यमानप्रतोलीभुजस्य । अस्याः = उक्तायाः । पुरः = द्वारकायाः । चक्रपाणौ = हरौ । निष्क्रामति = निर्गच्छति । प्रायेण=भूम्ना । द्वारवतीत्वं = द्वारकात्वम् । इष्टम् = अभिलषितम् । नासीत् = नाभूत् ।

[विशेषः—अत्र उपमासङ्कीर्णोत्प्रेक्षालङ्कारः अस्ति । अथ च तस्याः नेष्टं अभूत् द्वारवतीत्वम्, बहुद्वारत्वम्, द्वारवत्त्वम् । पूर्वोक्तस्य श्रीकृष्णस्य निष्क्रमणत्वात् द्वारकानगरी इति द्वारबहुलं निन्दितवती । यदि मम नगर्याः अनेकद्वाराणि न अभ-विष्यन् तर्हि कथं श्रीकृष्णः बहिः अयास्यत् ।]

कोशः—'कटको वलयोऽस्त्रियाम् ।' 'पूः स्त्री पुरीनगर्यौ वा ।' (अमर०) ।

समासादिः—वलोर्मिभिः—बलं ऊर्मिः, इव वलोर्मिः, तैः । तत्क्षणहीय-मानरथ्याभुजायाः—तत्क्षणे हीयमाना च असौ रथ्या तत्क्षणहीयमानरथ्या सा भुजा इव यस्याः सा तत्क्षणहीयमानरथ्या तस्याः । चक्रपाणौ—चक्रं अस्ति पाणौ यस्य सः चक्रपाणिः तस्मिन् ।

व्या०—ऊर्मिभिः—ऊर्मि + भिस् = ऊर्मिभिः । निष्क्रामति—निस् + क्रमु शतृ प्रत्ययः । आसीत्—अस् धातुना लङ् ततः तिप् ।

सं० भा०—यथा कस्यचित् जनस्य स्त्रीभुजा कङ्कण हीनो भवति । तथैव—सेनामण्डलकङ्कणहीनप्रतोलीरूपबाहुयुक्ता द्वारका श्रीकृष्णगमनानन्तरं स्वस्याः द्वार-वतीत्वं नेष्टम् ।

हिन्दी—कंकणों के सदृश सेना समूह के द्वारा, भगवान् श्रीकृष्णजी के द्वारकापुरी से बाहर चले जाने पर तत्क्षण त्यागी हुई गली रूपी बाँहवाली (भुजा-वाली) द्वारका नगरी को मानो अपना द्वारवती होना अच्छा न लगा । अर्थात् उसने सोचा—यदि मेरी नगरी में दरवाजे न होते तो श्रीकृष्ण जी कैसे बाहर जाते । अतः उसने द्वारवती होने की निन्दा की ।

अथासर्गसमाप्तेः समुद्रं वर्णयति—

पारेजलं नीरनिधेरपश्यन् मुरारिरानीलपलाशराशीः ।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ॥ ७० ॥

अन्वयः—मुरारिः नीरनिधेः पारेजलम् आनीलपलाशराशीः उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः वनावलीः अपश्यत् ।

सुधा—मुरारिः = हरिः । नीरनिधेः = सागरस्य । पारेजलम् = जलानां पारे । आनीलपलाशराशीः = समन्तात् श्यामपर्णसमूहाः । उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः = ऊर्मिसमूहप्रतिक्षणतटप्रान्तप्रापितशैवलकान्तीः । वनावलीः = विपिनपङ्क्तीः । अपश्यत् = ददर्श ।

विशेषः—अत्र उपमोत्प्रेक्षयोः सन्देहसङ्करः अस्ति ।

कोशः—'पत्रं पलाशं छदनम् ।' 'ऊर्मिरुत्कलिकोल्लोल ।' (हला०) । 'कूलं रोधश्च तीरं च ।' 'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः ।' 'जलनीली तु शेवालं शैवालः' (अमर०) ।

समासादिः—मुरारिः—मुरस्य अरिः । नीरनिधेः—नीराणां निधिः नीरनिधिः तस्य । पारेजलम्—जलानां पारे इति । आनीलपलाशराशीः—पलाशानां राशयः पलाशराशयः आनीलाः पलाशराशयः यासान्ताः । उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः—उत्कलिकानां सहस्राणि उत्कलिकासहस्राणि उत्कलिकासहस्रैः प्रतिक्षणम् उत्कूलिताः ते च ते शैवलाः उत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलानाम् आभा इव आभा यासां ताः । वनावलीः—वनानां आवलयः वनावलयः ताः ।

व्या०—पारेजलम्—जलानां पारे इति पारे जलम् अत्र 'पारे मध्ये षष्ठ्या वा' सूत्रेण अव्ययीभावः समासः भवति । अपश्यत्—दृशिर् प्रेक्षणे लङ् ततः तिप् ।

सं० भा०—श्रीकृष्णः समुद्रपारे श्यामपत्रसमूहयुक्तसहस्रोर्मिभिः तटानीत शैवालपङ्क्तियुक्तविपिनावलीः अपश्यत् ।

हिन्दी—श्रीकृष्णने समुद्र जल के उस पार अति नीले पत्रों के समूहवाली, सहस्रों जल कल्लोलों से प्रतिक्षण तटपर एकत्र शैवाल के सदृश छविवाली, विपिन श्रेणियों का अवलोकन किया ।

समुद्रवर्णने प्रचलिते तत्र श्रीकृष्णस्य समुद्रतटस्थितद्रुमप्रेक्षणमाह—

लक्ष्मीभृतोऽम्भोधितटाधिवासान् द्रुमानसौ नीरदनीलभासः ।
लतावधूसम्प्रयुजोऽधिवेलं बहूकृतान् स्वानिव पश्यति स्म ॥ ७१ ॥

अन्वयः—असौ अधिवेलम् लक्ष्मीभृतः अम्भोधितटाधिवासान् नीरदनीलभासः लतावधूसम्प्रयुजः द्रुमान् बहुकृतान् स्वान् इव पश्यति स्म।

सुधा—असौ = हरिः। अधिवेलम् = समुद्रतटे। लक्ष्मीभृतः = रमाधारिणः, शोभाधारिणः वा। अम्भोधितटाधिवासान् = समुद्रतीरस्थितान्। नीरदनीलभासः = मेघसदृशश्यामछवीन्। लतावधूसम्प्रयुजः = वल्लीभार्यासहितान्। द्रुमान् = पादपान्। बहुकृतान् = प्रभूतीकृतान्। स्वान् इव = स्वशरीरानिव। पश्यतिस्म = अपश्यत्।

विशेषः—एते बहवः शरीराः मदीया इव इति अबोधि। श्लेषसंकीर्णोत्प्रेक्षेयम्।

कोशः—'लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा।' 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं त्रिष्वात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने।' 'वल्लीतु व्रततिर्लता।' 'अभ्रं मेघो वारिवाहः।' (अमर०)

समासादिः—अधिवेलम्—वेलायाम् अधि इति। लक्ष्मीभृतः—लक्ष्मीं बिभर्ति लक्ष्मीभृत् ते लक्ष्मीभृतः। अम्भोधितटाधिवासान्—अम्भोधेः तटम् अम्भोधितटम् तत्र अधिवासो येषां, तान्। नीरदनीलभासः—नीरदा इव नीलाभाः येषां, तान्। लतावधूसम्प्रयुजः—लताः, इव वध्वः अथवा पक्षे लताः वध्वः, इव, लतावधूभिः सम्प्रयुज्यन्ते इति लतावधूसम्प्रयुजः तान्।

व्या०—अधिवेलम्—अत्र अधियोगे अव्ययीभाव.। सम्प्रयुजः—सम् + प्र ततः युज् ततः क्विप् प्रत्ययः। पश्यति स्म—दृशिर् प्रेक्षणे धातोः स्मयोगे 'लट् स्मे' सूत्रेणात्र भूते लट् ततः तिप् भवति।

सं० भा०—असौ हरिः समुद्रतटे रमाधारिणः शोभाधारिणः वा सागरतीरस्थितमेघश्यामछवीन् वल्लीभार्यासहितान् वृक्षान् अनेककृतस्वदेहान इव विलोकयामास।

हिन्दी—सागर तट पर श्रीकृष्ण जी ने लक्ष्मी युक्त वा श्री से युक्त नीलमेघसदृश छविशाली वा पक्षे नीलमेघ के द्वारा छविशाली लतारूपी भार्याओं के सहित वृक्षों को बहुत से रूप धारित स्वकीय देह के समान अवलोकन किया।

श्रीकृष्णः समुद्रमपस्मारिणमाशशङ्के इत्याह—

आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के॥ ७२॥

अन्वयः—असौ आश्लिष्टभूमिम् उच्चैः रसितारं लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गं फेनायमानम् आपगानां पतिम् अपस्मारिणम् आशशङ्के।

सुधा—असौ = हरिः । आश्लिष्टभूमिं = आलिङ्गितधराम् । उच्चैः=तारस्वरेण रसितारं = रुदितारम् । लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् = चपलद्बाहुतुल्यमहत्कल्लोलम् । फेनायमानं = डिण्डीरायमानम् । आपगानां = सरितां । पतिं=धवम् । अपस्मारिणं= अपस्माररोगयुक्तम् । आशशङ्के = आसमन्तात् उत्प्रेक्षां कृतवान् ।

विशेष:—अपस्मारी पृथ्वीं आलिङ्गति, रोदिति, उच्चैः विलपति चञ्चलभुजं उत्क्षिपति तथा फेनं च वमति ।

कोश:--'भूर्भूमिरचलानन्ता ।' 'पिण्डीरोऽब्धि कफः फेनः । भुजबाहू प्रवेष्टोदोः' (अमर०) ।

समासादि:—आश्लिष्टभूमिम्—आश्लिष्टा भूमिः येन सः आश्लिष्टभूमिः तम् । लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम्—भुजानां आकारः—भुजाकारः, लोलन्तश्च भुजाकारश्च लोलद्भुजाकार; लोलद्भुजाकार इव आकारः येषां ते लोलद्भुजाकारः ते च ते बृहत्तरङ्गाः ते सन्ति यस्य सः लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गः तम् । आपगानाम्—अपां समूहः आपम् तेन गच्छन्ति इति आपगाः तासाम् ।

व्या०—उच्चैः —अव्ययपदम् । फेनायमानम्—फेनाच्च वार्तिकेन फेन+ क्यङ्—फेनायमानम् । आशशङ्के—आङ् ततः शकि (शङ्कायाम्) लिट् ततः 'त' ततः एश् = आशशङ्के ।

स० भा०—श्रीकृष्णः पृथ्वीमालिङ्गन्तं उच्चध्वनियुक्तं चपलबाहुसदृशविशाल- तरङ्गं फेनयुक्तं सरित्पतिं (सागरं) अपस्मार (मृगी) रोगाक्रान्त इव ददर्श ।

हिन्दी—पृथ्वी का आलिङ्गन करनेवाले, उच्चध्वनिवाले, चञ्चलभुजातुल्य विशालतरङ्गवाले फेनयुक्त नदीपति समुद्र को श्रीकृष्ण ने मृगी के रोगी के समान देखा ।

श्रीकृष्णः समुद्रतटे मुक्तावलीरपश्यदित्याह—

पीत्वा जलानां निधिनातिगार्ध्याद् वृद्धिं गतेऽप्यात्मनि नैव मान्तीः ।
क्षिप्ता इवेन्दोः स रुचोऽधिवेलं मुक्तावलीराकलयाञ्चकार ।।७३।।

अन्वय:—सः अधिवेलं जलानां निधिना अतिगार्ध्यात् पीत्वा वृद्धिं गते आत्मनि नैव मान्तीः क्षिप्ताः इन्दो रुचः इव मुक्तावलीः आकलयाञ्चकार ।

सुधा०—सः =हरिः । अधिवेलं = अधितटम् । जलानां = तोयानाम् । निधिना = शेवधिना । अतिगार्ध्यात् = अतितृष्णाभरात् । पीत्वा = पानं कृत्वा । वृद्धिं = विपुलत्वम् । गते = प्राप्ते । आत्मनि = देहे । नैव = न हि ।

मान्तीः = विद्यमानाः । क्षिप्ताः = उद्‌गीर्णाः । इन्दोः = चन्द्रस्य । रुचः = किरणाः । इव = यथा । मुक्तावलीः = मौक्तिकानि । आकलयाञ्चकार = आकलयामास ।

विशेष:—अत्र उत्प्रेक्षालङ्कारः । पुराणेषु—चन्द्रोदयकाले सागरः वर्द्धते । यथा कोऽपिजनः तृष्णया प्रभूतं पानीयं पीत्वा पश्चात् वमनं करोति तद्वत् भावः ।

कोशः—'आत्मा देहे धृतौ जीवे ।' (विश्व०) । 'मुक्ताथ विद्रुमः पुंसि ।' (अमर०) ।

समासादि:—अधिवेलम्—वेलायाम् अधि । मुक्तावलीः—मुक्तानां आवलयः मुक्तावलयः ताः ।

व्या०—पीत्वा—'पा' पाने + क्त्वा । आकलयाञ्चकार—आङ् + कल संख्याने पुनः लिट् ततः कृ धातोः अनुप्रयोगः भवति ।

सं० भा०—श्रीकृष्णः दृष्टवान्—समुद्रः तृष्णया अत्यन्तं चन्द्रकिरणानि पीतवान्—पश्चात् तस्य अन्तः भागे न हि वर्तमानकिरणानि वमितवान् । तद वमित वस्तूनि चन्द्रकिरणानि इव मौक्तिकानि तत्र शोभन्ते स्म ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण ने देखा—समुद्र ने पहले अति तृष्णा से चन्द्रकिरणें पी लीं ततः उसके अन्तः प्रदेश में वे चन्द्रकिरणें जब नहीं समायीं तो उस समुद्र ने उन्हें वमन कर बाहर निकाल दिया । वही वमित वस्तु चन्द्रकिरण तुल्य मोती रूप में वहाँ पर वर्त्तमान है—ऐसा अनुमान किया ।

अथ श्रीकृष्णस्य मेघदर्शनमाह—

साटोपमुर्वीमनिशं नदन्तो यैः प्लावयिष्यन्ति समन्ततोऽमी ।
तान्येकदेशान्निभृतं पयोधेः सोऽम्भांसि मेघान्पिबतो ददर्श ॥ ७४ ॥

अन्वय:—अमी साटोपम् अनिशं नदन्तः यैः उर्वीं समन्ततः प्लावयिष्यन्ति तानि अम्भांसि पयोधेः निभृतं पिबतः मेघान् स ददर्श ।

सुधा—अमी = एते । साटोपम् = साडम्बरम् । अनिशं = निरन्तरम् । नदन्तः = गर्जन्तः । यैः = यैः । उर्वीं = पृथ्वीम् । समन्ततः=सर्वतः । प्लावयिष्यन्ति=पूरयिष्यन्ति तानि = पूर्वोक्तानि । अम्भांसि = अम्बूनि । पयोधेः = सागरस्य । एकदेशात् = एक-प्रदेशात् । निभृतं = निःशब्दम् यथास्यात्तथा । पिबतः = पानं कुर्वतः । मेघान् = वारिदान् । ददर्श = दृष्टवान् ।

विशेष:—अत्र माधुर्यगुण:, पाञ्चाली रीतिः। एतेन सागरस्य अपरिच्छिन्न-रूपत्वं व्यज्यते। ये मेघाः पृथिवीं प्लावयिष्यन्ति ते अत्र अति स्वल्पभूताः।

कोश:—'अम्भोर्णस्तोयपानीय०।' 'तडित्वान् वारिदोऽम्बुभृत्।' 'ससम्भ्रमा-टोपसंरम्भाः'। (अमर०)।

समासादि:—साटोपम्—आटोपेन सहितं—साटोपम्।

व्या०—अनिशम्—अव्ययपदम्। नदन्त:—'णद' अव्यक्ते शब्दे नदन्त + शतृ + जस्। ददर्श—दृशिर् प्रेक्षणे ददर्श + लिट् ततः 'तिप्' ततः णल्।

सं० भा०—ये मेघाः अहोरात्रम् दर्पेण यैः जलैः महीं पूरयिष्यन्ति। तान् मेघान् शान्त्या समुद्रस्य एकप्रदेशे जलं पिबतः श्रीकृष्णः अपश्यत्।

हिन्दी—जो मेघ अहर्निश दर्प के साथ गरजते हुए जिन अपने वर्षण जलों से भूमि को सब ओर से प्लावित कर देंगे। उन जलों को सागर के एक प्रदेश से शान्ति से पीते हुए मेघों को श्रीकृष्ण ने देखा। अर्थात्—जो मेघ पृथ्वी पर घन-घोर वर्षा करते हैं उन मेघों को श्रीकृष्ण ने समुद्र के एक स्थान से चुपके से जल-ग्रहण करते हुए देखा।

अथ श्रीकृष्णस्य नदीदर्शनमाह—

उद्धृत्यमेघैस्तत एव तोयमर्थं मुनीन्द्रैरिव सम्प्रणीता।
आलोकयामास हरिः पतन्तीर्नदीः स्मृतीर्वेदमिवाम्बुराशिम्॥ ७५॥

अन्वय:—मुनीन्द्रैः तत एव अर्थं इव, मेघैः (तत एव) तोयं उद्धृत्य सम्प्र-णीताः अम्बुराशि पतन्तीः नदीः वेदं पतन्तीः स्मृतीः, इव हरिः आलोकयामास।

सुधा—मुनीन्द्रैः = मनुयाज्ञवल्क्यादिभिः, ऋषीन्द्रैः। ततः = श्रुतेः। अर्थं, इव = अभिप्रायमिव। उद्धृत्य = नीत्वा। सम्प्रणीताः = रचिताः। मेघैः = वारि-वाहैः। तत एव = अम्बुराशेः एव। तोयं = नीरम्। उद्धृत्य = गृहीत्वा। सम्प्र-णीताः = समुत्पादिताः। 'अम्बुराशि = सागरम्। पतन्तीः = प्रविशन्तीः। नदीः = सरितः। वेदं = श्रुतिम्। प्रविशन्तीः = अन्तर्गच्छन्तीः। स्मृतीः = मन्वादिस्मृतीः। इव = इव। हरिः = श्रीकृष्णः। आलोकयामास = ददर्श, अद्राक्षीत्।

विशेष:—यथा—सागरात् एव जलं नीत्वा समुत्पादिता सरितः सागरे एव विलीयन्ते तथैव मन्वादिमुनिभिः श्रुतेः अर्थमेव नीत्वा स्मृतयः अपि प्रणीताः तथा च तत्रैव अन्तर्भवन्ति। अत्र उपमालङ्कारः। अत्र मुनीन्द्रवेदस्मृतिवेदार्थाः उपमान भूता तथा सरितः सागरजलमेघाः उपमेयभूताः सन्ति।

कोशः—'वाचंयमो मुनिः।' 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तु।' (अमर०)।

समासादिः—मुनीन्द्रैः—मुनीनां इन्द्रः मुनीन्द्रः तैः। अम्बुराशिम्—अम्बूनां राशिः अम्बुराशिः तम्।

व्या०—पतन्तीः—पत्लृ गतौ + शतृ + ङीप् + शस् = पतन्तीः। आलोकयाम्-आस—आङ् + लोक दर्शने + तिप् प्रत्ययः ततः णल् ततः अस्तेः अनुप्रयोगः भवति।

सं० व्या०—यथा—मुनीन्द्रैः वेदात् अर्थं गृहीत्वा प्रणीताः स्मृतयः पुनः वेदे एव प्रविष्टाः भवन्ति तथैव मेघैः समुद्रात् जलं गृहीत्वा तैः निर्मिताः नद्यः समुद्रे एव गच्छन्ति। श्रीकृष्णः इदं एव तत्र दृष्टवान्।

हिन्दी—वेद से ही अर्थों को प्राप्त कर मुनियों के द्वारा प्रणीत स्मृतियाँ जैसे पुनः वेद में ही लीन हो जाती हैं, तथा एव, समुद्र से जल लेकर मेघ द्वारा निर्मित नदियाँ पुनः समुद्र में ही लीन हो रही हैं—ऐसा दृश्य श्रीकृष्ण जी ने सागर तट पर देखा।

अथ कृष्णस्य सांयात्रिकप्रशंसनमाह—

विक्रीय दिश्यानि धनान्युरूणि द्वैप्यानसावुत्तमलाभभाजः।
तरीषु तत्रत्यमफल्गु भाण्डं सांयात्रिकानावपतोऽभ्यनन्दत्॥ ७६॥

अन्वयः—दिश्यानि उरूणि धनानि विक्रीय उत्तमलाभभाजः तत्रत्यं अफल्गु भाण्डं तरीषु आवपतः द्वैप्यान् सांयात्रिकान् असौ अभ्यनन्दत्।

सुधा—दिश्यानि = दिगन्तरभवानि। उरूणि = विपुलानि। धनानि = द्रव्याणि। विक्रीय = विक्रयणं कृत्वा। उत्तमलाभभाजः = प्रचुरलाभयुक्तान्। तत्रत्यं = तत्रोत्पन्नम् अफल्गु = श्रेष्ठम्। भाण्डम् = मूलधनम्। तरीषु = तरणिषु। आवपतः = निक्षिपतः। द्वैप्यान् = सागरद्वीपनिवासिनः। सांयात्रिकान् = पोतवणिजः। असौ = हरिः। अभ्यनन्दत् = अभिनन्दितवान्।

कोशः—'सक्थि क्लीबे पुमान् ऊरुः।' 'स्त्रियां नौस्तरणिस्तरिः।' 'सांयात्रिकः पोतवणिक्।' (अमर०)। 'फल्गुतुच्छमसारंच।' (यादवः)। 'वणिङ्मूलधने पात्रे भाण्डं भूषाश्वभूषयोः।' (वैजयन्ती)।

समासादिः—दिश्यानि—दिशि भवं दिश्यम् तानि दिश्यानि। उत्तमलाभभाजः—उत्तमश्च असौ लाभश्च उत्तमलाभः, उत्तमलाभं भजन्ते उत्तमलाभभाजः। तत्रत्यम् तत्र भवं तत्रत्यम्। अफल्गु—न फल्गु इति अफल्गु। द्वैप्यान्—द्वीपे भवाः

द्वैप्याः तान् द्वैप्यान् । सांयात्रिकान्—सं यात्राप्रयोजनं संयात्रा सा येषां तान् सांयात्रिकान् ।

सं० भा०—दिगन्तरोत्पन्नपदार्थान् विक्रीय लाभयुक्तानां तथा च तत्रस्थ-पदार्थान् नौषु निक्षिप्तयात्रिणां अभिनन्दनं श्रीकृष्णः करोतिस्म ।

हिन्दी—अनेक दिशाओं में समुत्पन्न पदार्थों को वेच कर प्रचुरलाभवाले तथा वहाँ पर समुत्पन्न श्रेष्ठ वस्तुओं को विक्रयार्थ अपनी नौकाओं पर रखनेवाले सागर द्वीपनिवासी व्यापारी वर्ग का श्रीकृष्णजी ने स्वागताभिनन्दन किया । अर्थात् उनके साहसी कार्यों की —समुद्र व्यापार की भूरि-भूरि सराहना की ।

अथ सर्पाणामुच्चैर्जलप्रक्षेपणमाह—

उत्पित्सवोऽन्तर्नदभर्तुरुच्चैर्गरीयसा　　　निःश्वसितानिलेन ।
पयांसि भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजानिवोच्चिक्षिपिरे फणीन्द्राः ॥ ७७ ॥

अन्वयः—नदभर्तुः अन्तः उत्पित्सवः फणीन्द्राः भक्त्या गरुडध्वजस्य ध्वजान् इव गरीयसा निःश्वसितानिलेन पयांसि उच्चैः उच्चिक्षिपिरे ।

सुधा—नदभर्तुः = सागरस्य । अन्तः = अन्तःप्रदेशात् । उत्पित्सः = उत्पतितुं इच्छवः । फणीन्द्राः = सर्पेन्द्राः । भक्त्या = अनुरागेण गरुडध्वजस्य = हरेः । ध्वजान्, इव = पताकाः, इव । गरीयसा । अतिविशालेन । निःश्वसितानिलेन = आननवायुना । पयांसि = तोयानि । उच्चैः = उच्चम् । उच्चिक्षिपिरे = उत्क्षिप्तवन्तः ।

विशेषः—अस्मिन् श्लोके जलजन्तूनां प्राकृतिकवर्णनं कविः कृतवान् । 'समुद्रे तदा मस्तकछिद्रयुक्ताः जन्तवः आसन् । ते तदा जलं पीत्वा स्वमुखानां उद्घाटनं न अकुर्वन् तदा तेषां मुखमध्यजलं मस्तकछिद्रेभ्यः स्रोतरूपेण (पताका रूपेण बहिः आगतं अभवत् ।

कोशः—'कुण्डलीगूढपाच्चक्षुःश्रवाः काकोदरः फणी ।' 'गोविन्दो गरुडध्वजः ।' 'केतनं ध्वजमस्त्रियाम् ।' (अमर०) ।

समासादिः—नदभर्तुः—नदानां भर्त्ता नदभर्त्ता तस्य । उत्पित्सवः—उत्पतितुं इच्छाः उत्पित्सवः । फणीन्द्राः—फणीनां इन्द्राः फणीन्द्राः । गरुडध्वजस्य—गरुडः ध्वजे यस्य सः गरुडध्वजःतस्य । निःश्वसितानिलेन—निःश्वसितां अनिलः तेन । उच्चिक्षिपिरे—ऊर्ध्वं चिक्षिपिरे ।

सं॰ भा॰—श्री कृष्णो गरुडध्वज आसीत्। गरुडेन सह सर्पाणां वैरः शास्वतिकोऽस्ति। अतश्च गरुडभयात् समुद्राद् उत्पतितुमिच्छतोऽपिसर्पा बहिर्न निर्गताः, किन्तु कृष्णस्य भक्त्या ध्वजानिव स्वश्वासवायुना जलानि उच्चैः उत्क्षिप्तवन्तः।

हिन्दी—समुद्र के भीतर उछलने की इच्छा करते हुए बड़े-बड़े सर्पों ने श्रीकृष्ण की भक्ति से मानो पताकाओं की तरह बहुत बड़ी निश्वास वायु से जलराशि को बहुत ऊँचा उठाया।

कृष्णे समीपं समागते समुद्रस्य तं प्रति प्रत्युद्गमनमुत्प्रेक्षते—

तमागतं वीक्ष्य युगान्तबन्धुमुत्सङ्गशय्याशयमम्बुराशिः।
प्रत्युज्जगामेव गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः॥ ७८॥

अन्वयः—अम्बुराशिः युगान्तबन्धुम् उत्सङ्गशय्याशयम् आगतं तं वीक्ष्य गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः प्रत्युज्जगाम इव।

सुधा—अम्बुराशिः = समुद्रः। युगान्तबन्धुम् = कल्पान्तमित्रम्। उत्सङ्गशय्याशयम् = अङ्कशय्याशायिनम्। आगतं = अभ्यागतम्। तं = श्रीकृष्णम्। वीक्ष्य = दृष्ट्वा। गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः = अतिहर्षदीर्घितोन्नतकल्लोलभुजः। प्रत्युज्जगाम इव = अग्रत एव निर्ययौ।

कोशः—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदा' इत्यमरः। गुरुस्त्रिलिङ्ग्यां महति दुर्जरालघुनोरपि। पुमान् निषेकादिकरे पित्रादौ सुमन्त्रिणि इति मेदिनी।

समासादिः—अम्बुराशिः—अम्बूनां राशिः। युगान्तबन्धुम्—युगानाम् अन्तः युगान्तः, तस्य बन्धुः, तम्। उत्सङ्गशय्याशयम्—शेतेऽस्याम् इति शय्या, उत्सङ्ग एव शय्या, तस्यां शेते यः, सः, तम्। गुरुप्रमोदप्रसारितोत्तुङ्गतरङ्गबाहुः—गुरुणा प्रमोदेन प्रसारिताः उत्तुङ्गाः तरङ्गा एव बाहवो यस्य सः।

व्याकरणम्—उत्पित्सवः—उत्+पत्लृ गतौ, सन्, उप्रत्ययः 'सनिमीमाघुरभलभशकपतपदामच इस्' (७।४।५४) इति इसादेशः, 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यभ्यासलोपः। उच्चिक्षिपिरे—उत्, क्षिप् प्रेरणे, लिट्-झ-इरेच्।

स॰ भा॰—प्रलयकालस्य सखायं समुद्रस्य मध्यभागे शयानं श्रीकृष्णं स्व-

समीपे आगतं दृष्ट्वा समुद्रोऽतिहर्षाद् उत्तुङ्गतरङ्गबाहुः सन् प्रत्युत्थानं चकार। आतिथ्यं स्वीचकारेति यावत्।

हिन्दी—प्रलयकाल के एक मात्र मित्र तथा समुद्र की गोदी रूपी शय्या पर सोने वाले उस भगवान् श्रीकृष्ण को आते हुए देखकर समुद्र अत्यन्त प्रसन्नता से ऊँची तरङ्ग रूप हाथों को फैलाकर जैसे स्वागत के लिये आ रहा था।

अथ नभस्वतः श्रीकृष्णस्वेदलवमार्जनमाह—

उत्सङ्गिताम्भःकणको नभस्वानुदन्वतः स्वेदलवान्ममार्ज।
तस्यानुवेलं व्रजतोऽधिवेलमेलालतास्फालनलब्धगन्धः॥ ७९॥

अन्वयः—उत्सङ्गिताम्भः कणकः एलालतास्फालनलब्धगन्धः उदन्वतः नभस्वान् अधिवेलं व्रजतः तस्य स्वेदलवान् अनुवेलं ममार्ज।

सुधा—उत्सङ्गिताम्भः कणकः = मध्ये गृहीतजलविन्दुः। एलालतास्फालनलब्धगन्धः = एलावल्लरीसङ्गप्राप्तसौरभः। उदन्वतः = समुद्रस्य। नभस्वान् = वायुः। अधिवेलं = समुद्रतटे। व्रजतः = गच्छतः। तस्य = स्वेदलवान् = घर्मकणिकाः। अनुवेलम् = प्रतिक्षणम्। ममार्ज = स्फोटयामास, दूरी चकार।

विशेषः—अत्र मल्लिनाथोक्तकाव्यलिङ्गेन सह छेकानुप्रासवृत्यनुप्रासयोः संसृष्टिरलङ्कारः। माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः।

कोशः—नभस्वद्वातपवनपवमानप्रभञ्जनाः इत्यमरः। वेला कूले च जलधेर्वेलातीरविकारयोः इति विश्वः।

समासादिः—उत्सङ्गिताम्भः कणकः—उत्सङ्गिताः अम्भसः कणाः येन सः। एलालतास्फालनलब्धगन्धः—एलायाः लताः एलालताः, तासाम् स्फालनेन लब्धो गन्धो येन सः। उदन्वतः—उदकानि सन्ति अस्मिन्निति उदन्वान्, तस्य। अधिवेलम्—वेलायामिति अधिवेलम्, विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः। स्वेदलवान्—स्वेदस्य लवाः तान्। अनुवेलम्—वेलानतिक्रम्येति, यथार्थेऽव्ययीभावः।

व्याकरणम्—उत्सङ्गिताः—'तत्करोति'—(ग) इति ण्यन्तात् कर्मणि क्तः।

उत्सङ्गिताम्भः कणकः—'शेषाद्विभाषा' (५।४।१५४) इति कप् । ममार्ज—मृज् शुद्धौ, लिट्, तिप्, णल् ।

सं० भा०—समुद्रस्य जलविन्दून् गृहीत्वा एलालतायाः सङ्घर्षणेन प्राप्तगन्धः सन् पवनः श्रीकृष्णस्य घर्मविन्दून् प्रतिक्षणं जहार, अपहृतवान् इति यावत् ।

हिन्दी—अपने मध्य में जल की फुहारों से भरा (अतएव शीतल) तथा इलायची की लताओं को हिलाने से गन्ध युक्त समुद्र का वायु समुद्र के किनारे-किनारे चलते हुए उस (कृष्ण) के पसीने को प्रतिक्षण दूर कर देता था ।

अथ श्रीकृष्णचमूनां लवणसमुद्रभूमिप्रदेशप्राप्तिमाह—

उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः ।
आसेदिरे लावणसैन्धवीनां चमूचरैः कच्छभुवां प्रदेशाः ॥ ८० ॥

अन्वयः—चमूचरैः उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः लावणसैन्धवीनां कच्छभुवां प्रदेशाः आसेदिरे ।

सुधा—चमूचरैः = सैनिकैः । उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः = उन्नततालवृक्षविशेषकानननिःसृतवायुद्विधाकृतकेतकीलताः । लावणसैन्धवीनां = क्षीरसमुद्रसम्बन्धिनीनाम् । कच्छभुवां = कच्छभूमीनाम् । प्रदेशाः = भागाः । आसेदिरे = प्राप्ताः ।

कोशः—'जलप्रायमनूपं स्यात्पुंसि कच्छस्तथाविधः' इत्यमरः ।

समासादिः—चमूचरैः—चमूषु चरन्तीति चमूचराः, तैः । उत्तालतालीवनसम्प्रवृत्तसमीरसीमन्तितकेतकीकाः—उत्तालं यत्तालीवनं तस्मात् प्रवृत्तो यः समीरः तेन सीमन्तिता केतक्यो यत्र ते । लावणसैन्धवीनाम्—लवणस्य सिन्धुः लवणसिन्धुः तस्य इमाः तासाम् । कच्छभुवाम्—कच्छस्य भुवः कच्छभुवः, तासाम् ।

व्याकरण—चमूचरैः—चरेष्टः (३।२।१६) इति ट प्रत्ययः । आसेदिरे—आङ् पूर्वकशद्लृ-विशरणगत्यवसादनेषु, कर्मणि लिट्—झ—इरेच् ।

सं० भा०—श्रीकृष्णस्य सैनिकाः शनैः शनैः समुद्रस्य तस्मिन् कच्छभूमिप्रदेशे आगताः यत्रोन्नततालीवनेषु सम्प्रवृत्तेन वायुना द्विधाकृताः केतकीलताः आसन् ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण के सैनिक धीरे-धीरे समुद्र की दलदली युक्त भूमि के उन भागों में पहुँचे, जहाँ ऊँचे-ऊँचे ताल के वनों में बहती हुई हवा से चोटी की भाँति केतकी की लताएँ दो भागों में विभक्त हो जाती थीं।

अथ श्रीकृष्णचमूचराणां समुद्रादतिथिसत्कारप्राप्तिमाह—

लवङ्गमालाकलितावतंसास्ते नारिकेलान्तरपः पिबन्तः।
आस्वादितार्द्रक्रमुकाः समुद्रादभ्यागतस्य प्रतिपत्तिमीयुः॥ ८१॥

अन्वयः—लवङ्गमालाकलितावतंसा नारिकेलान्तः अपः पिबन्तः आस्वादितार्द्रक्रमुकाः ते समुद्रात् अभ्यागतस्य प्रतिपतिम् ईयुः।

सुधा—लवङ्गमालाकलितावतंसाः = सुगन्धिवृक्षपुष्पस्रग्ग्रन्थितशेखराः। नारिकेलान्तः = नारिकेलाभ्यन्तरे। अपः = जलानि। पिबन्तः = पानं कुर्वन्तः। आस्वादितार्द्रक्रमुकाः = भक्षितसरसपूगफलाः। ते = सैनिकाः। समुद्रात् = सागरात्, अभ्यागतस्य = अतिथेः। प्रतिपत्तिम् = सत्कारम्। ईयुः = लेभिरे।

विशेषः—अत्र वृत्यनुप्रासश्च शब्दालङ्कार इति मल्लिनाथोक्तकाव्यलिङ्गेन सह संसृष्टिः। माधुर्यं गुणः वैदर्भी च रीतिः। सर्गेऽत्र वृत्तमुपजातयः।

कोशः—'घोण्टा तु पूगः क्रमुकः' इत्यमरः। 'प्रतिपतिः पदप्राप्तौ प्रवृत्तौ गौरवेऽपि च' इति विश्वः।

समासादिः—लवङ्गमालाकलितावतंसा—लवङ्गानां मालाः लवङ्गमालाः, ताभिः कलिताः अवतंसाः यैस्ते। नारिकेलान्तः—नारिकेलस्य अन्तः। आस्वादितार्द्रक्रमुकाः—आस्वादितानि आर्द्राणि क्रमुकानि यैस्ते।

व्याकरणम्—पिबन्तः—पा (पिब्) पाने, शतृ, जस्। ईयुः—इण्—गतौ, लिट्, झि, उस्।

सं० भा०—लवङ्गपुष्पमाल्यैः रचितशिरोभूषणा नारिकेलाभ्यन्तरे जलानि पिबन्तः आर्द्रपूगीफलानि आस्वादयन्तः श्रीकृष्णस्य सैनिकाः समुद्रस्य आतिथ्यं प्राप्नुवन्तः।

हिन्दी—लवङ्ग की मालाओं से शिरोभूषण बनाते हुए, नारियल के

अन्दर का जल पीते हुए तथा कच्ची सुपारी का स्वाद लेते हुए श्री कृष्ण भगवान् के सैनिकों ने समुद्र से सत्कार को प्राप्त किया।

अथ श्रीकृष्णसैन्यस्य समुद्रस्य च परस्परमन्तरमाह—

तुरगशताकुलस्य परितः परमेकतुरङ्गजन्मनः
प्रमथितभूभृतः प्रतिपथं मथितस्य भृशं महीभृता।
परिचलतो बलानुजबलस्य पुरः सततं धृतश्रिय—
श्चिरविगतश्रियो जलनिधेश्च तदाभवदन्तरं महत्॥ ८२॥

अन्वयः—परितः तुरगशताकुलस्य प्रतिपथं प्रमथितभूभृतः सततं धृतः श्रियः पुरः परिचलतः बलानुजबलस्य परम् एकतुरङ्गजन्मनः महीभृता भृशं मथितस्य चिरविगतश्रियः जलनिधेः च तदा महत् अन्तरम् अभवत्।

सुधा—परितः = समन्तात्, तुरगशताकुलस्य = अश्वसमूहव्याप्तस्य, अपरिमिताश्वस्येत्यर्थः। प्रतिपथं = प्रतिमार्गम्। प्रमथितभूभृतः = चूर्णीकृतविपक्षनृपस्य पर्वतस्य वा। सततं = निरन्तरम्। धृतश्रियः = सश्रीकस्य शोभायुक्तस्य वा। पुरः = अग्रे, नगराद् वा। परिचलतः = सञ्चरतः। बलानुजबलस्य = श्रीकृष्णसैन्यस्य। परम् = केवलम्। एकतुरङ्गजन्मनः = उच्चैःश्रवोत्पत्तिकारकस्य। महीभृता = मन्दराचलेन राज्ञा च। भृशम् = अत्यधिकम् अनेकवारं वा। मथितस्य = विलोडितस्य। चिरविगतश्रियः = बहुकालनिवृत्तलक्ष्मीकस्य। जलनिधेश्च = समुद्रस्य च। तदा = प्रस्थानकाले। महत् = अत्यधिकम्। अन्तरं = भेदः। अभवत् = अभूत्।

कोशः—'घोटके वीतितुरगतुरङ्गाश्वतुरङ्गमाः। वाजिवाहार्वगन्धर्वहयसैन्धवसप्तयः, इत्यमरः। बलं सैन्येबलो रामे 'इत्युभयत्रापि शाश्वतः।

समासादिः—तुरगशताकुलस्य—तुरगानां शतम्, तेन आकुलस्य। पथि पथि इति प्रतिपथम्, अव्ययीभावसमासः। प्रमथितभूभृतः—प्रमथिताः पराजिता भूभृतो येन तस्य। धृतश्रियः—धृता श्रीः येन स तस्य। बलानुजबलस्य—बलस्य (बलरामस्य) अनुजः, बलानुजः, तस्य बलं तस्य। एकतुरङ्गजन्मनः—एकश्चासौ तुरङ्गः—एकतुरङ्गः, तस्य जन्म यस्मात् तस्य। चिरविगतश्रियः—चिरं विगता श्रीः यस्य तस्य।

व्याकरणम्—अभवत्—भू, लङ्, तिप् ।

सं० भा०—तदा श्रीकृष्णसैनिकैः सह समुद्रस्य महान् प्रभेद आसीत् । यतश्च श्रीकृष्णसैनिकाः घोटकसहस्रेण व्याप्ता आसन्, किन्तु समुद्रात्तु केवल-मेकस्यैव उच्चैः श्रवसो जन्म आसीत्, किञ्च कृष्णस्य सैनिकैः प्रतिमार्गम् अनेकशः राजान उन्मथिताः, किन्तु समुद्रस्तु एकमेव मन्द्राचलम् उन्मथितवान् । किञ्च तत्सैनिकाः निरन्तरं लक्ष्मीं धृतवन्तः, किन्तु समुद्रात्तु लक्ष्मीः चिरादेव बहिर्निगता आसीत् ।

हिन्दी—जब श्रीकृष्ण समुद्र के तट पर पहुँचे तब उस समय उनकी सेना और समुद्र में बड़ा अन्तर हो गया था । क्योंकि श्रीकृष्ण की सेना सैकड़ों घोड़ों से युक्त थी जब कि समुद्र केवल एक उच्चैःश्रवा घोड़े को उत्पन्न किया था । सेना प्रत्येक मार्ग में बहुत से और पर्वतों को अपने अधीन कर ली थी, जब कि समुद्र को एक ही भूभृत् (मन्दराचल) ने अनेकों बार मथ डाला था । सेना हर समय श्री (शोभा) को पा रही थी, जब कि समुद्र से श्री (लक्ष्मी) पहले ही निकल चुकी थी । इस प्रकार समुद्र की अपेक्षा सेना में बहुत अधिक उत्कृष्टता थी । उक्त प्रसङ्ग का सार यह है कि—सेना समुद्र से बहुत दूर निकल गयी थी ।

(सर्ग के अन्त में भिन्न छन्द रखने की कवियों में परम्परा देखी गई है । मल्लिनाथ के अनुसार माघ ने इस सर्ग के अन्त में पञ्चकावली छन्द का प्रयोग किया है । वृत्तरत्नाकर के टीकाकार नारायण भट्ट ने "न ज भ ज ज ज रैधृत श्री' लक्षण करके माघ के इसी श्लोक को उदाहरण के रूप में दिखाया है । छन्दोमञ्जरी तथा प्राकृतपिङ्गलसूत्रकार ने 'सरसी' नामक छन्द में इसी श्लोक को उदाहरण के रूप में दर्शाया है । हलायुध ने इस पद्य को छन्दशास्त्र में 'शशिवदना' छन्द बताया है) ।

शिशुपालवधमहाकाव्यस्य तृतीयः सर्गः समाप्तः ।

—०—

तृतीय सर्ग

कथासार

द्वारकापुरी से श्री कृष्ण का प्रस्थान–

उद्धवजी की राजनीतिपूर्ण वातों को सुनकर शिशुपाल के साथ युद्ध के प्रस्ताव को छोड़कर श्रीकृष्ण ने इन्द्रप्रस्थ में होने वाले युधिष्ठिर के यज्ञ में सम्मिलित होने के लिये प्रस्थान किया। चलने के समय उन्होंने सफेद रंग के छाते, चँवर, मुकुट, कुण्डल, वाजूवन्द, कङ्कण, मुक्ताहार, कौस्तुभमणि, वैजयन्तीमाला तथा पीताम्वर को धारण किया। इसके बाद सुदर्शनचक्र, कौमोदकी गदा, नन्दक नाम का खड्ग तथा शार्ङ्गधनुष भी ग्रहण किया। पाञ्चजन्य-शङ्ख का शब्द भी सुनाई पड़ा। ज्योंही वे रथ पर वैठे त्योंही रथ की पताका में गरुड़ आकर वैठ गया। यादवों की विशाल सेना भी उनके पीछे पीछे चलने लगी। उनके चलने से ऐसा मालुम पड़ता था कि तीनों लोक को अपने उदर में रखने वाले श्रीकृष्ण के भार से पृथ्वी दव रही है, शेषनाग बड़ी कठिनाई से पृथ्वी को थामे हैं। हाथियों के साँवले और ललाई लिए मदजल से सुनहरी भूमि की धूलि सन गई। उसपर पहियों तक धँसे हुए रथ चलने लगे तो पुनः वह घिसकर चूर-चूर हो गई। घोड़े यादवों के द्वारा किसी प्रकार रोकने पर भी अपने पैरों को आगे उछाल रहे थे। वे ऐसे मालूम पड़ते थे कि उन विशालकाय हाथियों को लाँघ जाना चाहते थे, जिन्होंने आगे से उनका रास्ता रोक लिया है। मार्ग में धूल के खेल करते हुए बच्चों को कुचल जाने के भय से उन की माताएँ हटाने लगीं। भगवान् को देखने के लिये अपार जनसमूह गलियों के रास्तों में पहले से ही पहुँच गया था। भीड़ के कारण भगवान का रथ इतनी मन्दगति से चल रहा था भगवान को भी पता न चला कि वे कव द्वारिका से वाहर हो गए है।

द्वारका वर्णन—वाहर आने पर उन्होंने द्वारकापुरी को देखा जो समुद्र के वीच में-वड़वाग्नि की लौ जैसी शोभित हो रही थी। विधाता के द्वारा वनाये हुए पृथ्वी के चित्र जैसी तथा विश्वकर्मा द्वारा अपना सम्पूर्ण कौशल लगाकर वनाई गई स्वर्ग की छाया जैसी यह दिखाई पड़ रही थी। इसके

बाजारों में दुकानों पर बहुमूल्य रत्नों के ढेरे लगे थे। समुद्र की लहरें ऊची उँची उठने पर भी इसके प्राकार को लाँघ नही पाती थीं। बादल यहाँ के परकोटे से टकराकर बाहर ही बरसते थे। अप्सराओं से भी अधिक सुन्दर यहाँ की स्त्रियाँ सदा अपने मान को छोड़कर कामोत्कण्ठित रहती थीं। रात्रि में चन्द्रकान्त मणियों के पिघलने से छतों से नाले बहने लगते थे। मणियों से बनी दिवालों पर गवाक्षों से चाँदनी पड़ने से दीपक बुझाने पर भी प्रकाश ही रहता था। दीवालें अत्यन्त चिकनी होने के कारण उनपर चित्र नहीं बन पाते थे किन्तु दर्शकों के प्रतिबिम्ब पड़ने से सजीव चित्र की तरह दिखाई पडता था। यहाँ की छतों पर बने हुए कृत्रिम कबूतरों को असली समझकर मारने की घात में बैठा हुआ बिल्ला भी कृत्रिम जैसा ही लगता था। यहाँ के लोग अत्यन्त सरल, निर्दोष, कभी भी मर्यादा को न छोड़नेवाले और विनम्र थे। स्त्रियाँ लक्ष्मी की तरह थीं। सभी लोगों के पास सम्पत्ति थी। अपनी महत्ता में द्वारका इन्द्र की अमरावती से भी अधिक थी। इस प्रकार की द्वारका की छटा देखते देखते भगवान् उससे बाहर निकल आये। उनके पीछे-पीछे उनकी सेनाएँ भी निकलीं। भगवान् के बाहर निकल जाने पर द्वारका उदास हो गई।

समुद्र वर्णन—द्वारका से आगे बढ़ने पर भगवान श्री कृष्ण ने समुद्र को देखा। वहाँ उँची उँची लहरें उठ-उठकर लीन हो रही थीं। उसमें अनेक नदियाँ आकर मिल रही थीं। उससे निकलते हुए फेन, चञ्चल तरङ्गे तथा गम्भीर ध्वनि, उसके मिर्गी का रोगी होने के भ्रम को उत्पन्न कर रहे थे। सारे संसार में जल बरसाने वाला बादल इस समुद्र के एक कोने से जल ले रहा था। यहाँ की शीतल, मन्द, सुगन्ध हवाएँ सैनिकों के श्रम को दूर कर रही थीं। इसमें देश-विदेश की नावें आया करती थीं। उछलती हुई तरङ्गो को देखकर ऐसा मालूम पड़ता था मानो समुद्र कृष्ण का स्वागत करने के लिए भुजाओं से आलिङ्गन करना चाहता हो। इस प्रकार सैनिकों ने कच्छ प्रदेश मे पहुँचकर पड़ाव डालकर लवङ्ग के फूलो का कर्ण भूषण पहना, नारियल का दाम पीया तथा कच्छी सुपारियों को खाया। इस प्रकार, श्री कृष्ण अपनी सेनाओं के साथ आगे चलकर समुद्र से बहुत दुर निकल गये।

॥ श्रीः ॥

शिशुपालवधम्

सान्वय 'सुधा' संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

चतुर्थः सर्गः

टीकाकर्तृ-मङ्गलाचरणम्

स्वस्ति श्रीमन्तं करुणावन्तं श्रीहनुमन्तं नौमि कले ।
नित्यं विहरन्तं हरिजनवन्तं क्षमावहन्तं कोशबले ॥
सीतापतिपतिकं पररसरसिकं श्रितजनमतिकं दीनपतिम् ।
रघुनायकहृदयं हृद्रिपुविजयं शरणदमभयं सर्वनतिम् ॥

अथ मार्गस्थितं रैवतकपर्वतसुषमां वर्णयितुं चतुर्थसर्गमारभमाणो महाकविर्माघो हरेरैवतकदर्शनं (१–९) कुलकेनाह—

निःश्वासधूमं सह रत्नभाभिर्भित्त्वोत्थितं भूमिमिवोरगाणाम् ।
नीलोपलस्यूतविचित्रधातुमसौ गिरिं रैवतकं ददर्श ॥ १ ॥

अन्वयः—असौ नीलोपलस्यूतविचित्रधातुं रत्नभाभिः सह भूमिं भित्त्वा उत्थितम् उरगाणां निश्वासधूमम् इव रैवतकं गिरिं ददर्श ।

सुधा—असौ=श्रीकृष्णः, नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम्=इन्द्रनीलमणिप्रोतनानावर्णगैरिकादिधातुम् (अत एव) रत्नभाभिः=मणिप्रभाभिः, सह=साकं, भूमिं=धरां, भित्त्वा=विदार्य, उत्थितम्=ऊर्ध्वं निर्गतम्, उरगाणां=सर्पाणां, निश्वासधूममिव=फूत्कारवाष्पमिव, स्थितमिति शेषः, रैवतकं=रैवतकनामकं, गिरिं=पर्वतं, ददर्श=अद्राक्षीत् । उत्प्रेक्षालङ्कारः ।

विशेषः—अत्र तादृशनिश्वासधूमसम्भावनां प्रति नीलोपलेत्यादिपदस्यार्थो हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेति उत्प्रेक्षया सह अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । अस्मिन् सर्गे नानावृत्तानि । तत्रादावष्टादशश्लोकेषु उपजातिवृत्तम् । लक्षणञ्च—
"अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ पादौ यदीयावुपजातयस्ताः ।"

कोशः—'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः। उरगः पन्नगो भोगी जिह्मगः पवनाशनः' इत्यमरः। 'भूर्भूमिरचलाऽनन्ता रसा विश्वम्भरा स्थिरा। धरा धरित्री धरणिः क्षौणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः' इत्यमरः।

समासः—नीलोपलस्यूतविचित्रधातुम्—नीलाश्च ते उपलाश्च नीलोपलाः (क० धा०), तैः स्यूताः (तृ० त०), तादृशाः विचित्राः धातवो यस्य सः, तम् (बहु०)। रत्नभाभिः—रत्नानां भाः, ताभिः (ष० त०)। निश्वासधूमम्—निःश्वासस्य धूमः, तम् (ष० त०) 'अथवा—निश्वास एव धूमस्तम्' अथवा—निःश्वासः धूम इव, तम्।

व्याकरणम्—"सह" इतिपदयोगे "सहयुक्तेऽप्रधाने" इतिसूत्रेणाप्रधाने तृतीया। भित्त्वा—भिद्+क्त्वा। उत्थितम्—उद्+स्था+क्तः। उरगाणाम्—उरसा गच्छन्तीति उरगाः, उरस्+गम्+डः, तेषाम्। ददर्श—दृशिर् प्रेक्षणे इति धातोः लिट्+तिप्+णल्।

सं० भा०—श्रीकृष्णः इन्द्रनीलमणिभिः प्रोतैर्नानावर्णधातुभिर्युक्तं मणिप्रभाभिः समं भूमिं भित्त्वा ऊर्ध्वं निर्गतं सर्पाणां निःश्वासवाष्पमिव स्थितं रैवतकं गिरिमद्राक्षीत्।

हिन्दी—श्री कृष्ण भगवान् ने इन्द्रनीलमणियों से सम्बद्ध विभिन्न रङ्गों के गैरकादि धातुओं वाले (अतएव) रत्नों की किरणों के साथ भूमि को फाड़कर ऊपर हुए सर्पों के निश्वास धूम के समान स्थित रैवतक पर्वत को देखा ॥ १ ॥

विशेष—कर्ता, कर्म तथा क्रिया से सम्बद्ध "असौ गिरिं रैवतकं ददर्श" इस वाक्य का अन्वय नवाँ श्लोक तक होने से कुलक योग कहा गया है। दो श्लोकों का एक क्रिया में अन्वय हो तो युग्म, तीन का हो तो विशेषक, चार का हो तो कलापक तथा पाँच या उससे अधिक का हो तो कुलक समझना चाहिए।

अथ श्रीकृष्णो गिरिं ददर्शेत्युक्तम्, कीदृशमित्याकांक्षायामेकान्वयेनाष्टभिस्तमेव गिरिं विशिनष्टि—

गुर्वीरजस्रं दृषदः समन्तादुपर्युपर्यम्बुमुचां वितानैः।
विन्ध्यायमानं दिवसस्य भर्तुर्मार्गं पुनः रोद्धुमिवोन्नमद्भिः ॥ २ ॥

अन्वयः—गुर्वीः दृषदः उपरि उपरि समन्तात् उन्नमद्भिः अम्बुमुचां वितानैः दिवसस्य भर्तुः मार्गं पुनः रोद्धुं विन्ध्यायमानम् इव (रैवतकं गिरिम् असौ ददर्श)

सुधा—गुर्वीः=महतीः, दृषदः=शिलातटीः, उपरि उपरि=चट्टानोपरि, सम-

न्तात् = सर्वतः, उन्नमद्भिः = ऊर्ध्वं गच्छद्भिः, अम्बुमुचां वितानैः = मेघवृन्दैः दिवस्य भर्तुः = सूर्यस्य, मार्गम् = पन्थानम्, पुनः = भूयः, रोद्धुं = निवारयितुं, विन्ध्यायमानमिव = विन्ध्यवदाचरन्तमिव (रैवतकं गिरिम् असौ ददर्श)।

विशेषः—अत्र विच्छिन्नमेघोन्नमनेन विन्ध्यायमानत्वोत्प्रेक्षणात् क्रियानिमित्त-क्रियास्वरूपयोरुत्प्रेक्षा । ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः ।

कोशः—अयनं वर्त्ममार्गाध्वपन्थानः पदवी सृतिः । सरणिः पद्धतिः पद्या वर्तन्येकपदीति च 'इत्यमरः । पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः ।

समासः—उन्नमद्भिः— उन्नमन्तीति उन्नमन्ति तैः । अम्बूनि मुञ्चन्तीति अम्बुमुचः (उपपदसमासः) तेषाम् अम्बुमुचाम् । विन्ध्यायमानं-विन्ध्यवत् आचर-न्तीति विन्ध्यायमानः, तम् ।

व्याकरणम्—दृषदः उपरि उपरि 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' (८ । १ । १७) इति द्वित्वभावे तद्योगाद् द्वितीया । यथाह वामनः—'उपर्यादिषु सामीप्ये दिरुक्तेषु द्वितीया' इति । अम्बुमुचाम्अम्बु+मुच्+क्विप्+आम् । पुनर्+रोद्धुं 'रोरि' इति रलोपे, 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति दीर्घे । रोद्धुं–रुध्+तुमुन् ।

सं० भा०—भगवान् श्रीकृष्णः महतीः शिलातटीरुपरिप्रदेशे समन्ता-दुत्पतद्भिः मेघानां समूहैः सूर्यस्य मार्गं पुनरवरोद्धुं विन्ध्यपर्वतमिवाचरन्तं रैवतकं गिरिं ददर्श ।

हिन्दी—भगवान् श्री कृष्ण ने बड़ी बड़ी शिलाओं के ऊपर निरन्तर ऊंचे की ओर उभड़ते हुए मेघों से सूर्य के मार्गों को फिर से रोकने के लिये बढ़ते हुए विन्ध्याचल की तरह (रैवतक पर्वत को देखा) ॥ २ ॥

विशेष—पुराणों में यह कथा वर्णित है कि 'एक समय विन्ध्याचल के मन में आया कि सुमेरु पर्वत पर देवताओं का निवास है तथा सूर्य भी उसकी परि-क्रमा करते हैं, हमारे यहाँ किसी का वास नहीं है । तब वह ऊपर की ओर बढ़ना आरम्भ किया तथा इतना अधिक ऊँचा उठ गया कि सूर्य का मार्ग भी अवरुद्ध हो गया । त्रिभुवन में हाहाकार मच गया । सभी देवता घबड़ा उठे । सबों ने मिलकर विन्ध्याचल के गुरु अगस्त्य ऋषि से प्रार्थना की । अगस्त्य ऋषि जब वहाँ पहुंचे तो विन्ध्याचल ने सिर झुकाकर प्रणाम किया । ऋषि ने उनसे कहा कि जब तक मैं यहाँ पुनः वापस न आऊँ तब तक तुम इसी तरह रहना ऋषि वहाँ से वापस चले आये तथा वहाँ पुनः कभी नहीं गये । तब से विन्ध्य-पर्वत अवनत ही है ॥ २ ॥

क्रान्तं रुचा काञ्चनवप्रभाजा नवप्रभाजालभृतां मणीनाम् ।
श्रितं शिलाश्यामलताऽभिरामं लताभिरामन्त्रितषट्पदाभिः ॥ ३ ॥

अन्वयः—(असौ) नवप्रभाजालभृतां मणीनां काञ्चनवप्रभाजा रुचा क्रान्तं शिलाश्यामलताऽभिरामम् आमन्त्रितषट्पदाभिः लताभिः श्रितम् (रैवतकं गिरिं ददर्श) ।

सुधा—(असौ) नवप्रभाजालभृतां=अभिनवकान्तिपटलधारिणां, मणीनां=गैरिकमनःशिलादिरत्नानां, काञ्चनवप्रभाजा=सुवर्णसानुयुक्तया, रुचा=कान्त्या, आक्रान्तं=व्याप्तं, शिलाश्यामलताभिरामम्=इन्द्रनीलश्यामतामनोहरम्, तथा, आमन्त्रितषट्पदाभिः=आहूतभ्रमराभिः, लताभिः=वल्लीभिः, श्रितं=व्याप्तम् (रैवतकं गिरिं ददर्श) ।

विशेषः—अत्र चरणान्तयमकालङ्कारः । लक्षणन्तु—

'अत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरयञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण ते नैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ (सा० द० १०-८)

मधुरचनात् माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः ।

कोशः—'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः । "मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपालिनः । द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः । 'स्युः प्रभारुग्रुचिस्त्विड्भाभाश्छविद्युतिदीप्तयः' इत्यमरः ।

सामासः—नवप्रभाजालभृतां—प्रभाणां जालानि प्रभाजालानि (ष० त०), नवानि च तानि प्रभाजालानि नवप्रभाजालानि (कर्म० धा०) तानि बिभ्रतीति नवप्रभाजालभृतः (उपपदसमासः), तेषाम् । काञ्चनवप्रभाजा—काञ्चनस्य वप्राः काञ्चनवप्राः (ष० त०) तान् भजतीति काञ्चनवप्रभाक् तया । शिलाश्यामलताऽभिरामं—शिलानां श्यामलता शिलाश्यामलता (ष० त०) तया अभिरामः, तम् (तृ० त०) । आमन्त्रितषट्पदाभिः—आमन्त्रिताः षट्पदाः याभिः, आमन्त्रितषट्पदाः, ताभिः (बहु०) ।

व्याकरणम्—काञ्चनवप्रभाजा—काञ्चनवप्र+भज्+ण्विः 'भजो ण्विः' (३।२।६२) इति ण्विः । क्रान्तं—क्रम्+क्तः ।

सं० भा०—श्रीकृष्णो नूतनप्रभासमूहधारिणां रत्नानां सुवर्णसानुयुक्तया रुचा व्याप्तमिन्द्रनीलश्यामतासुन्दरमाहूतभ्रमरयुक्तैर्लताभिर्व्याप्तं रैवतकं गिरिं ददर्श ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् ने नई-नई कान्तियों को धारण करने वाली

मणियों की सुनहरे शिखरों पर पड़नेवाली कान्ति से व्याप्त, इन्द्रनीलमणि की श्यामता से मनोहर एवं भँवरें जिनपर गूंज रहे हैं इस तरह की लताओं से युक्त रैवतक पर्वत को देखा ॥ ३ ॥

सहस्रसङ्ख्यैर्गगनं शिरोभिः पादैर्भुवं व्याप्य वितिष्ठमानम् ।
विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं साधु हिरण्यगर्भम् ॥ ४ ॥

अन्वयः—(असौ) सहस्रसंख्यैः शिरोभिः गगनं, (सहस्रसंख्यैः) पादैः भुवं व्याप्य वितिष्ठमानं विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं साधु हिरण्यगर्भम् (गिरिं ददर्श) ।

सुधा—(असौ) सहस्रसंख्यैः=सहस्रसंख्यकैः, बहुसंख्यकैरित्यर्थः, शिरोभिः=शिखरैः, हिरण्यगर्भपक्षे—शिखरैः=मस्तकैः, शीर्षैर्वा, गगनम्=आकाशम्, तथा (सहस्रसंख्यकैः) पादैः=पर्यन्तपर्वतैः, पक्षे-पादैः=चरणैः, भुवम्=पृथ्वीं, व्याप्य=व्याप्तं कृत्वा, वितिष्ठमानं=स्थितं, विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरं=नेत्रस्थानस्थितसूर्यचन्द्रमसम्, पक्षे—नेत्रीकृतदिनकरचन्द्रं, साधु=सत्यं, हिरण्यगर्भं=ब्रह्माणमिवेत्युत्प्रेक्षा, साधुहिरण्यगर्भं=सुन्दरसुवर्णमध्यम्, (गिरिं ददर्श)। हिरण्यगर्भशब्देनात्र रैवतकः सुवर्णस्याकरोऽस्तीति व्यज्यते ।

कोशः—'पादो ब्रध्ने तुरीयांशे शैलप्रत्यन्तपर्वते । चरणे च मयूखे च' इति मेदिनी । 'भास्वद्विवस्वत्सप्ताश्वहरिदश्वोष्णरश्मयः' इत्यमरः । 'हिरण्यगर्भो लोकेशः स्वयंभूश्चतुराननः ।' इत्यमरः ।

समासः—सहस्रसंख्यैः–सहस्रं संख्या येषां तानि सहस्रसंख्यानि तैः (बहु०), पादपक्षे सहस्रं संख्या येषां ते सहस्रसंख्याः तैः (बहु०) । वितिष्ठमानं–वितिष्ठत इति वितिष्ठमानः तम् । विलोचनस्थानगतोष्णरश्मिनिशाकरम्-विलोचनयोः स्थानं विलोचनस्थानम् (ष० त०) तत्र गतौ उष्णरश्मिनिशाकरौ यस्य स तम् । (बहु० स०) । हिरण्यगर्भम्–हिरण्यं गर्भे यस्य स हिरण्यगर्भस्तम् । (बहु०)

व्या०—व्याप्य–वि+आप्+क्त्वा (ल्यप्) । वितिष्ठमानं–वि+स्था–तिष्ठ 'समवप्रविभ्यः स्थः' (१।३।२२) इत्यात्मनेपदे शानच् ।

सं० भा०—यथा जगत्कर्ता परमेश्वरो हिरण्यगर्भाख्यो बहुसंख्यकैः शिरोभिः बहुसंख्यैश्च पादैः जगदिदं व्याप्य अन्तः स्थित्वा स्थित आसीत् 'उक्तञ्च ऋग्वेदे–सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्–इत्यादि । एवं तस्य परमेश्वरस्य

लोचने सूर्याचन्द्रमसौ वर्त्तेते । एतादृशं हिरण्यगर्भसदृशं रैवतकं भगवान् कृष्णः' ददर्श । रैवतके पर्वते अनेकशः उच्चैः शीर्षाणि आसन्, एवम् अल्पतराणि अन्यान्यपि पादस्थानि शीर्षाणि आसन् । सूर्यश्चन्द्रश्चेति द्वयं तस्य रैवतकस्य नेत्रद्वयमासीत् । कविना उपर्युक्तश्लोकेन हिरण्यगर्भेण साकं रैवतकस्योपमा प्रत्यदर्शि।

हिन्दी—भगवान् श्री कृष्ण ने सहस्रों चोटियों से आकाश में तथा सहस्रों समीपस्थ छोटे-छोटे पर्वतों से पृथ्वी को व्याप्त कर स्थित तथा नेत्ररूप में स्थित सूर्य और चन्द्र से युक्त (अत एव) हजारों मस्तकों से आकाश में तथा हजारों चरणों से पृथिवी पर व्याप्त होकर स्थित सूर्य और चन्द्र ही जिनके नेत्र हैं ऐसे वास्तविक ब्रह्मा जी के समान (सुवर्ण की खानों वाले) उस रैवतक पर्वत को देखा ॥ ४ ॥

विशेषः—'सहस्रशीर्षा पुरुषः' इत्यादि श्रुति वाक्य के अनुसार रैवतक पर्वत में हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) की उत्प्रेक्षा करने से उत्प्रेक्षा अलंकार है ॥ ४ ॥

क्वचिज्जलाऽपायविपाण्डुराणि धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि ।
अभ्राणि बिभ्राणमुमाऽङ्गसङ्गविभक्तभस्मानमिव स्मराऽरिम् ॥ ५ ॥

अन्वयः—(असौ) क्वचित् जलाऽपायविपाण्डुराणि धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि अभ्राणि बिभ्राणम् उमाऽङ्गसङ्गविभक्तभस्मानं स्मराऽरिम् इव (रैवतकं ददर्श) ।

सुधा—(असौ) क्वचित्=कुत्रचित् प्रदेशे, जलाऽपायविपाण्डुराणि=जलापगमशुभ्राणि, अत एव, धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि=क्षालितोत्तरासङ्गसमानकान्तीनि, तादृशानि, अभ्राणि=मेघान्, बिभ्राणम्=धारयन्तम्, उमाऽङ्गसङ्गविभक्तभस्मानं=पार्वतीशरीरसम्पर्कऽपगतमूर्ति, स्मराऽरिम् इव=शिवमिव, स्थितम् (रैवतकं ददर्श) ।

विशेषः—अत्र द्वितीयपादे लुप्तोपमा, तथाविधस्मरारिसादृश्यं प्रति जलापायादिपदार्था हेतव इति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गश्चेति उपमया सह सङ्करः। छेकानुप्रासश्चेति समुदाये संसृष्टिः । बन्धस्य विकटत्वाद् ओजो गुणः गौड़ी च रीतिः ।

कोशः—'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा संव्यानमुत्तरीयञ्च' इत्यमरः । 'शोभाकान्तिर्द्युतिश्छविः' इत्यमरः । 'उमा कात्यायनी गौरी काली हैमवतीश्वरी । शिवा भवानी रुद्राणी शर्वाणी सर्वमङ्गला । अपर्णा पार्वती दुर्गा

मृडानी चण्डिकाम्बिका' इत्यमरः। 'अभ्रं मेघो वारिवाहः' इत्यमरः।

समासः—जलाऽपायविपाण्डुराणि—जलस्य अपायः (ष० त०) तेन विपाण्डुराणि (तृ० त०)। धौतोत्तरीयप्रतिमच्छवीनि—धौतं च तत् उत्तरीयम् (कर्म० स०) तस्य प्रतिमा छविर्येषां तानि (बहु० स०)। उमाङ्गसङ्ग-विभक्तभस्मानम्—उमायाः अङ्गम् (ष० त०), तेन विभक्तं भस्म यस्य (बहु०) तम्। स्मरारिम्—स्मरस्य अरिः (ष० त०) तम्।

व्याक०—बिभ्राणं—बिभृत इति बिभ्राणः, तम्, 'डुभृञ् धारणपोषणयोः' कर्त्तरि लट्, तत्स्थाने शानच्।

सं० भा०—कुत्रचिद्देशे जलापगमेन जलशून्येन शुक्लवर्णानि, अत एव प्रक्षालितोत्तरीयवस्त्रवत् शोभापन्नान्यभ्राणि अर्थात् मेघान् धारयन्तमतएव उमाशरीर-सम्पर्कात् निःश्रितभूतिं शिवमिव स्थितम् (असौ कृष्णः रैवतकं ददर्श।) अयं भावः—तस्मिन् खलु रैवतके क्वचिद् भागविशेषे जलरहितत्वाद् मेघाः शुक्लवर्णाः, क्वचिद् भागविशेषे जलयुक्तत्वाद् धूम्रवर्णाश्चासन्। अतश्च रैवतकस्य शरीरं शिवसदृशमेव आसीत्। यथा भगवतः शिवस्य शरीरभागविशेषः पार्वत्या आलिङ्गनेन भस्मरहितः, कश्चिच्च भागविशेषः भस्मभूषित आसीत्।

हिन्दी—कहीं कहीं जल के बरस जाने से रिक्त होने के कारण पाण्डुवर्ण-वाले, अतएव धुले हुए दुपट्टे की सी कान्तिवाले (सफेद) मेघों को धारण करते हुए (अतएव) पार्वती के स्पर्श से अलग हुए भस्मवाले शङ्कर जी के समान स्थित रैवतक पर्वत को श्रीकृष्ण ने देखा ॥ ५ ॥

छायां निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किञ्चिच्चटुलाऽलसानाम्।
कुर्वाणमुत्पिञ्जलजातपत्रैर्विहङ्गमानां जलजातपत्रैः ॥ ६ ॥

अन्वयः—(असौ) निजस्त्रीचटुलालसानां मदेन किञ्चित् चटुलाऽलसानां विहङ्गमानाम् उत्पिञ्जलजातपत्रैः जलजातपत्रैः छायां कुर्वाणम् (रैवतकं ददर्श)।

सुधा—(असौ = श्रीकृष्णः) निजस्त्रीचटुलालसानां = स्वसहचरीप्रियवचन-लोलुपानां, मदेन—मदत्वेन, किञ्चित् = ईषत्, चटुलाऽलसानां = चञ्चलमन्दानां, विहङ्गमानां = हंसादिपक्षिणाम्, उत्पिञ्जलजातपत्रैः = उत्पिञ्जरीभूतदलैः, ऊर्ध्व-कपिशीभूतपर्णैः, जलजातपत्रैः = कमलच्छत्रैः, छायाम् = अनातपम्, कुर्वाणं = विदधानम् (गिरिं ददर्श)। एतेन महती कमलाकारसमृद्धिर्व्यज्यते। अत्र यमक-रूपकयोः सङ्करः।

कोशः—'लोलुपो लोलुभो लोलो लम्पटो लालसोऽपि च' इति यादवः। 'मन्दस्तुन्दपरिमृज आलस्यः शीतकोऽलसोऽनुष्णः' इत्यमरः। 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः' इत्यमरः। 'खगे विहङ्गविहगविहङ्गमविहायसः। शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः' इत्यमरः।

समासः—निजस्त्रीचटुलालसानाम्–निजाः च ताः स्त्रियः (कर्म०) तासां चटवः (ष० त०) तेषु लालसाः (स० त०) तेषाम्। चटुलाः लम्पटाः अपरम् अलसा मन्थरास्तेषाम्। उत्पिञ्जलजातपत्रैः—उत् ऊर्ध्वानि पिञ्चलानि कपिशानि जातानि पत्राणि पर्णाणि येषां तानि, (विशेषणसमासः) जलजातपत्रैः—जलजैरेव आतपत्रैः।

व्या०—कुर्वाणम्—डुकृञ् करणे+शानच्।

सं० भा०—स्वकीयपत्नीनां प्रियवचनेषु लोलुपानां मदविशेषेण किञ्चिच्चञ्चलमन्दानां हसानामुपरि उत्पिञ्जरीभूतपत्रैः किसलयच्छत्रैश्छायां विदधतं रैवतकं ददर्श। अयं भावः–हंसादिखगानां रूपं शुक्लं भवति किसलयच्छत्राणां छाया नीला भवति, एवञ्च हंसादिखगानां पङ्खेषु नीलवर्णं कुर्वाणं कमलरूपच्छत्रैः रैवतकं ददर्शेति।

हिन्दी—(भगवान् श्री कृष्ण ने) अपनी स्त्रियों के प्रिय वचनों को सुनने के लिए उत्सुक और मद से कुछ कुछ चञ्चल एवं आलसी हंस आदि पक्षियों के ऊपर (मुरझाने से) कुछ पीले पड़े या बिखरे हुए पत्तों वाले कमलरूप छत्रों से छाया करते हुए (रैवतक पर्वत को देखा) ॥ ६ ॥

स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठानुर्वीरुहः श्लिष्टतनूनहीन्द्रैः।
प्रनर्तितानेकलताभुजाग्रान् रुद्राननेकानिव धारयन्तम् ॥ ७ ॥

अन्वयः—(असौ) स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान् अहीन्द्रैः श्लिष्टतनून् प्रनर्तिताऽनेकलताभुजाऽग्रान् अनेकान् रुद्रान् इव ऊर्वीरुहो धारयन्तम् (रैवतकं ददर्श)।

सुधा—(असौ) स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान्=वृक्षपक्षे–प्रकाण्डस्थित दीप्तमयूरान्, रुद्रपक्षे—अंसस्थितदीप्तश्यामगलान्, अहीन्द्रैः=महोरगैः, श्लिष्टतनून्=आलिङ्गितवपुषः, व्याप्तदेहान्, प्रणतिताऽनेकलतामुजाऽग्रान्=वृक्षपक्षे–वायुवशाच्चालितानेकवल्लीरूपमुजाग्रभागान्, रुद्रपक्षे-ताण्डवितवहुवल्लीरूपबाह्वग्रान्, अत एव, अनेकान्=असंख्यान्, रुद्रान्=शिवान् इव, ऊर्वीरुहः=वृक्षान्,

धारयन्तम् = बिभ्राणम्, (गिरिं ददर्श) अत्र तृतीयचरणे निरङ्ग, केवलरूपकञ्चेति उत्प्रेक्षया सह सङ्करः ।

कोशः—'अंसप्रकाण्डयोः स्कन्धः' इति विश्वः । 'सर्पः पृदाकुर्भुजगो भुजङ्गोऽहिर्भुजङ्गमः' इत्यमरः । 'भुजबाहू प्रवेष्टो दोः' इत्यमरः । 'मयूरो बर्हिणो बर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक् ।' इत्यमरः ।

समासः—स्कन्धाधिरूढोज्ज्वलनीलकण्ठान् (वृक्षपक्षे) स्कन्धम् अधिरूढाः (द्वि० त०) स्कन्धाधिरूढा उज्ज्वला नीलकण्ठा येषां ते, तान् (बहु०) (रुद्रपक्षे) स्कन्धऽधिरूढा नीलाः कण्ठा येषां ते, तान् (बहु०) । श्लिष्टतनून्—श्लिष्टाः तन्वः येषां तान् (बहु०) । प्रनर्तिताऽनेकलताभुजाऽग्रान् = (वृक्षपक्षे) अनेकाश्च ता लताः (क० धा०) अनेकलता एव भुजाः (रूपक) । तेषाम् अग्राणि (ष० त०) । प्रनर्तितानि अनेकलताभुजाऽग्राणि येषां ते, तान् (बहु०) । रुद्रपक्षे—अनेकलता इव भुजाः ।

व्या०—ऊर्वीरुहः—ऊर्वी + रुह + क्विप् । धारयन्तम्—धृ + णिच् + शतृ ।

सं० भा०—असौ कृष्णः स्कन्धस्थितनीलगलान् नागैर्व्याप्तदेहान् ताण्डवितलतासदृशबाह्वग्रान् असंख्यान् रुद्रानिव प्रकाण्डारूढदीप्तमयूरान् नागैर्व्याप्तदेहान् ताण्डवितबहुवल्लीरूपबह्वग्रान् वृक्षान् धारयन्तं रैवतकं ददर्श ।

हिन्दी—भगवान् श्री कृष्ण ने काण्डों पर चमकते हुए नील से युक्त, साँपों से लिपटे हुए, लता रूप भुजाओं से सुशोभित, स्कन्धे में स्थित नील कण्ठों वाले, सर्पों से अलंकृत शरीर वाले, (ताण्डव के समय) लताओं की भाँति नचाते हुए भुजाओं के अग्र भाग वाले । असंख्य रुद्रों की तरह अनेकों वृक्षों से युक्त रैवतक पर्वत को देखा ॥ ७ ॥

विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः कपोलभित्तीरिव लोध्रगौरीः ।
नवोलपाऽलंकृतसैकताभाः शुचीरपः शैवलिनीर्दधानम् ॥ ८ ॥

अन्वयः—(असौ) विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः लोध्रगौरीः कपोलभित्तीः इवः, नवोलपाऽलंकृतसैकताभाः शुचीः शैवलिनीः अपः दधानम् (रैवतकं गिरिं ददर्श) ।

सुधा—(असौ=श्रीकृष्णः) विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः = लम्बमाननीलकमलकर्णाभरणाः, लोध्रगौरीः = लोध्ररजोभेदेन गौरकान्तीः, कपोलभित्तीः इव = गण्डस्थलीतुल्याः, स्थिताः, तथा नवोपलाऽलंकृतसैकताभाः = नूतनवल्वजतृण-

शोभितवालुकातटसमकान्तीः, शुचीः = निर्मलाः, शैवालिनीः = शेवलयुक्ताः, अपः = जलानि, दधानम् = धारयन्तम् (रैवतकं गिरिं ददर्श) अत्र कपोलभित्तीरिवेति श्रौतोपमा, सैकताभा इति च अर्थोपमा इत्युभयोर्मिथो निरपेक्षतया संसृष्टिः ॥८॥

कोशः—'उलपः वल्वजाः प्रोक्ताः' इति विश्वः। 'जलनीली तु शेवालं शैवलः' इत्यमरः। 'तोयोत्थितं तत्पुलिनं सैकतं सिकतामयम्' इत्यमरः। 'आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्' इत्यमरः।

समासः—विलम्बिनीलोत्पलकर्णपूराः—विलम्बन्ते तच्छीला इति विलम्बिनः, विलम्बीनि नीलोत्पलानि एव कर्णपूराः यासां ताः (बहु०)। लोध्रगौरीः—लोध्रेण गौर्यः, ताः (तृ० त०)। कपोलभित्तीः—कपोला एव भित्तयः। नवोपलाऽलङ्कृतसैकताभाः—नवं च तदुत्पलं नवोत्पलं (कर्म०) तेन अलङ्कृतं यत् सैकतम् (तृ० त०) तस्य आभा इव आभा यासां ताः (बहु०)।

व्या०—लोध्रगौरीः—लोध्रगौर + ङीप् 'षिद् गौरादिभ्यश्च' (४।१।४१) इति। शैवालिनीः—शैवाल + इनि, 'अत इनिठनौ' इति, + ङीप् 'ऋन्नेभ्यो ङीप्'।

सं० भा०—श्रीकृष्णो विलम्बिनीलकमलकर्णाऽवतंसाः स्त्रीणां कपोलभित्तीरिव स्थिताः नूतनवल्वजतृणभूषितवालुकातटसमकान्तीः शुद्धाः शैवालयुक्ता अपो धारयन्तं रैवतकं गिरिं ददर्श।

हिन्दी—(श्री कृष्ण ने) लटकते हुए नीलकमलरूपी कर्णफूलों वाली, लोध्र पुष्प के पराग से गोरे वर्ण की (स्त्रियों की) गण्डपालियों की तरह तथा नये नये वल्वज घास से सुशोभित बालू जैसी निर्मल एवं सेंवार वाले जलों को धारण करते हुए (रैवतक पर्वत को देखा) ॥ ८ ॥

राजीवराजीवशलोलभृङ्गं मुष्णन्तमुष्णं ततिभिस्तरूणाम्।
कान्तालकान्ता ललनाः सुराणां रक्षोभिरक्षोभितमुद्वहन्तम् ॥ ९ ॥

अन्वयः—राजीवराजीवशलोलभृङ्गं तरूणां ततिभिः उष्णं मुष्णन्तं कान्तालकान्ताः सुराणां ललनाः रक्षोभिः अक्षोभितम् उद्वहन्तम् (असौ गिरिं ददर्श)।

सुधा—राजीवराजीवशलोलभृङ्गं = कमलपङ्क्तिवशीभूतचञ्चलभ्रमरं, तरूणां = वृक्षाणां, ततिभिः = समूहैः, उष्णम् = आतपम्, मुष्णन्तम् = अपहरन्तं, कान्तालकान्ताः = मनोहरचूर्णकुन्तलाग्राः, सुराणां = देवाना, ललनाः = स्त्रियः, अप्सरसः, रक्षोभिः = राक्षसैः, अक्षोभितम् = अनभिभूतं यथा स्यत्तथा, उद्वहन्तं =

धारयन्तम् (असौ=श्री कृष्णः गिरिं ददर्श) अत्र यमकालङ्कारः, माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः ।

कोशः—'कान्तं मनोरमं रुच्यं मनोज्ञं मञ्जुमञ्जुलम्' इत्यमरः । 'अलकाश्चूर्ण-कुन्तलाः' इत्यमरः । 'राक्षसः कोणपः क्रव्यात्क्रव्यादोऽस्रप आशरः' रात्रिञ्चरो रात्रिचरः कर्बुरो निकषात्मजोः धानातुधः नैऋतो यातु राक्षसी' इत्यमरः ।

समासः—राजीवराजीवशलोलभृङ्गम्—राजीवानां राजय इति राजीव-राजयः (ष० त०) राजीवराजीनां वशाः (ष० त०) ते लोलाः भृङ्गाः यस्मिन् तम् (बहु०) । कान्तालकान्ताः—अलकानाम् अन्ताः अलकान्ताः (ष० त०) कान्ता अलकान्ता यासां ताः (बहु०) । अक्षोभितम्—न क्षोभितम् अक्षो-भितम् (नञ् ०) ।

व्या०—मुष्णन्तम्—मुष्णातीति मुष्णन्, तम्, मुष्+लट् (शतृ) । उद्-वहन्तम्—उद्+वह+शतृ ।

सं० भा०—असौ श्रीकृष्णः कमलपङ्क्त्यधीनचञ्चलभ्रमरं वृक्षाणां पङ्क्ति भिरातपं मुष्णन्तं रम्यचूर्णकुन्तलाऽग्राः सुराणां स्त्रियः (अप्सरसः) राक्षसैरनभिभूतं यथा तथा धारयन्तं रैवतकं गिरिं ददर्श ।

हिन्दी—कमलपंक्तियों के वशीभूत चञ्चल भौरों वाले, आतप को दूर करते हुए वृक्षसमूहों वाले तथा राक्षसों के भय से रहित सुन्दर जूड़ोंवाली देवाङ्ग-नाओं को धारण करनेवाले (इस रैवतक पर्वत को श्री कृष्ण ने देखा) ॥ ९ ॥

मुदे मुरारेरमरैः सुमेरोरानीय यस्योपचितस्य शृङ्गैः ।
भवन्ति नोद्दामगिरां कवीनामुच्छ्रायसौन्दर्यगुणा मृषोद्याः ॥१०॥

अन्वयः—मुरारेः मुदे अमरैः सुमेरोः शृङ्गैः आनीय उपचितस्य यस्य उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः उद्दामगिरां कवीनां मृषोद्याः न भवन्ति ॥ १० ॥

सुधा—मुरारेः=श्रीकृष्णस्य, मुदे=हर्षाय, अमरैः=देवैः, सुमेरोः=हेमाद्रेः, शृङ्गैः=शिखरैः, आनीय=समानीय, आश्रयं विधाय, उपचितस्य=वर्धितस्य, यस्य=रैवतकपर्वतस्य, उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः=औन्नत्यसौन्दर्योत्कर्षाः, उद्दामगिराम्=उद्भटवाचां, कवीनां=काव्यकर्तृणां, मृषोद्याः=मिथ्याकथनीयाः, न भवन्ति=न जायन्ते ।

विशेषः—अत्र सुमेरुशृङ्गासम्बन्धेऽपि तद् सम्बन्धवर्णनादतिशयोक्तिर-लङ्कारः । सामान्यलक्षणं यथा—'सिद्धत्वेऽध्यवसायस्याऽतिशयोक्तिर्निगद्यते' । (सा०

द० १०–४६) प्रथमपादे वृत्यनुप्रासच्छेकानुप्रासयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः, तस्यापि चातिशयोक्त्या सह पुनः संसृष्टिः ।

कोशः—'मेरुः सुमेरुः हेमाद्रौ रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः । 'कूटोऽस्त्री शिखरंशृङ्गम्' इत्यमरः ।

समासः—उच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः–सुन्दरस्य भावः सौन्दर्यम्, उच्छ्रायश्च सौन्दर्यञ्च उच्छ्रायसौन्दर्ये (द्वन्द्व) उच्छ्रायसौन्दर्ययोः गुणः (ष० त०)। मुरारेः–मुरस्य अरिः, तस्य (ष० त०) । मृषोधाः–मृषा उद्यन्त इति ।

व्या०—आनीय—आङ्+नी+क्त्वा (ल्यप्) । उपचितस्य—उप+चि+क्तः । उच्छ्रायः–उत्+श्रि+घञ्, 'श्रिणीभुवोऽनुपसर्गे' (३।३।२४) इति घञ् । मृषोद्याः—मृष–उपपदपूर्वक 'वद व्यक्तायां वाचि' इति धातोः राजसूयसूर्यमृषोद्यरुच्यकुप्यकृष्टपच्याव्यथ्याः' इति सूत्रेण कर्मणि क्यबन्तो निपातः । कवीनामिति कर्त्तरि षष्ठी ।

सं० भा०—श्रीकृष्णस्य प्रीतयेऽमरैः हेमाद्रेः शिखरैरानीय वर्धितस्य रैवतकस्योच्छ्रायसौन्दर्यगुणाः प्रगल्भवचनानां कवीनां मिथ्यावाच्या न भवन्ति ।

हिन्दी—श्रीकृष्ण भगवान् को प्रसन्न करने के लिये देवताओं ने सुमेरु पर्वत की चोटियों को लाकर बढ़ाये हुए जिस रैवतक की ऊचाई और सौन्दर्य के उत्कर्ष, प्रगल्भवाणी वाले कवियों के लिये असत्य वचन नहीं होते हैं ।। १० ।।

अथ रैवतकस्य रत्नप्राचुर्यमाह—

यतः परार्ध्यानि भृतान्यनूनैः प्रस्थैर्मुहुर्भूरिभिरुच्छिखानि ।
आढ्यादिव प्रापणिकादजस्रं जग्राह रत्नान्यमितानि लोकः ।।११।।

अन्वयः—लोकः परार्ध्यानि अनूनैः भूरिभिः प्रस्थैः भृतानि उच्छिखानि अमितानि रत्नानि यतः आढ्यात् प्रापणिकात् इव अजस्रं मुहुः जग्राहः ।

सुधा—लोकः=जनः, परार्ध्यानि=बहुमूल्यानि, अनूनैः=महद्भिः, भूरिभिः=प्रभूतैः, प्रस्थैः=सानुभिः, अन्यत्र प्रस्थैः= मापकविशेषैः, भृतानि=ऊढानि, अन्यः भृतानि=मितानि, उच्छिखानि=उद्गतकिरणानि, अमितानि=अपरिमितानि रत्नानि=मणीन्, यतः=रैवतकपर्वतात्, आढ्यात्=धनिकात्, प्रापणिकात्=वणिजः, इव=यथा, अजस्रं निरन्तरं, मुहुः=वारम्वारं, जग्राह=आददे । उपमालङ्कारः ।

कोशः—'लोकस्तु भुवने जने' इत्यमरः । 'पुरुहं पुरु भूयिष्ठं स्फिरं भूयश्च भूरि च' इत्यमरः । प्रस्थोऽस्त्री सानुमानयोः 'इत्यमरः' 'क्लीवे प्रधानं प्रमुख-

प्रवेकानुत्तमोत्तमाः। मुख्यवर्यवरेण्याश्च प्रवर्होऽनवरार्ध्यवत्। परार्ध्याग्रप्राग्रहर-प्राग्र्याग्र्याग्रीयमग्रियम्' इत्यमरः। 'इभ्य आढ्यो धनी' इत्यमरः। 'पाण्याजीवाः प्रापणिका वैदेहा नैगमाश्च ते। वनिज इति बैजयन्ती।

समासः—उच्छिखानि–उद्गताः शिखा येषां, तानि (बहु०)। अमितानि–न मितानि, तानि (नञ्)। प्रापणिकात्–प्रपणः=व्यवहारः, प्रयोजनं यस्य सः प्रापणिकः, तस्मात्।

व्या०—भृतानि–भृ+क्तः। प्रापणिकात्–'प्रपण' शब्दात् 'तदस्य प्रयोजनम्' इति ठक्, तत्स्थाने 'ठस्येकः' इति इक् आदेशः। जग्राह—ग्रह उपादाने+लिट्—तिप्—णल्।

सं० भा०—जनाः रैवतकपर्वतात् बहुमूल्यानि प्रचुरैः प्रस्थैरुद्गतकिरणानि अपरिमितानि रत्नानि धनिकाद् वनिज इव मुहुः गृहीतवन्तः।

हिन्दी—(रैवतक पर्वत के आस-पास रहने वाले) लोग बड़े और प्रचुर प्रस्थों (परिमाण विशेषों) से मापे गये, ऊपर को उठती किरणों वाले अपरमित बहुमूल्य रत्नों को जैसे व्यापारी किसी जौहरी के यहाँ से ले आते हैं उसी तरह रैवतक पर्वत पर से ले आते थे॥ ११॥

अखिद्यतासन्नमुदग्रतापं रविं दधानेऽप्यरविन्दधाने।
भृङ्गावलिर्यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा न मत्ता॥१२॥

अन्वयः—आसन्नम् उदग्रतापं रविं दधाने अपि अरविन्दधाने यस्य तटे निपीतरसा नमत्तामरसा मत्ता भृङ्गावलिः न अखिद्यत।

सुधा—आसन्नं=निकटस्थम्, उदग्रतापं=प्रचण्डकिरणं, रविं=सूर्यं, दधाने अपि=बिभ्रत्यपि, (अपि विस्मये) अरविन्दधाने=कमलनिधाने, यस्य=रैवतकपर्वतस्य, तटे=रोधसि, निपीतरसा=नितरां पीतमकरन्दा, नमत्तामरसा=नमदरविन्दा (अए एव) मत्ता=मदयुक्ता, भृङ्गावलिः=भ्रमरपंक्तिः, न अखिद्यत=न खिन्ना। सूर्यस्यातिसामीप्येऽपि कमलाकरविरहाद् भ्रमरा अत्र तापं न प्रासवन्त इति भावः। शब्दश्लेषमूलविरोधालङ्कारः।

कोशः—'वा पुंसि पद्मं नलिनमरविन्दं महोत्पलम्' सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्। पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम् इत्यमरः।

समासः—उदग्रतापम्–उदग्रः तापः यस्य सः, तम् (बहु०)। अरविन्दधाने–अरविन्दा धीयन्तेऽस्मिन्निति अरविन्दधानम्, अरविन्दानां पद्मानां धानं

स्थानं तस्मिन् (ष० त०)। नमत्तामरसा—नमन्ति तामरसानि यया सा (बहु०) भृङ्गावलिः—भृङ्गाणाम् आवलिः (ष० त०)। निपीतरसा—नितरां पीतो रसो यया सा निपीतरसा (बहु०)।

व्याकरणम्—धीयते अस्मिन् इति धानम् अधिकरणे ल्युट्। मत्ता—मद् + क्त+टाप्। अखिद्यत—दिवादिगणस्थखिद धातोः कर्तरि लङ्, त।

सं० भा०—अतिसमीपत्वाद् उदग्रतापं सूर्यं बिभ्रत्यपि कमलनिधाने यस्य रैवतकस्य तटे नितरां पीतमकरन्दा नमदरविन्दा मत्ता भ्रमरावलिर्नाखिद्यत।

हिन्दी—(इस पर्वत के अत्यन्त ऊँचा होने से) यद्यपि तीव्र सन्ताप वाला सूर्य इस पर्वत के अत्यन्त निकट था, फिर भी कमलों से भरे इसके तटों पर पुष्ट रस का पान करती हुई तथा अपने भार से कमलों को झुकाती हुई मदोन्मत्त भ्रमरपंक्ति किसी प्रकार खिन्न नहीं होती थी ॥ १२ ॥

सुत्राधिरूढेन महीरुहोच्चैरुन्निद्रपुष्पाक्षिसहस्रभाजा।
सुराधिपाऽधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ राजतगण्डशैलः ॥ १३ ॥

अन्वयः—यत्र राजतगण्डशैलः उन्निद्रपुष्पाऽक्षिसहस्रभाजा अधिरुढेन उच्चैः महीरुहा सुराऽधिपाऽधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां दधौ।

सुधा—यत्र=यस्मिन् पर्वते, राजतगण्डशैलः=रूप्यस्थूलगलितपाषाणः, उन्निद्रपुष्पाऽक्षिसहस्रभाजा=प्रफुल्लकुसुमनयनसहस्रयुक्तेन, अधिरूढेन=उपरि स्थितेन, उच्चैः=उन्नतेन, महीरुहा=वृक्षेण, सुराऽधिपाऽधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां= इन्द्राधिरूढैरावतशोभाम्, दधौ=बभार। ऐरावतस्य धावल्यादिति भावः। अत्र पुष्पाक्षीति लुप्तोपमा चेति निदर्शनया सहास्य अङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। बन्धस्य प्रगाढत्वात् समासबाहुल्याच्च ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः।

कोशः—'गण्डशैलास्तु च्युताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः। 'हस्तिमल्लोऽभ्रमातङ्गे हस्तिमल्लो विनायके' इति विश्वः।

समासः—राजतगण्डशैलः—रजतस्य विकारो राजतः, राजताश्चासौ गण्डशैलः (कर्म०)। उन्निद्रपुष्पाऽक्षिसहस्रभाजा—उद्गता निद्रा येभ्यस्तानि उन्निद्राणि (बहु०) उन्निन्द्राणि च तानि पुष्पाणि (क० धा०)। उन्निद्रपुष्पाणि अक्षीणि इव (उपमित समासः) उन्निद्रपुष्पाक्षीणि तेषां सहस्रं भजतीति (उपपदसमासः) तेन। सुराऽधिपाऽधिष्ठितहस्तिमल्ललीलां—सुराणाम् अधिपः (ष० त०), हस्ती मल्ल इव (उपमित समासः), सुराधिपेन अधिष्ठितः (तृ० त०)

सुराऽधिपाऽधिष्ठितश्चासौ हस्तिमल्लः (कर्म०) तस्य लीला, ताम् (ष० त०)।

व्या०—राजत्–रजत + अन् 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' (४।१।१५४) इति। दधौ—डुधाञ् धारणपोषणयोः इति धातोः लिट्, तिप्—णल् 'आत औ णलः' (७।१।३४) इति णल औकारादेशः।

सं० भा०—यस्मिन् रैवतकपर्वते रूप्यमयगिरिच्युतस्थूलप्रस्थरो नेत्रसदृश-विकसितकुसुमसहस्रयुक्तेनाधिरूढेनोन्नत वृक्षेणइन्द्राऽधिष्ठितैरावत शोभां वभार।

हिन्दी—जिस रैवतक पर्वत पर पर्वत से गिरे हुए रुपहले चट्टानपर उगा हुआ तथा हजारों आँखों जैसे खिले हुए पुष्पोंवाला ऊँचा वृक्ष श्वेत रंग के विशाल ऐरावत हाथी पर आरूढ़ सहस्राक्ष इन्द्र की शोभा को धारण कर रहा था॥ १३॥

विभिन्नवर्णा गरुडाग्रजेन सूर्यस्य रथ्याः परितः स्फुरन्त्या।
रत्नैः पुनर्यत्र रुचा रुचं स्वामानिन्यिरे वंशकरीरनीलैः॥१४॥

अन्वयः—गरुडाग्रजेन विभिन्नवर्णाः सूर्यस्य रथ्याः यत्र वंशकरीरनीलैः रत्नैः परितः स्फुरन्त्या रुचा पुनः स्वां रुचम् आनिन्यिरे।

सुधा—गरुडाग्रजेन = अरुणेन, विभिन्नवर्णाः = अन्यथाकृतवर्णाः, अरुणिमानमापादितेत्यर्थः। सूर्यस्य = दिवाकरस्य, रथ्याः = अश्वाः, यत्र = रैवतकपर्वते, वंशकरीरनीलैः=वंशाङ्कुरहरितैः, इन्द्रनीलैरित्यर्थः। रत्नैः = मणिभिः, परितः= सर्वतः, स्फुरन्त्या = व्यापिन्त्या, संचलन्त्येति भावः। रुचा = कान्त्या, पुनः = भूयः, स्वाम्=आत्मीयां, रुचं=कान्तिम्, आनिन्यिरे=प्रापिताः, आनीताः।

विशेषः—अत्र विभिन्नवर्णा इत्येकस्तद्गुणः। रथ्यानां स्वगुणत्यागेन गरुडाग्रजागुणग्रहणात् पुनस्तत्त्यागेन मरकतगुणग्रहणादपरस्तद्गुणस्तदुपजीवीति सजातीययोः सङ्करः। तद्गुणस्य लक्षणं साहित्यदर्पणे यथा—'तद्गुणः स्वगुणस्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः' इति तेन रैवतकस्य पर्वतस्य सूर्यमण्डलपर्यन्तमौनत्यं वस्तु व्यज्यते, इति। अत्र वंशकरीरनीलेति लुप्तोपमा चेति सङ्करे तस्यापि प्रवेशः। बन्धस्य गाढ़त्वात् ओजो गुणः गौड़ी च रीतिः।

कोशः—'सूर्यसूतोऽरुणोऽनूरुः काश्यपिर्गरुड'ऽग्रजः।' इत्यमरः। 'रथ्यो वोढा रथस्य यः' इत्यमरः। 'वंशाऽङ्कुरे करीरोऽस्त्री' इत्यमरः।

समासः—गरुडाग्रजेन–गरुडस्य अग्रजः, तेन (ष० त०) विभिन्नवर्णाः–विभिन्नो वर्णो येषां ते (बहु०)। वंशकरीरनीलैः–वंशस्य करीराः (ष० त०)

वंशकरीराणि एव नीलानि तैः (उपमितसमासः)

व्या०—रथ्याः–रथं वहन्तीति रथ्याः, रथ+यत् 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' (४ । ४ । ७६) इति यत् । स्फुरन्त्या–स्फुर्+लट्+शतृ+ङीप्+टाप् । आनिन्यिरे–आङ् उपसर्गात् णीञ् प्रापणे इति धातोः कर्मणि लिट् । 'प्रधान-कर्मण्याख्येये लादीनाहुर्द्विकर्मणाम्' इति वचनात् ।

सं० भा०—यस्मिन् रैवतकपर्वतेऽरुणेन विभिन्नवर्णाः सूर्यस्य अश्वाः वंशाङ्कुरश्यामैर्मणिभिः (मरकतैः) सर्वतः स्फुरन्त्या स्वप्रभया पुनः स्वां कान्ति (निजनीलवर्णं) प्रापिताः ।

हिन्दी—(सूर्य के सारथि) अरुण की लालिमा से सूर्य के रथ में जुते हुए श्याम वर्ण वाले घोड़े रक्तवर्ण मांलूम प्रतीत होते थे लेकिन रैवतक पर्वत पर यह रथ आया तो वहाँ के बांस के अङ्कुरों के समान नील वर्णवाले रत्नों की फैलती हुई दीप्तकान्ति से वे पुनः श्याम वर्ण दीखने लगे ।। १४ ।।

यत्रोज्झिताभिर्मुहुरम्बुवाहैः समुन्नमद्भिर्न समुन्नमद्भिः ।
वनं बबाधे विषपावकोत्था विपन्नगानामविपन्नगानाम् ॥१५॥

अन्वयः—यत्र समुन्नमद्भिः अम्बुवाहैः उज्झिताभिः अद्भिः मुहुः समुन्नम् अविपन्नगानां नगानां वनं विषपावकोत्था विपत् न बबाधे ।

सुधा—यत्र=रैवतकपर्वते, समुन्नमद्भिः=उन्नतैः, अम्बुवाहैः=मेघैः, उज्झिताभिः=त्यक्ताभिः, वर्षिताभिः, अद्भिः=जलैः, मुहुः=वारं वारं, पुनः पुनः, समुन्नम्=आर्द्रीकृतम्, अविपन्नगानाम्=अविगतसर्पाणाम्, नगानां=वृक्षाणां, वनं=काननं, विषपावकोत्था=विषाग्निसमुद्भवा, विपत्=आपत्, न बबाधे=न बाधितवती । नित्यं वर्षानुसङ्गाद्विषाग्निक्षोभो वृक्षाणामकिञ्चित्कर इति भावः ।

विशेषः—अत्र बाधनाभावं प्रति समुन्नपदस्यार्थो हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, पादाद्यन्तयमकञ्चेत्यनयोः संसृष्टिः । बन्धस्य प्रगाढत्वात् ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः ।

कोशः—'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः ।

समासः—अम्बुवाहैः–अम्बु वहन्तीति अम्बुवाहाः (उपपदसमासः) । अविपन्नगानां–विगता पन्नगा येभ्यस्ते विपन्नगाः (बहु०) विपन्नगा न भवन्तीति अविपन्नगाः, तेषाम् । विषपावकोत्था–विषं च पावकश्च विषपावकौ (द्वन्द्व०) ताभ्याम् उत्तिष्ठतीति ।

व्या०–समुन्नमद्भिः–सम् + उद् + नम् + लट् + (शतृ) + भिस् । अम्बुवाहैः–अम्बु उपपदपूर्वक 'वह प्रापणे' इति धातोः 'कर्मण्यण्' इति सूत्रेण अण् प्रत्ययः, 'उपपदमतिङ्' इति सूत्रेण उपपदसमासः । उज्झिताभिः–उज्झ + क्त + टा + भिस् । समुन्नं–सम् उपसर्गपूर्वक 'उन्दी क्लेदने' धातोः कर्मणि क्तप्रत्ययः 'नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५६), इति सूत्रेण निष्ठायां 'त' स्थाने विकल्पे नत्वम् । विपत्–वि + पद् + क्विप् । बबाधे–बाधृ प्रतिघाते इति धातोः लिट् + त + एश् ।

सं० भा०—यत्र समुत्पतद्भिर्मेघैः व्यक्ताभिः (वर्षाभिः) जलैर्मुहुरार्द्रीकृतं सर्पयुक्तानां वृक्षाणां समूहं विषाग्निसमुद्भवा विपत् न पीडयामास ।

हिन्दी—जिस रैवतक पर्वत पर ऊँचे उठे हुए बादलों द्वारा बरसाये गये जल से आर्द्र और सर्पों से युक्त वृक्षों के वन को विष और अग्नि से उत्पन्न होनेवाली आपत्ति नहीं हो पाती थी ॥ १५ ॥

फलद्भिरुष्णांशुकराभिमर्शात्कार्शानवं धाम पतङ्गकान्तैः ।
शशंस यः पात्रगुणाद् गुणानां सङ्क्रान्तिमाक्रान्तगुणातिरेकाम् ॥१६॥

अन्वयः–यः उष्णांशुकराभिमर्शात् कार्शानवं धाम फलद्भिः पतङ्गकान्तैः गुणानां संक्रान्ति पात्रगुणाद् आक्रान्तगुणाऽतिरेकां शशंस ।

सुधा—यः=रैवतकपर्वतः, उष्णांशुकराभिमर्शात् = अर्ककिरणसम्पर्कात्, कार्शानवम् = आग्नेयम्, धाम = तेजः, फलद्भिः = वमद्भिः, पतङ्गकान्तैः = सूर्यकान्तैः, गुणानां संक्रान्ति = विशेषानां स्थानान्तरगमनम्, पात्रगुणात् = आधारविशेषाद्धेतोः, आक्रान्तगुणातिरेकां = प्राप्तविशेषाधानरूपगुणोत्कर्षां, शशंस = आख्यत् । अत्र वृत्यनुप्रासोऽलङ्कारः, उक्तञ्च—

'अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाऽप्यनेकधा ।
एकस्य सकृदप्येष वृत्यनुप्रास उच्यते ॥' (सा० द० १० ४)

अत्र माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः ॥ १६ ॥

कोशः—'कृशानुः पावकोऽनलः' इत्यमरः । 'गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि' इत्यमरः । 'पतङ्गः शलभे शालिप्रभेदे पक्षिसूर्ययोः' इति मेदिनी ।

समासः—उष्णांशुकराभिमर्शात्–उष्णा अंशवो यस्य स उष्णांशुः (बहु०) तस्य कराः (ष० त०) तेषाम् अभिमर्शः (ष० त०) तस्मात् । विभाषागु-

णेऽस्त्रियाम्' इति सूत्रेण हेतौ पञ्चमी। कार्शानवं—कृशानोरिदं कार्शानवं, तत्। आक्रान्तगुणाऽतिरेकाम्—गुणानाम् अतिरेकः (ष० त०) आक्रान्तो गुणातिरेको यस्या सा, ताम् (बहु०)। पतङ्गकान्तैः—पतङ्गः (सूर्यः) कान्तः (पतिः) येषां तैः। पात्रगुणात्—पात्रस्य गुणः पात्रगुणः (ष० त०) तस्मात्।

व्या०—फलद्भिः—फल+लट् (शतृ)+भिस्। संक्रान्तिम्—सम्+उप-सर्गपूर्वक 'क्रम' धातोः 'स्त्रियां क्तिन्' इति सूत्रेण क्तिन् प्रत्ययः। शशंस—'शंसु स्तुतौ' इति धातोः लिट्+तिप्+णल्।

सं० भा०—रैवतकपर्वतः सूर्यकिरणसम्पर्कादाग्नेयं तेजः फलद्भिः सूर्यकान्तमणिभिर्गुणानां संक्रमणमाधारगुणसहकारात् प्राप्तगुणातिरेकां प्रतिपादयामास।

हिन्दी—जो रैवतक पर्वत सूर्य की किरणों के संम्पर्क से उगलते हुए सूर्य कान्त मणियों से 'गुणों का संक्रमण आधार के गुण के साहचर्य से उत्कर्ष को प्राप्त करता है, यह कह रहा था। सूर्य का तेज सभी जगह संक्रान्त होता है लेकिन उसका सूर्यकान्त मणियों के संक्रमण होने से अग्नि का उत्पादन होता है, इस तरह देखने से आक्रमणकारी गुण आधार गुण के साहचर्य से ही कार्य विषय का आधायक होता है, ऐसा निश्चय यहीं हो जाता है॥ १६॥

दृष्टोऽपि शैलः स मुहुर्मुरारेरपूर्ववद्विस्मयमाततान।
क्षणे-क्षणे यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रमणीयतायाः॥ १७॥

अन्वयः—मुहुः दृष्टः अपि स शैलः मुरारेः अपूर्ववत् विस्मयम् आततान। यत् क्षणे क्षणे नवताम् उपैति, तत् एव रमणीयतायाः रूपम्।

सुधा—मुहुः=वारं-वारं, दृष्टः अपि=अवलोकितः अपि, सः=पूर्वोक्तः, शैलः=रैवतकपर्वतः, मुरारेः=श्रीकृष्णस्य, अपूर्ववत्=अनवलोकितपूर्व इव, विस्मयम्=कौतुकम्, आततान=अवर्धयत्। यत् क्षणे-क्षणे=प्रतिक्षणम्, नवतां=नवीनत्वम्, उपैति=प्राप्नोति, तदेव=नवीनत्वमुपगमनमेव, रमणीयतायाः रूपं=सुन्दरतायाः स्वरूपं, लक्षणमित्यर्थः।

विशेषः—अत्र सामान्येन विशेषसमर्थनरूपोऽर्थान्तरन्यास एवालङ्कारः, समर्थ्यसमर्थस्थले सामान्यविशेषभावसत्वे अर्थान्तरस्यैवालङ्कारिकैरङ्गीकारात्, अत्र तु तद्भावसत्वात्। तेन च काव्यलिङ्गं चिन्त्यम्। लक्षणन्तु—

'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते।' (सा० द० १०।६२) अत्र प्रसादो गुणः वैदर्भी च रीतिः॥ १७॥

कोष:—'मुहुः पुनः पुनः शश्वदभीक्ष्णमसकृत्समाः।' इत्यमरः।

समासः—अपूर्ववत्—न पूर्वः अपूर्वः (नञ्) अपूर्वेण तुल्यम्-अपूर्ववत्।

व्या०—अपूर्ववत्—'अपूर्व' शब्दात् 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति सूत्रेण वति प्रत्ययः, वति प्रत्ययान्तशब्दोऽव्ययो भवति। आततान—आङ्-उपसर्गात् 'तनु विस्तारे' धातोः लिट्। उपैति—उप+इण+लट्+तिप्, एतेधत्यूठ्सु इति वृद्धिः। रमणीयतायाः—रमणीय+तल्+टाप्।

सं०भा०—पुनः पुनरवलोकितोऽपि स रैवतकपर्वतः कृष्णस्यादृष्टपूर्ववदाश्चर्यं विस्तारयामास। यत् प्रतिक्षणं नवतां प्राप्नोति तदेव सौन्दर्यस्य लक्षणमिति।

हिन्दी—यद्यपि श्रीकृष्णभगवान् रैवतक पर्वत को बार-बार देख चुके थे, फिर भी वह कभी नहीं देखे हुए के समान आश्चर्यजनक प्रतीत हो रहा था, सुन्दरता का यही स्वरूप है अर्थात् रमणीयता उसी को कहते हैं जो प्रतिक्षण नयी सी प्रतीत हो॥ १७॥

उच्चारणज्ञोऽथ गिरां दधानमुच्चारणत्पक्षिगणास्तटीस्तम्।
उत्कन्धरं द्रष्टुमवेक्ष्य शौरिमुत्कन्धरं दारुक इत्युवाच॥ १८॥

अन्वयः—अथ गिराम् उच्चारणज्ञो दारुकः उच्चारणत्पक्षिगणाः तटीः दधानं तं धरं द्रष्टुम् उत्कम् उत्कन्धरं शौरिम् अवेक्ष्य इति उवाच॥ १८॥

सुधा—अथ=अनन्तरम्, गिरां=वाणीनाम्, उच्चारणज्ञः=वाग्मी, दारुकः=श्रीकृष्णसारथिः, उच्चारणत्पक्षिगणाः=उन्नतशब्दायमानविहगश्रेणीः, तटीः=तटानि; दधानं=धारयन्तं, तं धरं=पूर्वोक्तं रैवतकं, द्रष्टुम्=अवलोकयितुम्, उत्कम्=उत्कण्ठितम् उत्सुकम्, अत एव, उत्कन्धरम्= उर्ध्वग्रीवं, शौरिं=श्रीकृष्णम्, अवेक्ष्य=अवलोक्य, इत्युवाच=एवं जगाद। अत्र पदाद्यमकालङ्कारः। ओजोगुणः, गौडी च रीतिः॥ १८॥

कोशः—'मङ्गलानन्तरारम्भप्रश्नकार्त्स्न्येष्वथो अथ' इत्यमरः। 'महीध्रे शिखरि क्ष्माभृदहार्यधरपर्वताः। अद्रिगोत्रगिरिग्रावाचलशैलशिलोच्चयाः' इत्यमरः। 'अथ ग्रीवायां शिरोधिः कन्धरेत्यपि' इत्यमरः। 'देवकीनन्दनः शौरिः श्रीपतिः पुरुषोत्तमः' इत्यमरः।

समासः—उच्चारणत्पक्षिगणाः— पक्षिणां गणाः (ष० त०) उच्चारणन्तः पक्षिगणा यासु, ताः (बहु०)। उत्कन्धरम्—उन्नता कन्धरा यस्य स उत्कन्धरः, तम् (बहु०)

व्याकरणम्—उच्चारणज्ञः—उच्चारण + ज्ञ + कः 'आतोऽनुपसर्गे कः' (३।२।३) इति कप्रत्ययः। धरं—धरतीति धरः, तम्, पचादिस्थ 'धृञ् धारणे' धातोः 'नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः' इति सूत्रेण अच् प्रत्ययः। शौरिं—शूरस्याऽपत्यं पुमान्, तम्, शूरशब्दात् 'बाह्वादिभ्यश्च' इति सूत्रेण इञ् प्रत्ययः। अवेक्ष्य—अव + ईक्ष + क्त्वा (ल्यप्)। उवाच—'ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि' इति धातोः लिट्, 'ब्रुवो वचिः' इत्यनेन ब्रूञ् स्थाने 'वचि' आदेशः, तिप्, णल्।

सं० भा०—श्रीकृष्णस्य विस्मयाऽनन्तरमुक्तिकुशलो दारुकः उन्नत-शब्दायमानखगवर्गास्तटानि धारयन्तं रैवतकमवलोकयितुमुत्सुकमत एव उन्नत-ग्रीवं श्रीकृष्णं दृष्ट्वा एवं जगाद ॥ १८ ॥

हिन्दी—इस (श्री कृष्ण भगवान् के रैवतक पर्वत को देखकर आश्चर्य चकित होने) के बाद बोलने में चतुर श्री कृष्ण का सारथि दारुक ऊँचे स्वर से शब्द करनेवाले पक्षिसमूह वाली तटियों को धारण करते हुए उस रैवतक पर्वत को देखने के लिये उत्सुक, (अतएव) ऊँची गर्दन करके देखते हुए श्री कृष्ण भगवान् को देखकर उनसे इस प्रकार कहने लगा ॥ १८ ॥

आच्छादितायतदिगम्बरमुच्चकैर्गा-
माक्रम्य संस्थितमुदग्रविशालशृङ्गम्।
मूर्ध्नि स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिमेन-
मुद्वीक्ष्य को भुवि न विस्मयते नगेशम् ॥ १९ ॥

अन्वयः—आच्छादितायतदिगम्बरम् उच्चकैः गाम् आक्रम्य संस्थितम् उदग्रविशालशृङ्गम् मूर्ध्निस्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम् एनं नगेशम् उद्वीक्ष्य भुवि को न विस्मयते ॥ १९ ॥

सुधा—आच्छादितायतदिगम्बरम्—आवृतदीर्घकाष्ठाकाशम्, (शिवपक्षे) वसितदीर्घकाष्ठावस्त्रम्, उच्चकैः=उन्नतं, गां=पृथिवीम्, आक्रम्य=व्याप्य, संस्थितं=विद्यमानम्, उदग्रविशालशृङ्गम्=उन्नतविस्तीर्णशिखरम्, (शिवपक्षे)

उदग्रविशालशृङ्गम्=उन्नतपृथुलविषाणम्, मूर्ध्नि=शिखरे, (शिवपक्षे) शिरसि, स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम् = परिष्वजचन्द्रकलम्, (शिवपक्षे) देदीप्यमान-चन्द्रकलम्, एनम्=इमं, नगेशं=पर्वतराजं रैवतकं, (शिवपक्षे) कैलाशपर्वतनायकं शिवं च, उद्वीक्ष्य=अवलोक्य, भुवि=पृथिव्यां, कः=जनः, न विस्मयते=न चित्रीयते। को जनो न विस्मयते अपि तु सर्व एवेत्यर्थः। अतो भवतोऽपि विस्मितत्वं भवतीति भावः। अत एवार्थालङ्कारः मल्लिनाथोक्तदिशा—नेयं तुल्ययोगिता, प्रकृताप्रकृतविषये तदनुत्थानात्। नापि समासोक्तिः, तस्या विशेषणसाम्यजीवित्वात्। नापि श्लेषः, उभयश्लेषे विशेष्यश्लेषयोगात्। तस्मात् प्राकरणिकार्थमात्रपर्यवसिताभिधाव्यापारेणापि शब्देनार्थान्तर धीकृद्ध्वनिरित्याहुः। तदुक्तं काव्यप्रकाशे—

'अनेकार्थकस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिते।
संयोगाद्यैरवाच्यार्थधीकृद् व्यावृतिरञ्जनम्॥

अत्र वसन्ततिलका वृत्तम्। तल्लक्षणं यथा—उक्ता वसन्ततिलका तभजाजगौ गः। इति।

कोषः—'गौरिला कुम्भिनी क्षमा' इत्यमरः। 'गोः स्वर्गे वृषभे रश्मौ वज्रे चन्द्रमसि स्मृतः। अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गोर्मता' इति विश्वः। 'शृङ्गम् विषाणे शिखरे' इति विश्वः। 'विशङ्कटं पृथु बृहद्विशालं पृथुलं महत्। वड्रोरुविपुलम्।' इत्यमरः।

समासः—आच्छादितायतदिगम्बरम्—दिशश्च अम्बरञ्च दिगम्बराणि (द्वन्द्व) आच्छादितानि आयतानि दिगम्बराणि येन, तम् (बहु०), शिवपक्षे-दिग् एव अम्बरं दिगम्बरम्, आच्छादितं दिगम्बरं येन, तम् (बहु०)। उदग्रविशालशृङ्गम्—उदग्राणि विशालानि शृङ्गाणि यस्य, तम् (बहु०), शिवपक्षे—उदग्रे विशाले शृङ्गे यस्य, तम् (बहु०)। स्फुरत्तुहिनदीधितिकोटिम्-तुहिना दीधितिः यस्य (बहु०) तुहिनदीधितेः कोटिः (ष० त०) स्फुरन्ती तुहिनदीधितिकोटिः यस्य, तम् (बहु०)। नगेशं—नगानाम् ईशः, शिवपक्षे नगस्य ईशः, तम् (ष० त०)। संस्थितम्—सम्यक् स्थितः संस्थितः, तम्, (प्रादिसमासः)।

सं० भा०—आवृतदीर्घकाष्ठाकाशमुन्नतां भुवं व्याप्य संस्थितमुन्नत-विशालशिखरं शिखरे देदीप्यमानचन्द्रकिरणमेनं रैवतकं (अथवा) वासित-

दीर्घाकाशरूपवस्त्रमुन्नतां वृषममाक्रम्यमुपविष्टं शिरसि देदीप्यमानचन्द्रकलमेनं कैलाशपर्वतनायकं शिवञ्च विलोक्य को जनो न विस्मयं करोति, अपि तु सर्वोऽपि विस्मयत इति ॥ १६ ॥

व्याकरणम्—आक्रम्य—आङ् + क्रम् + क्त। विस्मयते—वि + स्मिङ् ईषद्धसने + लट् + ते।

हिन्दी—विशाल दिशाओं तथा आकाश को आच्छादित करते हुए, ऊँची जमीन को व्याप्त कर विद्यमान, ऊँची ऊँची विशाल चोटियों वाले, चोटियों पर चमकती हुई चन्द्रकिरणों से युक्त इस पर्वतराज रैवतक को देखकर कौन आश्चर्य नहीं करता है, अर्थात् सभी लोग आश्चर्य करते हैं।

(शिव पक्ष में) विशाल दिशारूपी वस्त्र को आच्छादित करने वाले, ऊँचे और विशाल सींगों वाले बैल पर बैठे हुए, चमकती हुई चन्द्र किरणों से युक्त कैलास पर्वत के स्वामी शिव जी को देखकर कौन आश्चर्य नहीं करता है, अर्थात् सभी आश्चर्य करते हैं ॥ १६ ॥

उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जावहिम-
रुचौ हिमधाम्नि याति चाऽस्तम्।
वहति गिरिरयं विलम्बि-
घण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् ॥ २० ॥

अन्वयः—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ अहिमरुचौ उदयति, (तथा) विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ हिमधाम्नि च अस्तं याति अयं गिरिः विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलां वहति ॥ २० ॥

सुधा—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ = प्रसृतोन्नतकिरणगुणे, अहिमरुचौ = सूर्ये, उदयति = उदयमाने, (तथा) विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ = विस्तृतोन्नतकिरणगुणे, हिमधाम्नि = चन्द्रे, च, अस्तं याति = अस्तं गते सति, अयं गिरिः = रैवतकः, विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम् = विलम्बमानघण्टायुगलविभूषितहस्तिराजशोभां, वहति = धारयति। सूर्याचन्द्रमसावस्य कुक्षिसमानकक्षां बिभ्रतमहदौन्नत्यं व्यज्यते।

विशेषः—अत्र लीलामिवलीलामिति सादृश्यापेक्षान्निदर्शना। रश्मिरज्जुशब्दयोरर्थस्य आपाततः पुनरुक्तत्वप्रतीतेः परञ्चकिरणारज्जव इवेति

तद्भेदावगमात् भिन्नाकारशब्दगतत्वाच्च पुनरुक्तवदाभासोः, लुप्तोपमा चानयोरेकाश्रयानुप्रवेशरूपः सङ्करः, निदर्शनया परिवारितवारणेन्द्रेति छेकानुप्रासेन च समुदाये संसृष्टिः। पुष्पिताग्रा वृत्तम्। लक्षणन्तु—"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।"

कोशः—'शुल्वं वराटकः स्त्री तु रज्जुस्त्रिषु वटीगुणाः' इत्यमरः। 'मतङ्गजो गजो नागः कुञ्जरो वारणः करी' इत्यमरः। 'लीलाकेलि विलासयोः' इत्यमरः। 'अस्तमदर्शने' इत्यमरः।

समासः—विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ—रश्मयः रज्जव इव रश्मिरज्जवः। (उपमित कर्म०) वितता ऊर्ध्वा रश्मिरज्जवो यस्य, तस्मिन्, (बहु०)। अहिमरुचौ—न हिमा अहिमा (नञ्) अहिमा रुचिर्यस्य, तस्मिन् (बहु०)। हिमधाम्नि—हिमं धाम यस्य, स हिमधामा, तस्मिन् (बहु०)। विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्रलीलाम्—विलम्बत इति विलम्बि, घण्टयोर्द्वयम् (ष० त०) विलम्बि च तत् घण्टाद्वयम् (क० धा०), वारणानाम् इन्द्रः (ष० त०), परिवारितश्चासौ वारणेन्द्रः (क० धा०) विलम्बिघण्टाद्वयेन परिवारितवारणेन्द्रः (तृ० त०), तस्य लीला, ताम् (ष० त०)।

व्याकरणम्—उदयति—उद्+अय गतौ + शतृ+ङि। याति—या प्रापणे + शतृ + ङि। वहति—वह प्रापणे + लट् + तिप्।

सं० भा०—विस्तृतोन्नतकिरणगुणे सूर्ये उदयमाने तथा च विस्तृतोन्नतकिरणगुणे चन्द्रमसि चास्तं याति सति रैवतकोऽयं विलम्बमानघण्टाद्वितयवेष्टितगजेन्द्रशोभां धारयति॥ २०॥

हिन्दी—लम्बायमान तथा ऊपर की ओर रस्सी की तरह फैलती हुई किरण वाले सूर्य के उदय होते तथा ऐसे ही चन्द्रमा के अस्त होते हुए यह रैवतक पर्वत, गले में लकटते हुए दो घण्टों से सुशोभित गजराज की तरह शोभा को धारण करता है॥ २०॥

वहति यः परितः कनकस्थलीः सहरिता लसमाननवांशुकः।
अचल एष भवानिव राजते स हरितालसमाननवांशुकः॥२१॥

अन्वयः—लसमाननवांशुको यः सहरिताः कनकस्थलीः परितो वहति। स एषः अचलः हरितालसमाननवांशुकः भवान् इव राजते॥ २१॥

सुधा—लसमाननवांऽशुकः = द्योतनशीलनूतनकिरणः, यः = पर्वतः, सहरिताः = सदूर्वाः, कनकस्थलीः = काञ्चनभूमिः, परितः = सर्वतः, वहति = धारयति, सः = तादृशः, एषः = समीपवर्ती, अचलः = पर्वतः, हरितालसमाननवांऽशुकः = काञ्चनतुल्यनूतनवस्त्रः, पिताम्बर इत्यर्थः, भवान् इव = श्रीकृष्ण इव, राजते = शोभते ।

विशेषः—अत्र पादयमकम्, श्रौतोपमा, आर्थोपमा, चेत्येतेषां मिथो निरपेक्षतया संसृष्टिः । मधुररचनावशात् माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः । द्रुतविलम्बितवृतम्, लक्षणन्तु—'द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ ॥२१॥

कोशः—'हरितेति च दूर्वायां हरिवर्णयुतेऽन्यवत्' इति विश्वः । 'हरितालं धातुभेदे स्त्री दूर्वाकाशरेखयोः' इति मेदिनी ।

समासः—लसमाननवांऽशुकः—लसमाना नवा अंशवो यस्य सः (बहु०) । कनकस्थलीः—कनकस्य स्थल्यः ताः (ष० त०) । हरितालसमाननवांऽशुकः—हरितालेन समानम् (तृ० त०) हरितालसमानं, नवम् अंशुकं यस्य सः (बहु०) ।

व्या०—वहति—वह + लट् + तिप् । कनकस्थलीः—कनक + स्थल + ङीप् 'जानपदकुण्डगोणस्थल' (४।१।४२) इति ङीप् । राजते—राजृ दीप्तौ + लट् + तिप् ।

सं० भा०—शोभमाननूतनकिरणयुक्तः रैवतको दूर्वासहिताः कनकभूमीः सर्वतो धारयति । एतादृशः रैवतको हरितालसदृशनूतनवस्त्रयुक्तो भवानिव (कृष्णसदृशः पीताम्बरः) शोभते ।

हिन्दी—हरी हरी दूब से भरी सुवर्ण भूमियों को चारों ओर धारण करता हुआ रैवतक पर्वत हरिताल के समान नवीन वस्त्रों (पीताम्बर) वाले आप जैसा सुशोभित हो रहा है ॥ २१ ॥

पाश्चात्यभागमिह सानुषु सन्निषण्णाः
पश्यन्ति शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम् ।
सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमान-
मुत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः ॥ २२ ॥

अन्वयः—इह सानुषु सन्निषण्णाः (जनाः) शान्तमलसान्द्रतरांऽशुजालं सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानम् उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य मृगाङ्कमूर्तेः पाश्चात्यभागं पश्यन्ति ।

सुधा—इह = अस्मिन्, सानुषु = शृङ्गेषु, सन्निषण्णाः = सन्निविष्टाः स्थिताः (जनाः) शान्तमलसान्द्रतरांशुजालं = निष्कलङ्कसघनकिरणनिकरं, सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानम् = परिपूर्णप्राप्तस्त्रीमुखसादृश्यम्, उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य = आरूढमृगस्य, मृगाङ्कमूर्तेः = चन्द्रस्य, पाश्चात्यभागं = पृष्ठभागं, पश्यन्ति = अवलोकयन्ति ।

विशेषः—अत्र उपमानतया प्रसिद्धस्य चन्द्रस्य तृतीयचरणेन उपमेयत्वकल्पनात् प्रतीपं नामालङ्कारः; पाश्चात्यभागदर्शनं प्रति उत्सङ्गसङ्गिहरिणपदस्यार्थो हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्, पाश्चात्यभागदर्शनासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धतया अतिशयोक्तिः, वृत्यनुप्रासः, छेकानुप्रासश्चेति सर्वेषां मिथो निरपेक्षतया संसृष्टिः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'स्नुः प्रस्थः सानुरस्त्रियाम्' इत्यमरः । 'आननं लपनं मुखम्' इत्यमरः । 'अब्जो जैवातृकः सोमो ग्लौमृगाङ्कः कलानिधिः' इत्यमरः ।

समासः—शान्तमलसान्द्रतरांशुजालम्—शान्तं मलं यस्मात् तत् (बहु०) अतिशयेन सान्द्रं सान्द्रतरं, अंशूनां जालम् (ष० त०) शान्तमलम् (अत एव) सान्द्रतरम् अंशुजालं यस्य तम् (बहु०), सम्पूर्णलब्धललनालपनोपमानं—ललनायाः लपनं (ष० त०) तस्य उपमानं (ष० त०) सम्पूर्णं लब्धं ललनालपनोपमानं येन, तम् (बहु०), उत्सङ्गसङ्गिहरिणस्य—उत्सङ्गे सङ्गः (स० त०), सः अस्यास्तीति उत्सङ्गसङ्गी, उत्सङ्गसङ्गी हरिणो यस्य तस्य (बहु०), मृगाङ्कमूर्तेः—मृगाङ्का मूर्तिर्यस्य (बहु०) तस्य । पाश्चात्यभागं—पश्चाद् भवः पाश्चात्यः, पाश्चात्यश्चासौ भागः, तम् (कर्म०) ।

व्याकरणम्—पाश्चात्य—'दक्षिणापश्चात् पुरसस्त्यक्' (४।२।९८) इति पश्चाच्छब्दात्त्यक्, 'किति च' (७।२।११८) इति वृद्धौ । पश्यन्ति—दृशिर् प्रेक्षणे + लट् + झि ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतके शिखरेष्वुपविष्टा जना निष्कलङ्कनिबिडतरकिरणसमूहं सम्पूर्णप्राप्तस्त्रीमुखसादृश्यम् अङ्कस्थितमृगस्य चन्द्रस्य पृष्ठभागं पश्यन्ति । रैवतकस्यात्युन्नत्यं प्रकटयतीति भावः ।

हिन्दी—इस पर्वत की समतल चोटियों पर बैठे हुए लोग कलंकरहित होने से अत्यन्त घनी किरणों को फैलानेवाले तथा निर्मल होने से ललनाओं

के साथ मुख की उपमा को प्राप्त करने वाले और मध्य में कलङ्करूप मृग को धारण करनेवाले चन्द्रमा के पिछले भाग को देखते हैं ॥ २२ ॥

कृत्वा पुंवत्पातमुच्चैर्भृगुभ्यो मूर्ध्नि ग्राव्णां जर्जरा निर्झरौघाः ।
कुर्वन्ति द्यामुत्पतन्तः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणमत्र ॥२३॥

अन्वयः—अत्र निर्झरौघाः उच्चैः भृगुभ्यः पुंवत् पातं कृत्वा ग्राव्णां मूर्ध्नि जर्जराः (सन्तः) द्याम् उत्पतन्तः स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणं कुर्वन्ति ।

सुधा—अत्र=अस्मिन् पर्वते, निर्झरौघाः=पतज्जलपूराः, उच्चैः भृगुभ्यः=उन्नतप्रपातेभ्यः, पुंवत्=पुरुषो यथा, पातं कृत्वा=पतित्वा, ग्राव्णां=शिलानां, मूर्ध्नि=मस्तके, जर्जराः=शीकरतां गताः, (सन्तः) द्याम्=स्वर्गम्, उत्पतन्तः=आरोहन्तः, स्मरार्तस्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणं=कामातुरदेवाङ्गनाशरीरतापशान्तिं, कुर्वन्ति=विदधति । अत्र पुंवदिति आर्थी तद्धितगतोपमालङ्कारः । दुःश्रवत्वदोषश्च । लोमनिष्कासने कम्बलस्येव तद्दोषनिवारणाय शब्दान्तरनिवेशे मूलस्यैवोच्छेदप्रसङ्ग इति विरतम् । बन्धवैकट्यात् ओजो गुणः गौड़ी च रीतिः । शलिनी वृतम्—शालिन्युक्ता म्तौतगौ गोऽब्धिलोकैः, इति लक्षणात् ।

कोशः—'वारिप्रवाहो निर्झरोझरः' इत्यमरः । 'प्रपातस्त्वतटो भृगुः' इत्यमरः । 'पाषाणप्रस्तरग्रावोपलाश्मानः शिला दृषत्' इत्यमरः ।

समासः—निर्झरौघाः—निर्झराणाम् ओघाः (ष० त०) उत्पतन्तः—ऊर्ध्वं पतन्तः (प्रादिसमासः) । स्वर्लोकस्त्रीगात्रनिर्वाणम्—स्वर्लोकस्य स्त्रियः स्वर्लोकस्त्रियः (ष० त०) स्मरार्ताश्च ताः स्वर्लोकस्त्रियः (कर्म०) तासां गात्राणि (ष० त०) तेषां निर्वाणम् (ष० त०) तत् ।

व्याकरणम्—पुंवत्—पुंभिस्तुल्यम्, पुंस्+वतिः । उत्पतन्तः—उद्+पत्+लट् (शतृ)+जस् । निर्वाणम्—निर्+वा=क्तः, 'निर्वाणोऽराते' (८।२। ५०) इति णत्वम् । कुर्वन्ति—डुकृञ् करणे+लट्+झि ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते निर्झरौघाः पुंवदुन्नतप्रपातेभ्यः शिलानां मूर्ध्नि (ऊर्ध्वभागे) कामपीडितानां देवाङ्गनानां शरीरक्लेशहीनं कुर्वन्ति ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर झरनों के समूह पुरुषों की भाँति ऊँचे

तटशून्य भागों से पत्थरों पर गिरकर टुकड़े-टुकड़े होकर स्वर्ग को उछलते हुए काम से पीडित देवाङ्गनाओं के शरीर के ताप को शान्त करते हैं।

विशेष—अच्छे कार्य को करने में असमर्थ जीर्ण वानप्रस्थ आश्रमवाले का पर्वत के तटशून्य भाग से कूदकर, या अग्नि में प्रवेशकर अथवा जलाशय में डुबकर मरने का विधान है। जैसे स्मृति में लिखा है।

"अनुष्ठानाऽसमर्थस्य वानप्रस्थस्य जीर्यतः।
भृग्वग्निजलसम्पातैर्मरणं प्रविधीयते॥"

इस तरह तटशून्य से कूदनेवाले स्वर्गेच्छुक लोग यहां पर विद्यमान हैं।

स्थगयन्त्यमूः शमितचातकाऽऽर्तस्वरा
जलदास्तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः।
जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकराः
सवितुः क्वचित्कपिशयन्ति चाऽमी कराः॥ २४॥

अन्वयः—इह क्वचित् अमूः जगती शमितचातकार्तस्वराः तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः जलदाः स्थगयन्ति। क्वचिच्च स्फुरितचारुचामीकराः अमी सवितुः कराः कपिशयन्ति।

सुधा—इह=अस्मिन् पर्वते, क्वचित्=कुत्रचित्, अमूः=एताः, जगतीः=स्थलीः, शमितचातकार्तस्वराः=निर्वर्तितसारङ्गतृषादीनशब्दाः, तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः = सौदामिनीसदृशीकृतोज्ज्वलसुवर्णाः, तादृशाः, जलदाः=मेघाः, स्थगयन्ति=आच्छादयन्ति। क्वचिच्च=कुत्रचिच्च, स्फुरितचारुचामीकराः=देदीप्यमानसुवर्णाः, अमी=एते, सवितुः=सूर्यस्य, कराः=किरणाः, कपिशयन्ति=पिञ्जरयन्ति। क्वचिद् वृष्टिः, क्वचिदातपश्चेति महदाश्चर्यमिति भावः।

विशेषः—अत्र तडित्तुलितेत्यादौ अर्थोपमा, पदान्तयमकश्च इत्यनयोः संसृष्टिः पथ्यावृत्तम्। लक्षन्तु—'सजसा यलौ च सह गेन पथ्या मता।

कोशः—'जगती भुवने भूमौ' इति विश्वः। 'रुक्मं कार्तस्वरं जाम्बूनदमष्टापदोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने' इत्यमरः। 'सारङ्गः स्तोककश्चातकः समाः' इत्यमरः। 'वलि हस्तांशवः कराः' इत्यमरः।

समासः—शमितचातकाऽऽर्तस्वराः—आर्तश्च ते स्वराः (क० धा०) चातकानाम् आर्तस्वराः (ष० त०) शमिताः चातकाऽऽर्तस्वरा यैस्ते (बहु०) तडित्तुलितकान्तकार्तस्वराः–तडिद्भिः तुलितानि (तृ० त०) तडित्तुलितानि कान्तानि कार्तस्वराणि यैस्ते (बहु०)। जलदाः–जलं ददतीति (उपप० स०) स्फुरितचारुचामीकराः—स्फुरितानि चारूणि चामीकराणि यैस्ते (बहु०)।

व्याकरणम्—स्थगयन्ति—चुरादिस्थः। स्थग आच्छादने लट् झि। सवितुः—सूत इति सविता, तस्य, सू+तृच्+ङस्। कपिशयन्ति—कपिशाः कुर्वन्ति 'तत्करोति तदाचष्टे' इति णिच्, लट्+झि।

संस्कृतभावः—अस्मिन् रैवतकपर्वते कस्मिंश्चिद् भागे पुरो दृश्यमाना भूमीः निर्वर्तितसारङ्गतृषादीनशब्दाः विद्युदुपमितसुन्दरसुवर्णाः तादृशाः मेघा आच्छादयन्ति। क्वचिच्च स्थाने उल्लसितसुन्दरसुवर्णाः सूर्यस्य किरणाः कपिशिताः कुर्वन्ति।

हिन्दी—इस पर्वत पर कहीं इन भूभागों को चातक के करुण क्रन्दन को शान्त करने वाले तथा बिजली से सुशोभित सुवर्णों की तुलना करने वाले मेघ आच्छादित कर रहें हैं। कहीं पर सुन्दर सुवर्णों को चमकाने वाली ये सूर्य की किरणें इन भूभागों को पीतवर्णयुक्त बना रही हैं॥ २४॥

उत्क्षिप्तमुच्छ्रितसितांशुकरावलम्बै-
रुत्तम्भितोडुभिरतीवतरां शिरोभिः।
श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशमस्य
विष्वक्तटेषु पतति स्फुटमन्तरिक्षम्॥ २५॥

अन्वयः—उच्छ्रितसितांऽशुकरावलम्बैः उत्तम्भितोडुभिः शिरोभिः अतीवतराम् उत्क्षिप्तम् अन्तरिक्षं श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशम् अस्य तटेषु विष्वक् पतति स्फुटम्॥ २५॥

सुधा—उच्छ्रितसितांऽशुकरावलम्बैः=उत्क्षिप्तचन्द्रकिरणावलम्बैः अथवा उत्क्षिप्तचन्द्रहस्तावलम्बैः, ऊर्ध्वमुखशशिकरसंस्पृष्टैरित्यर्थः, उत्तम्भितोडुभिः=उत्तोलितनक्षत्रैः, शिरोभिः=शिखरैः मस्तकैश्च, अतीवतराम्=अतिशयेन, उत्क्षिप्तम्=उदस्तम्, उद्यम्यधृतम्, अन्तरिक्षम्=आकाशं; श्रद्धेयनिर्झरजल-

व्यपदेशं सादृश्याद्विश्वसनीयनिर्झरजलव्यवहारं, दृढतरां निर्मल जलधियं कुर्वंदिति भावः। अस्य = रैवतकस्य, तटेषु = रोधस्सु, विष्वक् = सर्वतः, पतति = निपतति, स्फुटं = सत्यम् ॥ २५ ॥

विशेषः—उत्तोलितचन्द्रकरान् नक्षत्राणि चावलम्ब्य स्थितैः रैवतकशिरोभिः उत्तोल्य धृतोऽपि आकाशः, निर्झरजलच्छलेन सर्वतः पततीति भावः। अत्रोत्प्रेक्षालङ्कारः। बन्धस्य गाढत्वात् समासबाहुल्याच्च ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः। वसंन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—"वलिहस्तांशवः कराः' इत्यमरः। 'नक्षत्रमृक्षं भं तारा तारकाऽप्युडुवास्त्रियाम्' इत्यमरः। 'समन्ततस्तु परितः सर्वतो विष्वगित्यपि' इत्यमरः। 'नभोऽन्तरिक्षं गगनमनन्तं सुरवर्त्मखम्। वियद्विष्णुपदं वा तु पुंस्याकाशविहायसी' इत्यमरः।

समासः—उच्छ्रितसितांऽशुकराऽवलम्बैः—सिता अंशवो यस्य सः सितांऽशुः (बहु०), तस्य कराः सितांशुकराः (ष० त०), उच्छ्रिताः सितांऽशुकरा अवलम्बो येषां, तैः (बहु०)। उत्तम्भितोडुभिः—उत्तम्भितानि उडूनि यैः, तैः (बहु०)। उत्क्षिप्तम्—ऊर्ध्वंक्षिप्तम्—(प्रादिसमासः)। श्रद्धेयनिर्झरजलव्यपदेशं—निर्झरस्य जलम् निर्झरजलं (ष० त०) श्रद्धेयो निर्झरजलमिति व्यपदेशो यस्य तत्।

व्याकरणम्—उत्तम्भितः—उत् + स्तम्भु × स्वार्थे णिच् + क्तः। पतति—पत्लृ गतौ + लट् + तिप्। उत्क्षिप्तम्—उद् + क्षिप + क्त।

संस्कृतभावः—उत्क्षिप्तचन्द्रकिरणालम्बैः उत्क्षिप्तचन्द्रहस्तालम्बैर्वा अवलम्बितनक्षत्रैः एतादृशैः शिखरैः मस्तकैश्च भृशतरम् उद्यम्य धृतमन्तरिक्षं सादृश्याद् विश्वसनीयनिर्भरजलव्यवहारं दृढ़तरां निर्झरजलबुद्धि कुर्वंदिति वा अस्य रैवतकस्य तटेषु सर्वतः पततीति निश्चितमस्ति।

हिन्दी—ऊपर उठे हुए चन्द्रमा की किरणों अथवा हाथों का सहारा लेने वाले, नक्षत्रों को ऊपर उठाये हुए शिखर या मस्तकों से ऊपर उठाकर धारण किया हुआ आकाश, यह झरने का जल है, ऐसी बुद्धि को उत्पन्न करता हुआ रैवतक पर्वत के चारों तरफ मानो गिर रहा है ॥ २५ ॥

एकत्र स्फटिकतटांऽशुभिन्ननीरा
नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र।

कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते
वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः ॥ २६ ॥

अन्वयः—एकत्र स्फटिकतटांऽशुभिन्ननीराः, अपरत्र नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः सरितः इह कालिन्दीजलजनितश्रियः सुरापगायाः वैदग्धीं श्रयन्ते ।

सुधा—एकत्र = एकस्मिन् भागे, स्फटिकतटांऽशुभिन्ननीराः=सूर्योपलरोचिरश्मिच्छुरितजलाः, अपरत्र=अन्यत्र, नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसः = इन्द्रनीलकान्तिमिश्रजलाः, सरितः = नद्यः, इह=अस्मिन् रैवतकपर्वते, कालिन्दीजलजनितश्रियः=यमुनातोयोत्पादितशोभायाः, यमुनासङ्गताया इति भावः, तादृशाः सुरापगायाः = देवनद्याः गङ्गायाः, वैदग्धीं=शोभां, श्रयन्ते=भजन्ति ।

विशेषः—अत्र सितासितमणिगुणग्रहात् सरितां यमुनासङ्गतगंगाशोभासादृश्याक्षेपात्तद्गुणोत्थापिता निदर्शनेति । अत्र सरितां गङ्गाश्रीधारणं प्रति स्फटिकेत्यादिपदद्वयस्यार्थो हेतुरिति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गञ्चेति तद्गुणनिदर्शनाभ्यां सहास्य सङ्करः, छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्चेति समुदाये संसृष्टिः । बन्धस्य गाढ़त्वात् समासबाहुल्याच्च ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः ।

कोशः—'कालिन्दी सूर्यतनया यमुना शमनस्वसा' इत्यमरः ।

समासः—स्फटिकतटांऽशुभिन्ननीराः—स्फटिकस्य तटम् (ष० तत्०) तस्य अंशवः (ष० त०) भिन्नं नीरं यासां ताः (बहु०), स्फटिकतटांऽशुभिः भिन्ननीराः (तृ० त०)। नीलाश्मद्युतिभिदुराऽम्भसः—नीलाश्च ते अश्मानः (क० धा०), तेषां द्युतयः (ष० त०), भिदुराणि अम्भांसि यासां ताः (बहु०) नीलाऽश्मद्युतिभिः भिदुराऽम्भसः (तृ० त०)। कालिन्दीजलजनितश्रियः—कलिन्दस्याद्रेः अपत्यं स्त्री कालिन्दी, कालिन्द्या जलं कालिन्दीजलम् (ष०त०)। जनिता श्रीर्यस्याः सा (बहु०), कालिन्दीजलेन जनितश्रीः, तस्याः (तृ० त०) सुरापगायाः—सुराणाम् आपगा, तस्याः (ष० त०) वैदग्धीं—विदग्धस्य भावो वैदग्धी, ताम् ।

व्याकरम्—वैदग्धीम्—विदग्धशब्दात् ब्राह्मणादित्वात् 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च' (५।१।१२५)। इति ष्यञ् प्रत्ययः, 'षिद्गौरादिभ्यश्च' इति ङीष् । श्रयन्ते—श्रिञ् सेवायाम्+लट्+झ ।

संस्कृतभावः—रैवतकपर्वते एकस्मिन् भागे स्फटिकतीरकिरणमिश्रजलाः

(शुक्लजलाः) अपरस्मिन् भागे इन्द्रनीलकान्तिमिश्रजलाः नद्यो यमुनासङ्गतायाः गङ्गायाः शोभां भजन्तीति भावः।

हिन्दी—इस पर्वत पर एक ओर स्फटिक तट की किरणों से मिश्रित सफेद जलवाली तथा दूसरी ओर इन्द्रनील मणियों की किरणों से मिश्रित नीले जलवाली नदियाँ यमुनाजल की शोभा से युक्त गङ्गाजी की शोभा को धारण करती है ॥ २६ ॥

इतस्ततोऽस्मिन्विलसन्ति मेरोः समानवप्रे मणिसानुरागाः।
स्त्रियश्च पत्यौ सुरसुन्दरीभिः समा नवप्रेमणि साऽनुरागाः ॥ २७ ॥

अन्वयः—मेरोः समानवप्रे अस्मिन् इतस्ततः मणिसानुरागाः विलसन्ति। नवप्रेमणि पत्यौ सानुरागाः सुरसुन्दरीभिः समाः स्त्रियश्च इतस्ततो विलसन्ति ॥ २७ ॥

सुधा—मेरोः=सुमेरोः, समानवप्रे=सदृशतटे, (अत एव) अस्मिन्=रैवतकपर्वते, इतस्ततः=यत्र तत्र, मणिसानुरागाः=रत्नमयशृङ्गभासः, विलसन्ति=द्योतन्ते, (तथा च) नवप्रेमणि=नवीनप्रणये, पत्यौ=भर्तरि, सानुरागाः=प्रीतिमत्यः, सुरसुन्दरीभिः=देववधूभिः, समाः=समानाः, स्त्रियश्च=नार्यश्च, इतस्ततः=यत्र तत्र, विलसन्ति=क्रीडन्ति। अन्योन्यमनुरागिणोऽनुरूपाश्चेह विलासिनस्तदनुरूपाणि च विहारस्थलानि सन्तीति भावः।

कोशः—'मेरुः सुमेरुः हेमाद्री रत्नसानुः सुरालयः' इत्यमरः। 'धवः प्रियः पतिर्भर्ता' इत्यमरः। 'वप्रस्ताते पुमानस्त्री रेणौ क्षेत्रे चये तटे' इति मेदिनी।

समासः—समानवप्रे—समाना वप्रा यस्मिन्, तस्मिन् (बहु०) मणिसानुरागाः=मणीनां सानवः (ष०त०), तेषां रागाः (ष०त०)। नवप्रेमणि—नवं प्रेम यस्य स नवप्रेमा, तस्मिन् (बहु०)। साऽनुरागा—अनुरागेण सहिताः (तुल्ययोग बहु०) सुरसुन्दरीभिः—सुराणां सुन्दर्यः ताभिः (ष० त०)।

व्याकरणम्—विलसन्ति—वि+'लस दीप्तौ'+लट्+झि।

संस्कृतभावः—अस्मिन् पर्वते हेमाद्रेः तुल्यतटे यत्र तत्र रत्नतटकान्तय प्रसरन्ति तथा च नूतनप्रणये भर्तरि सानुरागाः देवाङ्गनाभिः तुल्यरूपाः स्त्रियः यत्र तत्र क्रीडन्ति।

हिन्दी—सुमेरु पर्वत के समान तटवाले इस रैवतक पर्वत में जहाँ तहाँ

रत्नमय शिखरों की कान्तियाँ फैल रही हैं तथा देवाङ्गनाओं के समान स्त्रियां भी नये प्रेमवाले पतियों पर अनुरक्त होकर क्रीडा कर रही हैं ।।२७।।

उच्चैर्महारजतराजिविराजिताऽसौ
दुर्वर्णभित्तिरिह सान्द्रसुधासवर्णा ।
अभ्येति भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारे--
रुद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम् ।। २८ ।।

अन्वयः--इह सान्द्रसुधासवर्णा महारजतराजिविराजिता असौ उच्चैः दुर्वर्णभित्तिः भस्मपरिपाण्डुरितस्मराऽरेः उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम् अभ्येति ।। २८ ।।

सुधा—इह=अस्मिन् रैवतके, सान्द्रसुधासवर्णा=सघनलेपविशेषसमानवर्णा, सघनलेपामृतसमानवर्णा वा, महारजतराजिविराजिता=कनकलेखाविभूषिता, असौ=इयम्, उच्चैः=उन्नता, दुर्वर्णभित्तिः=रजतभित्तिः, भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः=भस्मधवलितशिवस्य, उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम् =उद्गताग्निनेत्रभूषणभालशोभाम्, अभ्येति=आभिमुख्येन प्राप्नोति ।

विशेषः—लीलायाः सादृश्ये पर्यवसाने निदर्शनाऽलंकारः । सान्द्रसुधासवर्णेति आर्थोपमया सह निदर्शना सङ्कीर्य्यते, तथा वृत्यनुप्रासच्छेकानुप्रासश्चेति समुदाये संसृष्टिः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'सुधा लेपोऽमृतं स्नुही' इत्यमरः । 'चामीकरं जातरूपं महारजतकाञ्चने' इत्यमरः । 'दुर्वर्णं रजतं रूप्यम्' इत्यमरः ! 'ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु' इत्यमरः ।

समासः—सान्द्रसुधासवर्णा–सान्द्रा चाऽसौ सुधा (क० धा०), समानः वर्णः यस्याः सा सवर्णा (बहु०), सान्द्रसुधया सवर्णा (तृ० त०) । महारजतराजिविराजिता—महारजतस्य राजिः (ष० त०), महारजतराज्या विराजिता (तृ० त०) । दुर्वर्णभित्तिः–दुर्वर्णस्य भित्तिः (ष० त०) । भस्मपरिपाण्डुरितस्मरारेः,–स्मरस्य अरिः स्मरारिः (ष० त०) भस्मना परिपाण्डुरितः (तृ० त०) स चासौ स्मराऽरिः तस्य (क० धा०) । उद्वह्निलोचनललामललाटलीलाम्–उद्गतो वह्निः यस्मात्, (बहु०), तत् लोचनमेव लालं यस्य तत् (बहु०), उद्वह्निलोचनललामं च तत् ललाटं (कर्म० धा०), तस्य शोभा, ताम् (ष० त०) ।

व्याकरणम्—सवर्णा-'ज्योतिजनरात्रि' ''(६।३।८५) इत्यादिना समानस्य सादेशः । अभ्येति—अभि + इण् गतौ + लट् तिप् ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते निविडलेपविशेषसमानवर्णा सुवर्णरेखाशोभिता उन्नता रजतभित्तिः भस्मेन शुक्लीकृतशङ्करस्य प्रज्वलिताग्निनेत्रललाटशोभां प्राप्नोति ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर गाढ़े चूने के समान या अमृत के समान सफेद वर्ण तथा सोने की रेखा से विभूषित ऊँची चाँदी की दीवाल भस्म से सफेद शिव जी के ज्वालायुक्त नेत्र से देदीप्यमान ललाट की शोभा को धारण कर रही है ॥ २८ ॥

अयमतिजरठाः प्रकामगुर्वीरलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः ।
सततमसुमतामगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकास्तटी बिभर्ति ॥ २९ ॥

अन्वयः—अयम् अतिजरठाः प्रकामगुर्वीः अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः सततम् असुमताम् अगम्यरूपाः परिणतदिक्करिकाः तटीः बिभर्ति ।

सुधा—अयं = रैवतकपर्वतः, अतिजरठाः=अतिकठिनाः, अतिजरतीश्च; प्रकामगुर्वीः=अतिशयश्रेष्ठाः, स्थौल्यात् दुर्भराश्च, अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः=बृहद्विलम्बमानमेघावृताः, बृहद्लम्बमानस्तदावृताश्च, सततं=सर्वदा, असुमतां = प्राणभृताम्, अगम्यरूपाः = अत्युन्नतत्वाद् दुरारोहस्वरूपाः, अन्यत्र वृद्धत्वाद्गमनाऽनर्हशरीराः 'त्यजे दन्त्यकुलोत्पन्नां वृद्धां स्त्रीं कन्यकां तथा' 'इति गमनविरोधवचनादिति भावः परिणतदिक्करिकाः = तिर्यग्दन्तहारिदिग्गजाः, अन्यत्र किणीभूतदन्तक्षतविशेषनखव्रणाश्च, तटीः—पुलिनानि, बिभर्ति = धारयति ।

विशेषः—अत्र प्रकृततटीविशेषणमहिम्ना अप्रकृतवृद्धाङ्गनाप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । बन्धस्य गाढत्वात् ओजो गुणः, गौडी च रीतिः । लक्षणन्तु—'समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः । व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः । (सा० द० १०·५६) । पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

कोशः—'जरठः कठिने जीर्णे' इति वैजयन्ती । 'गुरुस्तु गीः पतौ श्रेष्ठे गुरौ पितरि दुर्भरे' इति शब्दार्णवः । 'स्त्रीस्तनाऽब्दौ पयोधरौ' इत्यमरः ।

'तिर्यग्दन्तप्रहारस्तु गजः परिणतो मतः' इति हलायुधः। 'दिग्दष्टे वर्तुलाकारे करिका नखरेखिका' इति वैजयन्ती।

समास—अतिजरठाः—अत्यन्तं जरठाः, ताः (गति)। प्रकामगुर्वीः—प्रकामं यथा तथा गुर्व्यः ताः। अलघुविलम्बिपयोधरोपरुद्धाः—न लघवः अलघवः (नञ् स०), अलघवश्च ते विलम्बिनः ते च ते पयोधराः (कर्म०), तैः उपरुद्धाः (तृ० तत्०), ताः। असुमताम्—असवः सन्ति येषां ते असुमन्तः, तेषाम्। अगम्यरूपाः—अगम्यं रूपं यासां, ताः (बहु०), अथवा न गम्याः अगम्याः (नञ्) ताः, सुष्ठु अगम्या इति अगम्यरूपाः। परिणतदिक्करिकाः—दिशां करिणः दिक्करिणः (ष० त०) परिणता दिक्करिणो यासु, ताः (बहु०), अन्यत्रपरिणताः (किणीभूताः) दिशः (दन्तक्षतविशेषाः) करिकाः (नखव्रणाः) यासां, ताः (बहु०)।

व्याकरणम्—असुमताम्—'असु' शब्दात् 'तदस्यास्मिन्निति मतुप्' इति सूत्रेण मतुप् प्रत्ययः। परिणतदिक्करिकाः—'इनः स्त्रियाम्' (५।१।१५२) इति समासान्तः कप् प्रत्ययः। बिभर्ति—डुभृञ् मरणे + लट् + तिप् शप्—श्लु—'भृञामित्' (७।४।७६) इत्यभ्यासस्येत्वे।

सं० भा०—अयं रैवतक पर्वतः अतिकठिनाः श्रेष्ठाः बृहद्विलम्बमानमेघावृताः सर्वदा अत्युन्नतत्वाद् दुरारोहस्वरूपाः तिर्यग्दन्तप्रहारिदिग्गजाः तटीः बिभर्ति। पक्षान्तरे—अयं पर्वतोऽतिजरतीः स्थौल्याद् दुर्भराः बृहद्लम्बमानस्तननिबद्धाः सततं प्राणभृतां वृद्धत्वाद् गमनायोग्याः किणीभूतदन्तक्षतविशेषनखव्रणाः रोधांसि धारयति।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत अत्यन्त कठोर, अति ऊँची, अत्यन्त नीचे लटके हुए मेघों से आवृत, अत्यन्त उन्नत एवं दुरारोह होने से प्राणियों से अगम्य तथा तिरछे दन्त प्रहार करनेवाले हाथियों से युक्त, (अन्यत्र वृद्धा, मोटी, नीचे तक लटकते हुए स्तनोंवाली, अतिवृद्धा होने के कारण पुरुषों के सम्भोग करने के अयोग्य, संभोगकालीन नखदन्तादि के क्षत से होनेवाले घाव जिनके पककर भर चुके हैं ऐसी, स्त्रियों के समान) तट भूमियों को धारण करता है॥ २९॥

धूमाकारं दधति पुरः सौवर्णे वर्णेना-
ऽग्नेः सदृशि तटे पश्यामी ।
श्यामीभूताः कुसुमसमूहेऽलीना
लीनामालीमिह तरवो बिभ्राणाः ॥ ३० ॥

अन्वयः—इह पुरः वर्णेन अग्नेः सदृशि सौवर्णे तटे कुसुमसमूहे लीनाम् अलीनाम् आलीं बिभ्राणाः श्यामीभूताः अमी तरवः धूमाकारं दधति (इति त्वं) पश्य ।

सुधा—इह = रैवतकपर्वते, पुरः = अग्रे, वर्णेन = रूपेण, अग्नेः = अनलस्य, सदृशि=तुल्ये, पिशङ्गे इत्यर्थः, सौवर्णे = काञ्चनमये, तटे = अधो भागे; कुसुमसमूहे=पुष्पगुच्छे, लीनां = संलग्नाम्, अलीनां=भ्रमराणाम्, आलीं=पंक्तिं; बिभ्राणः = धारयन्तः, श्यामीभूताः=कृष्णत्वं प्राप्ताः, अमी तरवः = एते वृक्षाः धूमाकारं = धूमाकृतिं, धूमसादृश्यमित्यर्थः; दधति = धारयन्ति, (इति त्वं) पश्य = विलोकय ।

विशेषः—सुवर्णतटम् अग्निवद्भाति, श्यामास्तरवः धूमवद् भान्तीत्युपमाऽलङ्कारः, पादान्तपाद्य यमकश्चेत्येषां संसृष्टिः । बन्धस्य गाढत्वाद् ओजो गुणः; गौडी च रीतिः । जलधरमाला वृत्तम् । लक्षणन्तु—'अब्ध्यङ्गैः स्याज्जलधरमालाम्भौ स्मौ' इति ॥ ३० ॥

कोश—'वीथ्यालिरावलिः पङ्क्तिः श्रेणी' इत्यमरः । 'वृक्षो महीरुहः शाखी विटपी पादपस्तरुः । अनोकहः कुटः शालः पलाशी द्रुद्रुमागमाः' इत्यमरः ।

समास—कुसुमसमूहः—कुसुमानां समूहः (ष० त०) तस्मिन् । श्यामीभूताः—अश्यामाः श्यामाः सम्पद्यमानाः भूताः श्यामीभूताः । धूमाकारम्—धूमस्य आकारः (ष० त०), तम् । सौवर्णे—सुवर्णस्य विकारः सौवर्णं तस्मिन् ।

व्याकरणम्—सौवर्णे—सुवर्ण + अण् । लीनां—लीङ्श्लेषणे ली + क्त + टाप् 'ल्वादिभ्यः' (८।२।४४) इति निष्ठानत्वम् । बिभ्राणाः—भृ + लट् + शानच् । श्यामीभूताः—श्यामशब्दात् 'भू' योगे 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्तरि च्विः' इति च्विप्रत्ययः, 'अस्य च्वौ' इति अकारस्थाने 'ई' भावः । दधति—डुधाञ् धारणपोषणयोः + लट् + झि + अत् ।

सं० भा०—अस्मिन्नद्रौ अग्रभागेऽग्निसमानवर्णे काञ्चनमये तटे कुसुम-समूहे स्थितां भ्रमराणामवलीं बिभ्राणाः कृष्णीभूताः एते वृक्षाः धूम्रसाम्यं धारयन्तीति त्वं पश्य ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर आगे अग्नि के समान रूप युक्त सुवर्ण-मय तट पर फूलों के गुच्छों पर स्थित भौंरों की पंक्ति को धारण करते हुए अतएव कृष्णवर्णवाले ये वृक्ष धुएँ के आकार को धारण कर रहे हैं, अर्थात् धुएँ की तरह सुशोभित हो रहे हैं, यह तुम देखो ॥ ३० ॥

व्योमस्पृशः प्रथयता कल धौतभित्ती
रुन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः ।
सौमेरवीमधिगतेन नितम्बशोभा—
मेतेन भारतमिलावृतवद्विभाति ॥ ३१ ॥

अन्वयः—व्योमस्पृशः उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः कलधौतभित्तीः प्रथयता (अत एव) सौमेरवीं नितम्बशोभाम् अधिगतेन एतेन भारतम् इलावृतवद् विभाति ।

सुधा—व्योमस्पृशः=गगनलग्नाः, उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः=विकसितकुसुमप्रसिद्धचम्पकपिङ्गलवर्णाः, कलधौतभित्तीः=सुवर्णशृङ्गाणि, प्रथयता=विस्तारयता, (अत एव) सौमेरवीं=स्वर्णपर्वतसम्बन्धिनीं, नितम्बशोभां=कटककान्तिम्, अधिगतेन=प्राप्तेन, एतेन=रैवतपर्वतेन, भारतं=भारतवर्षनामकं भूखण्डम्, इलावृतवद्=इलावृतवर्षमिव, विभाति=शोभते ।

विशेष—अत्र चम्पकपिङ्गभास इति लुप्तोपमा, सौमेरवीमिवेति सादृश्याक्षेपात् निदर्शना इलावृतवदिति इवार्थे वति प्रत्ययात् श्रौतोपमा चेति तेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। बन्धस्य आरोहावरोहक्रमाद ओजो गुणः, गौडी च रीतिः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोश—'कलधौतं रौप्यहेम्नोः' इति विश्वः। लोकोऽयं भारतं वर्षम् । इत्यमरः ।

समास—व्योमस्पृशः—व्योम स्पृशन्तीति व्योमस्पृशः ताः (उपपदसमासः) उन्निद्रपुष्पचणचम्पकपिङ्गभासः—उन्निद्राणि च तानि पुष्पाणि (क० धा०),

तैः च वित्ताः उन्निद्रपुष्पचणाः, पिङ्गा भा यासां ताः पिङ्गभासः (बहु०) उन्निद्रपुष्पचणाश्च ते चम्पकाः (कर्म०) ते इव पिङ्गभासः, ताः । कलधौत-भित्तीः—कलधौतस्य भित्तयः ताः (ष० त०) । सौमेरवीं—सुमेरोः इयं सौमेरवी ताम् । नितम्बशोभां—नितम्बस्य शोभा, ताम् (ष० त०) । इलावृतेन तुल्यम् इलावृतवत् ।

व्याकरणम्——व्योमस्पृशः—व्योमन् + स्पृश + क्विन् 'स्पृशोऽनुदके क्विन्' इति क्विन् । उन्निद्रपुष्पचणाः——उन्निद्रपुष्प + चणप् 'तेनवित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' (५।२।२६) इति वित्तेऽर्थे चणप् प्रत्ययः । अधिगतेन—अधि + गम् + कर्त्तरि क्तः, 'गत्यर्थाकर्मकश्लिषशीङ्स्थासवसजनरुहजीर्यतिभ्यश्च' (३।४।७२) इति क्तः । विभाति—वि + भा दीप्तौ + लट् + तिप् ।

सं० भा०——आकाशस्पर्शिनोः विकसितपुष्पप्रतीतचम्पकपिशङ्गवर्णाः कनकतरोः प्रकटयता अत एव सुमेरुसम्बन्धिनीं नितम्बशोभां (मध्यभागशोभाम्) प्राप्तेन रैवतकाद्रिणा भारतवर्षं इलावृतमिव विभाति ।

हिन्दी—आकाश को छूती हुई, खिले हुए पुष्पोंसे प्रसिद्ध चम्पक के समान कान्तिवाली, सोने की भीतों को फैलाते हुए अतएव सुमेरु पर्वत के मध्य-भाग की शोभा को प्राप्त करने वाले इस रैवतक पर्वत से भारतवर्ष इलावृत वर्ष के समान शोभित हो रहा है ।। ३१ ।।

विशेष——जम्बुदीप के दो खण्ड हैं जिसमें मध्यस्थित खण्ड इलावृत वर्ष है, इसी में सुमेरु पर्वत स्थित है । इसके सम्बन्ध में वाचस्पति मिश्र जी ने कहा भी है—

स्याद् भारतं किम्पुरुषं हरिवर्षञ्च दक्षिणाः ।
रम्यं हिरण्मयकुरू हिमाद्रेरुत्तरास्त्रयः ।।
भद्राश्वसेतुमालौ तु द्वौ वर्षौ पूर्वपश्चिमौ ।
इलावृतं तु मध्यस्थं सुमेरुर्यत्र तिष्ठति ।।

वर्ष नौ हैं——(१) भारत (२) किंपुरुष (३) हरिवर्ष (४) रम्य (५) हिरण्मय (६) कुरु (७) भद्राश्व, (८) केतुमाल और (९) इलावृत ।

जिसमें प्रथम तीन हिमालय के दक्षिण में स्थित हैं । रम्य, हिरण्मय और कुरु हिमालय के उत्तर में भद्राश्व हिमालय के पूरब में, केतुमाल हिमालय

के पश्चिम में और इलावृत हिमालय के मध्य में स्थित है। सम्पूर्ण इलावृत सुवर्णमय है यही सुमेरु पर्वत भी है।

रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः प्रचलितैः परितः प्रियकव्रजैः।
विविधरत्नमयैरभिभात्यसाववयवैरिव जङ्गमतां गतैः।।३२।।

अन्वयः—असौ रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः परितः प्रचलितैः प्रियकव्रजैः जङ्गमतां गतैः विविधरत्नमयैः अवयवैः इव अभिभाति ॥ ३२ ॥

सुधा—असौ = रैवतकः रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः = सुन्दरविविधवर्णलोमशोभमानैः, परितः = समन्तात्, प्रचलितैः—विचरितैः, प्रियकव्रजैः=मृगविशेषयूथैः, जङ्गमतां गतैः—जीवत्वं प्राप्तैः, विविधरत्नमयैः—अनेकमणिमयैः, अवयवैरिव = स्वाङ्गैरिव, अभिभाति = शोभते। अत्रोत्प्रेक्षाऽलंकारः, प्रसादो गुणः, वैदर्भी च रीतिः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ॥ ३२ ॥

कोशः—'तनूरुहं रोमलोम' इत्यमरः। 'प्रियको रोमभिर्युक्तो मृदुच्चनमसृणैर्घनैः' इति वैजयन्ती। 'चरिष्णुजङ्गमचराः, इत्यमरः।

समासः—रुचिरचित्रतनूरुहशालिभिः—रुचिराणि च तानि चित्राणि (क०धा०) तन्वां रोहन्तीति तनूरुहाणि, रुचिरचित्राणि च तानि तनूरुहाणि (क०धा०) तैः शालन्ते (शोभन्ते) इति रुचिरचित्रतनूरुहशालिनः, तैः। प्रियकव्रजैः प्रियकाणां व्रजाः तैः (ष० त०)। जङ्गमतां—जङ्गमानां भावो जङ्गमता, ताम्। विविधरत्नमयैः—विविधानि च तानि रत्नानि (क० धा०) तानि स्वरूपं येषां ते विविधरत्नमयाः, तैः।

व्याकरणम्—जङ्गमतां—जङ्गम + तल् + टाप्। अभिभाति—अभि + भा दीप्तौ + लट् + तिप्।

सं० भा०—असौ रैवतक पर्वतः उज्वलनानावर्णलोमयुक्तैः सर्वतः प्रसरद्भिः प्रियकसमूहैः चरिष्णुतां प्राप्तैः विविधरत्नमयैः स्वाङ्गैरिवाभिशोभते।

हिन्दी—यह रैवत पर्वत सुन्दर और रंग विरंगे रोओं वाले तथा चारों ओर घूमने वाले प्रियक नाम वाले मृगों से जङ्गमता को प्राप्त हुए मानो अनेकरत्नमय अपने अङ्गों से शोभित हो रहा है। (जिसमृग के रोओं से कम्बल बनता है उसका नाम प्रियक है) ॥ ३२ ॥

कुशेशयैरत्र जलाशयोषिता मुदा रमन्ते कलमा विकस्वरैः।
प्रगीयते सिद्धगणैश्च योषिता मुदारमन्ते कलभाविकस्वरैः।।३३।।

अन्वयः—अत्र जलाशयोषिता कलभा विकस्वरैः कुशेशयैः मुदा रमन्ते। कलभाविकस्वरैः सिद्धगणैश्च योषिताम् अन्ते उदारं प्रगीयते ॥ ३३ ॥

सुधा—अत्र = रैवतकपर्वते, जलाशयोषिता = सरः स्थिता, कलभाः = करिपोतकाः, विकस्वरैः = विकासिभिः, कुशेशयैः = कमलैः, मुदा रमन्ते = हर्षेण क्रीडन्ति। कलभाविकस्वरैः = अव्यक्तमधुरोद्दीपकषड्जादिस्वरयुक्तैः, सिद्धगणैश्च = देवयोनिविशेषैश्च योषितामन्ते = प्रियासमीपे, उदारम् = उत्कृष्टं, प्रगीयते = गानं क्रियते।

विशेष—अत्र पादयमकालङ्कारः, मधुरवचनाद् माधुर्यंगुणः, वैदर्भि च रीतिः। वंशस्थवृत्तम्।

कोश—'कलभः करिशावकः' इत्यमरः। 'त्रिंशद्वर्षस्तु कलभः' इति वैजयन्ती। 'सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्' इत्यमरः।

समास—जलाशयोषिताः—जलाशयेषु उषिताः (स० त०)। कलभाविकस्वरैः—भावः (मानसो विकारः) प्रयोजनं येषां ते भाविकाः, कला भाविकाः स्वराः येषां ते, तैः (बहु०)। सिद्धगणैः—सिद्धानां गणाः, तैः (ष० त०)।

व्या०—जलाशयोषिताः—जलाशय + वस निवासे धातोः 'गत्यर्थाकर्म०' इत्यादि सूत्रेण कर्त्तरिक्तप्रत्ययः, सम्प्रसरणात् 'व' स्थाने 'उ' भावः, 'गति-बुद्धिपूजार्थेभ्यश्च' इति वर्तमानार्थे क्त प्रत्ययः। विकस्वरैः—वि + कस + वरच् 'स्थेशभासपिसकसोवरच् (३।२।१७५) इति वरच्।

सं० भा०—अत्र रैवतकपर्वते ह्रदेषु वसन्तो हस्तिशावका विकसनशीलैः कमलैः प्रीत्या क्रीडन्ति। अव्यक्तमधुरोद्दीपकषड्जादिस्वरसम्पन्नैः सिद्धगणैश्च स्वस्त्रीणां समीपे उच्चैः सुष्ठु गानं क्रियते च।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर जलाशयों में प्रविष्ट हाथियों के बच्चे विकसित कमलों के साथ हर्षपूर्वक खेल रहे हैं तथा अव्यक्त मधुर एवं उद्दीपक स्वर वाले सिद्धगण भी अपनी स्त्रियों के समीप उच्चस्वर से मधुर गान कर रहे हैं ॥ ३३ ॥

आसादितस्य तमसा नियतेर्नियोगा-
दाकाङ्क्षतः पुनरपक्रमेन कालम्।

पत्युस्त्विषामिह महौषधयः कलत्र--
स्थानं परैरनभिभूतममूर्वहन्ति ॥ ३४ ॥

अन्वय--इह अमूः महौषधयः नियतेः नियोगात् तमसा आसादितस्य पुनरपक्रमेन कालम् आकाङ्क्षतः त्विषां पत्युः परैः अनभिभूतं कलत्रस्थानं वहन्ति ॥ ३४ ॥

सुधा--इह = अस्मिन् पर्वते, अमूः = एताः, महौषधयः = महाभैषजानि, नियतेः = विधेः, नियोगात् = आदेशात्, तमसा = अन्धकारेणास्तं गमनेन वा, आसादितस्य = आक्रान्तस्य, पुनरपक्रमणेन = भूय उदयाचलगमनेन आवृत्या वा, कालं = समयम्, आकाङ्क्षतः = वाञ्छतः, = पुनरागत्य सङ्गन्तुमिच्छत इत्यर्थः । त्विषां = तेजसां, पत्युः भर्तुः, सूर्यस्येत्यर्थः । परैः = तेजोऽन्तरैः, पुरुषान्तरैः, अनभिभूतम् = अतिरस्कृतम्, कलत्रस्थानं = स्त्र्याश्रयत्वम । वहन्ति = निर्वन्तीत्यर्थः । स्त्रीणां स्त्रीष्वेव रक्षणं कार्यमिति भावः । यथा केनचिदापदि न्यासीकृतानि कलत्राणि संरक्ष्य कालान्तरे साधवस्तस्मै प्रयच्छन्ति तद्वदोषधयोऽपि त्विषस्त्विषां पत्युरर्पयन्तीत्यर्थं एतच्च तासां सूर्यास्तसमये प्रज्वलनादुदये विपर्ययाच्चोपचर्यते । अत्र विशेषणासाम्या-दर्कादीनामापन्नादि साम्यप्रतीतेः समासोक्तिरलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

कोशः--'दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः' इत्यमरः । 'विभावसुर्ग्रहपतिस्त्विषाम्पतिरहर्पतिः' इत्यमरः ।

समास--महौषधयः—महत्यश्च ता औषधयः (क० धा०) । अनभि-भूतम् = न अभिभूतम्, (नञ्), तत् । कलत्रस्थानम्--कलत्रस्य स्थानम् (ष० त०), तत् ।

व्या०--वहन्ति--वह प्रापणे + लट्...झि ।

सं० भ०--अस्मिन् रैवतकाद्रौ एताः अमृतसञ्जीवनी प्रभृतय ओषधयो विधेर्नियोगात् अन्धकारेण अन्धकारप्रायेण व्यसनेन वा आक्रान्तस्य पुन-रुदयाचलगमनेन आवृत्या वा समागमसमयम् इच्छतस्तेजसां पत्युः सूर्यस्य तेजोऽन्तरैः पुरुषान्तरैर्वा अतिरस्कृतम् अनुपहतं वा वामाश्रयत्वं वहन्ति ।

हिन्दी—उस रैवतक पर्वतपर अमृत संजीवनी आदि महौषधियाँ दैवव-शात् अन्धकार से अथवा किसी व्यसन से आक्रान्त, पुनः उससे छूटकर

निकल जाने से समय की प्रतीक्षा करते हुए सूर्य के, दूसरे तेजों से वा पुरुषों से अनाक्रान्त पत्नीभूत कान्तियों के आश्रय स्थान को धारण करती हैं ॥ ३४ ॥

वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः प्रमदा इवाऽत्र ।
पुष्पेक्षणैर्लम्भितलोचकैर्वा मधुव्रतव्रातवृतैर्व्रतत्यः ॥ ३५ ॥

अन्वयः—अत्र वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः मधुव्रतव्रातवृतैः लम्भितलोचकैः वा (स्थितैः) पुष्पेक्षणैः व्रतत्यः प्रमदा इव (लक्ष्यन्ते) ॥ ३५ ॥

सुधा—अत्र = अस्मिन् पर्वते, वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः = प्रकाण्डसंलग्ननवीनपल्लवकराः, अथवा वृक्षस्कन्धसक्तबालपल्लवकराः, मधुव्रतव्रातवृतैः = भ्रमरवृन्दव्याप्तैः, (अत एव) लम्भितलोचकैः = प्रापित-तारकैः, प्रापितकज्जलैर्वा स्थितैः, पुष्पेक्षणैः = कमलनेत्रैः, व्रतत्यः = लताः, प्रमदा इव = अङ्गना इव लक्ष्यन्त इति शेषः। क्वचिद् 'वनस्पति—इत्यस्य स्थाने 'पुरः पति—' इति पाठान्तरं, तत्र पुरः = अग्रे, पतिः = वृक्षः, इत्यर्थो बोध्यः।

विशेषः—अत्र वनस्पतीत्यादि विशेषणे लुप्तोपमा, लम्भितलोचकैर्वा इत्यत्र उत्प्रेक्षा, पुष्पेक्षणैरित्यत्र च लुप्तोपमा, प्रमदा इवेति च श्रौतोपमा इत्येषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः, पृथच्छेकानुप्रासो वृत्यनुप्रासश्चेति समुदाये संसृष्टिः। बन्धस्य गाढ़त्वात् समास बाहुल्याच्च ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः।

कोशः—'वनस्पतिर्वृक्षमात्रे विना पुष्प फलद्रुमे' इति विश्वः,। 'अस्त्री प्रकाण्डः स्कन्धः स्यान्मूलाच्छाखावधिस्तरोः। 'मधुव्रतो मधुकरो मधुलिण्मधुपाऽलिनः' च कज्जले' इति विश्वः। 'लोचको मांसपिण्डेऽक्षितारकायां च कज्जले। ललाटभरणेस्त्रीणां कदली नीलवस्त्रयोः। निर्बुद्धौ कर्णपूरे च मौर्व्यां भ्रूश्लथचर्मणि' इति। मेदिनी।

समासः—वनस्पतिस्कन्धनिषण्णबालप्रवालहस्ताः—वनस्पतीनां स्कन्धाः वनस्पतिस्कन्धाः (ष० त०) तेषु निषण्णाः (स० त०) वनस्पतिस्कन्ध-निषण्णाः ते च ते बालप्रवालाः (क० धा०) ते हस्ताः इव यासां ताः (बहु०)। मधुव्रतव्रातवृतैः—मधूनि व्रतयन्ति (भुञ्जते) इति मधुव्रताः

(उपपदसमासः) तेषां व्रातः (ष० त०) तेन वृतैः (तृ० त०) पुष्पेक्षणैः—पुष्पाणि ईक्षमाणानीव पुष्पेक्षणानि (उपमित स०) तैः। लम्भितलोचकैः—लम्भिताः लोचकः यैस्तैः (बहु०)

व्याकरणम्—निषण्ण—नि षद्लृ गतौ + क्तः 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' (८। २। ४२) इति निष्ठातकारस्य नकारो दस्य च।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतके वृक्षप्रकाण्डसक्तबालपल्लवकराः अथवा वृक्षस्कन्धसक्तबालपल्लवकराः भ्रमरसमूहाच्छन्नैः अतएव प्रापितकज्जलैरिव प्रापितग्राम्यनारीशिरोवस्त्रैरिव वा स्थितैः कमलनेत्रैरुपलक्षिताः लताः प्रमदेव लक्ष्यन्ते।

हिन्दी—इस पर्वत पर वृक्षों के तने पर कोमल हाथों के समान पल्लवों को या कन्धों पर पल्लवों के समान हाथों को रखनेवाली भौरों के समूहों से घिरे अतएव तारका और काजल लगाये, नेत्रों के समान पुष्पों से युक्त लताएँ स्त्रियों के समान मालूम होती हैं।

विशेष—जिस प्रकार स्त्रियाँ काजल लगाये हुए फूलों की तरह खिले नेत्रों से युक्त अपने पति के कन्धे पर अपने कोमल हाथों को रखती हुई सुन्दर मालूम पड़ती हैं उसी तरह लताएँ भी वृक्षों के तनोंपर अपने नव-पल्लव रूप हाथ रखी हुई भौरों के समूहों से घिरे रहने से काजल लगे जैसे पुष्परूप नेत्रों से अत्यन्त सुन्दर लग रही हैं। लोचक शब्द का संस्कृत साहित्य में अनेकों अर्थ है, जिनमें (१) आँख का काला तारा (२) काजल (३) ग्रामीण स्त्रियों के मस्तक को ढकने वाला काला कपड़ा ये तीन अर्थ अधिक प्रचलित है। यहाँ पर दूसरा और तीसरा अर्थ अधिक उपयुक्त मालूम पड़ता है, क्योंकि जिस प्रकार भौरों से पुष्प आच्छादित है उसी प्रकार आँखें काला कपड़ा (ओढ़नी) या काजल से आच्छादित हैं। इसी अर्थ को परिपुष्ट करने के लिये वल्लभ देव ने अपनी टीका में उद्धरण दिया है :—

> यो गोपी जनवल्लभः कुचतटव्याभोगलब्धास्पदं,
> छायावात्रविरक्तको बहुगुणश्चारूचतुंहस्तकः।
> कृष्णः सोऽपि हताशयाप्यपहृतः सत्यं कयाऽप्यद्य मे,
> किं राधे ? मधुसूदनो नहि नहि प्राणप्रियो लोचकः ॥

विहगाः कदम्बसुरभाविह गाः कलयन्त्यनुक्षणमनेकलयम् ।
भ्रमयन्नुपैति मुहुरभ्रमयं पवनश्च धूतनवनीपवनः ॥ ३६ ॥

अन्वयः—कदम्बसुरभौ इह विहगाः अनुक्षणम् अनेकलयं गाः कलयन्ति । (किञ्च) धूतनवनीपवनः अयं पवनः मुहुः अभ्रं भ्रमयन् उपैति ॥ ३६ ॥

सुधा—कदम्बसुरभौ=कदम्बपुष्पसुगन्धौ, इह=रैवतके, विहगाः=खगाः, अनुक्षणं=वारंवारम्, अनेकलयं=विविधविच्छेदं, द्रुतमध्यविलम्बित-भेदेन त्रिविधो लयो गुणो वा यस्मिन् गाने यथास्यातथा, गाः=वाचः शब्दा-नित्यर्थः । कलयन्ति=उच्चारयन्ति गायन्तीत्यर्थः । (किञ्च) धूतनवनी-पवनः=कम्पितसरसकदम्बकाननः, अयम्=एषः, पवनः=वायुः, मुहुः=पुनः पुनः, अभ्रं=मेघं, भ्रमयन्=चालयन्, उपैति=समीपमागच्छति ।

विशेषः—अत्र पवनः पवनःइति यमकालङ्कारः, माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः । प्रमिताक्षरा वृत्तम्—'प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता' इति लक्षणात् ।३६।

कोशः—'अर्जुनीनेत्रदिग्बाणभूवाग्वारिषु गौर्मता' इति विश्वः । नीपप्रिय कदम्बास्तु हलिप्रियः' इत्यमरः ।

समासः—कदम्बसुरभौ—कदम्बस्य विकाराः कदम्बानि, तेषाम् सुरभिः, तस्मिन् (ष० त०) अनेकलयम—अनेके लया यस्मिन् (कर्मणि,) तद् (यथा तथा) (बहु०) । धूतनवनीपवनः—नीपानां वनानि (ष० त०), धूतानि नवानि नीपवनानि येन सः (बहु०) ।

व्या०—भ्रमयन्—भ्रम्+णिच्+लट् (शतृ) कलयन्ति—कल सङ्ख्याने+लट्+झि । उपैति—उप+इण्+लट्+तिप् ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतके कदम्बसुगन्धे पक्षिणः प्रतिक्षणम् अनेक-लयैः शब्दान् उच्चारयन्ति । किञ्च कम्पितनूतनकदम्बकुसुमसमूहोऽयं पवनो वारंवारं मेघं भ्रमयन् समीपम् आगच्छति ।

हिन्दी—इस पर्वत पर कदम्ब के पुष्पों से सुगन्धित पक्षीगण प्रतिक्षण अनेकलयों के साथ कूजते हैं तथा यह पवन नये विकसित कदम्ब के वनों को हिलाता हुआ और बादलों को बार-बार उड़ाता हुआ समीप में आता है ॥ ३६ ॥

विद्वद्भिरागमपरैर्विवृतं कथञ्चि-
च्छ्रुत्वापि दुर्ग्रहमनिश्चितधीभिरन्यैः ।
श्रेयान् द्विजातिरिव हन्तुमघानि दक्षं
गूढार्थमेष निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥ ३७ ॥

अन्वय—एषः श्रेयान् द्विजातिः इव आगमपरैः विद्वद्भिः कथञ्चित् विवृतम् अनिश्चितधीभिः अन्यैः श्रुत्वा अपि दुर्ग्रहम् अघानि हन्तुं दक्षं गूढार्थं निधिमन्त्रगणं बिभर्ति ॥ २४ ॥

सुधा—एषः=अयं रैवतक पर्वतः, श्रेयान्=श्रेष्ठः, द्विजातिः=ब्राह्मणः, इव=यथा, आगमपरैः=शास्त्रप्रवीणैः,' विद्वद्भिः=पण्डितैः, कथञ्चित्=केनाऽपि प्रकारेण, क्लेशेन, विवृतं=स्वरूपतः प्रकाशितम्, अनिश्चितधीभिः=चंचल बुद्धिभिः अन्यत्र अनिश्चितधीभिः=अशास्त्रज्ञैः, अन्यैः=अपरैः, श्रुत्वा अपि=आकर्ण्य अपि, 'इह निधिरस्ति, ईदृङ्महिमाऽसौ मन्त्रः इत्याप्तमुखादाकर्ण्याऽपीति भावः । दुर्ग्रहं=दुष्प्रापं, तथा च अघानि=दारिद्र्य दुखानि पापानिच, हन्तुं=विनाशयितुं, निवारयितुमित्यर्थः । दक्षं=कुशलं, शक्तमित्यर्थः । गुढाऽर्थम्=अप्रकटितद्रव्यं संवृताभिधेयं । निधिमन्त्रगणं=मन्त्रतुल्यनिधिं, निधितुल्यमन्त्रं च, बिभर्ति=धारयति ।

विशेषः—ब्राह्मणो मन्त्रगणमिव रैवतक पर्वतो निधिगणं बिभर्तीति पूर्णोपमा लङ्कारः । बन्धस्य प्रगाढार्थकत्वाद् ओजो गुणो गौडी च रीतिः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

कोशः—'श्रेयान् श्रेष्ठः पुष्कलः स्यात्' इत्यमरः । 'विद्वान्विपश्चिद्दोषज्ञः सन्सुधीः कोविदो बुधः' इत्यमरः । 'दुःखैनोव्यसनेष्वघम्' इति वैजयन्ती ।

समास—द्विजातिः=द्वेजाती यस्य सः (बहु०), आगमपरैः=आगम एव परं (प्रधानम्) येषां ते, तैः (बहु०), विद्वद्भिः=विदन्तीति विद्वान्सः, तैः । अनिश्चितधीभिः=न निश्चिता अनिश्चिता (नञ् स०) अनिश्चिताधीर्येषां ते अनिश्चितधियः, तैः (बहु०), गूढाऽर्थः=गूढः (संवृतः) अर्थः (धनम् अभिधेयं वा) यस्मिन्, तम् (बहु०) । निधिमन्त्रगणं=निधयो मन्त्रा इव (उपमित स०), अथवा निधय इव मन्त्राः 'उपमानानि सामान्यवचनैः' । इत्यनेन समासः, तेषां गणः, तम् (ष० त०) ।

व्या०—श्रेयान्—अतिशयेन प्रशस्यः, प्रशस्य+इयसुन्, 'प्रशस्यस्य श्रः'। इति सूत्रेण प्रशस्यस्य स्थाने श्र आदेशः। श्रुत्वा—श्रु+क्त्वा। दुर्ग्रहम्—दुर+ग्रह उपादाने+खल्,। ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्राऽर्थेषु खल्' इति सूत्रेण खल् प्रत्ययः। बिभर्ति—डुभृञ् धारणपोषणयोः+लट्+तिप्—'भृञा मित्।(७।४।७६) इत्यभ्यासस्येत्वे।

सं० भा०—अयं रैवतकपर्वतः श्रेष्ठब्राह्मण इव निधिमन्त्रप्रधानैः मन्त्र शास्त्रप्रधानैश्च, विद्वद्भिः केनाऽपिप्रकारेण स्वरूपतः प्रकाशितं निश्चयात्मक-बुद्धिरहितैरन्यैः शास्त्राऽनभिज्ञैः श्रुत्वाऽपि दुःसाधनानि दुःखानि पापानि च नाशयितुं समर्थं गूढाऽर्थं मन्त्रगणं धारयति।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत अच्छे ब्राह्मणों की तरह आगम (भूगर्भ विद्या और मन्त्र शास्त्र) को जाननेवाले विद्वानों के द्वारा किसी तरह बतलाये गये किन्तु चञ्चल बुद्धि वाले अनभिज्ञ पुरुषों से सुनकर भी दुर्ग्राह्य, अर्थों (दुःखों तथा पापों) को दूर करने में कुशल गूढ (धन और अर्थवाले) मन्त्रों के समान निधियों (खजानों—निधिरूप मन्त्रसमूहों) को धारण करता है।

(जिस तरह कोई श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्रसाधनसमर्थों द्वारा कठिनाइयों से अर्थबोध कराये गये तथा चञ्चलबुद्धि वाले लोगों के द्वारा सुनने पर भी स्मरण न रहनेवाले, पापों को नाश करने में कुशल तथा गूढ अभिप्राय वाले मन्त्र को धारण करता है, उसी तरह यह पर्वत भी भूगर्भ विद्या को जानने वालों के द्वारा कठिनाई से जानकारी किये गये, चञ्चल बुद्धिवालों के लिये दुर्ग्राह्य, दरिद्रता को नाश करने में समर्थ गुप्तधनों के खजानों को धारण करता है ॥ ३७ ॥

बिम्बोष्ठं बहु मनुते तुरङ्गवक्त्रश्चुम्बन्तं मुखमिह किन्नरं प्रियायाः।
श्लिष्यन्तं मुहुरितरोऽपि तं निजस्त्रीमुत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम् ॥३८॥

अन्वयः—इह तुरङ्गवक्त्रः प्रियायाः बिम्बोष्ठं मुखं चुम्बन्तं किन्नरं बहु मनुते। इतरः अपि उत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्यां निजस्त्रीं मुहुः श्लिष्यन्तं तम् बहु मनुते ॥ ३८ ॥

सुधा—इह=अस्मिन् पर्वते, तुरङ्गवक्त्रः=अश्ववदनो (देवयोनिविशेषः) प्रियायाः=स्वभार्यायाः, विम्बोष्ठं=विम्बी फलरक्ताधरं, मुखं=तादृशं वदनं, चुम्बन्तं=पिबन्तं, किन्नरं=किंपुरुषं, मानुषमुखमश्वाऽङ्गं देवयोनि विशेषं, बहु मनुते=अत्यधिकं यथा स्यातथा अवबुध्यते। अश्वमुखस्य चुम्बनाद्यसम्भवादिति भावः। इतरः अपि=अन्यः अपि किन्नरोऽपीति भावः। उत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम्=ऊर्ध्वमुखकुचभारत्रस्तोदरां पीनपयोधरां कृशोदरीं वा इत्यर्थः। निजस्त्रीं=स्वभार्यां, मुहुः=वारं वारं, श्लिष्यन्तम्=आलिङ्गन्तं, मानुषत्वादिति भावः। तम्=अश्ववदनं मानुषाऽङ्गं देवयोनिविशेषं बहु मनुते=अत्यधिकं यथा स्यात्तथावबुध्यते। तुरङ्गवपुषः किन्नरस्यालिङ्गनासम्भवात् इति भावः। दुर्लभं प्रियं भवतीति रहस्यम्।

विशेषः—अथ मध्यस्याभङ्गेऽपि भङ्गोक्तेरतिशयोक्तिरुपमया संसृज्यते। मनुते इत्येकया क्रियया उभयोः किन्नरयोः कर्तृतयाभिसम्बन्धात् तुल्ययोगितालङ्कारः, चतुर्थपादे एकभकारस्यासकृत् साम्यात् वृत्त्यनुप्रासश्चेत्यतिशयोक्त्युपमाभ्यां संसृष्टिः। प्रहर्षिणीवृत्तम्।

कोशः—'स्यात्किन्नरः किंपुरुषस्तुरङ्गवदनो मयुः इत्यमरः। 'गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भवास्वपि' इत्यमरः।

समासः—तुरङ्गवक्त्रः—तुरङ्गस्य इव वक्त्रं यस्य सः (व्यधिकरणबहु०)। विम्बोष्ठं—विम्बम् इव ओष्ठो यस्य तत् (बहु०)। उत्तुङ्गस्तनभरभङ्गभीरुमध्याम्—उतुङ्गौ च तौ स्तनौ (क० धा०), तयोः भारः (ष० त०), तेन भङ्गः (तृ० त०), भीरुः मध्यो यस्याः सा (बहु०) उत्तुङ्गस्तनभरभङ्गात् भीरुमध्या, ताम् (ष० त०)। निजस्त्रीम्—निजस्य स्त्री ताम् (ष० त०)।

व्या०—श्लिष्यन्तं—श्लिष्यतीति तम्, श्लिष्+लट् (शतृ)+अम्। विम्बोष्ठम्—विम्ब+ओष्ठ। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वार्तिकेन विकल्पेन पररूपे। निजस्त्रीम् 'वाम्शसोः' (६।४।८०) इति विकल्पेन 'इयङ्' आदेशः। मनुते-मनु अवबोधने इति धातोः लट्-तङ्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते तुरङ्गमुखः किन्नरः स्ववल्लभायाः किन्नर्याः विम्बोष्ठस्य मुखस्य चुम्बनं कुर्वन्तं किंपुरुषमधिकं यथा स्यात्तथा

अवबुध्यते । किन्नरोऽपि उन्नतकुचभारभीतावलग्नां निजस्त्रीं वारं वारमालिङ्गन्तं बहु मनुते ।

हिन्दी—इस पर्वत पर घोड़े के समान् मुख वाला गन्धर्व अपनी स्त्री के विम्बफल जैसे ओठोंवाले मुख को चूमते हुए किन्नर को बहुत भाग्यवान् समझता है। दूसरा (किन्नर) भी ऊँचे स्तनों के भार से भययुत कमर वाली अपनी स्त्री को बार-बार आलिङ्गन करनेवाले उस तुरङ्गमुख (गन्धर्व) को भाग्यशाली मानता है ॥ ३८ ॥

विशेष:—देवयोनियाँ दस प्रकार की होती है :—'विद्याधरोऽप्सरसो यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः । पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः ॥ (अमरकोश) 'अर्थात् विद्याधर, अप्सरसः यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक, सिद्ध और भूत ये दस योनियाँ हैं। यहाँ कवि माघ ने किन्नर और गन्धर्व का उल्लेख अपने काव्य में किया है।

किन्नर—इसका उल्लेख देवयोनि विशेष में है। किन्नर का मुख मनुष्य के समान तथा शेष शरीर घोड़े के समान होता है। इसलिये गन्धर्व (घोड़े के समान मुख वाला) किन्नर को बहुत बड़ा भाग्यवान् मानता है, क्योंकि वह मनुष्य मुख होने से अपनी स्त्री का मुखचुम्बन आसानी से कर पाता है।

गन्धर्व—इसका मुख घोड़े के समान तथा शेष शरीर मनुष्य के समान होता है। इसलिये किन्नर ने (घोड़े के समान शरीरवालेने) गन्धर्व को अधिक भाग्यशाली कहा है, क्योंकि यह मनुष्य शरीर से अपनीं स्त्री का आलिङ्गन बहुत आसानी से कर पाता है। किन्तु घोड़े के समान मुख होने से मुख चुम्बन नहीं कर पाता।

विम्बोष्ठम्—(विम्बफल के समान ओष्ठवाला) यह एक प्रकार का जङ्गली फल है, जो कच्चा रहने पर हरा तथा पकने पर लाल रंग का हो जाता है। इसका वृक्ष लताओं की तरह होता है, जो वृक्षों या झाड़ियों पर लिपटा रहता है। यह खाने में खट्टा-मीठा होता है। इसको कहीं-कहीं लोग 'रामचकिया' या कूँदरू भी कहते हैं। यह अत्यन्त लाल होता है इसलिये कविगण ओष्ठ की उपमा इसके साथ देते हैं।

यदेतदस्यानुतटं विभाति वनं तताऽनेकतमालतालम् ।
न पुष्पिताऽत्र स्थगिताऽर्करश्मावनन्ततानेकतमा लताऽलम् ॥ ३९ ॥

अन्वय—अस्य अनुतटं तताऽनेकतमालतालं यत् एतत् वनं विभाति । स्थगिताऽर्करश्मौ अनन्तताने अत्र कतमा लता अलं न पुष्पिता ॥ ३९ ॥

सुधा—अस्य = रैवतकपर्वतस्य, अनुतटं = पुलीनसमीपे, तताऽनेकतमालतालम् = विस्तृतबहुतापिच्छतालवृक्षं, यदेतत् = यदिदम्, वनं = काननं, विभाति = शोभते। स्थगिताऽर्करश्मौ = पिहितरविकिरणे, अनन्तताने = अनन्तविस्तारे, अत्र = अस्मिन् कानने, कतमा = का वा, लता = वल्ली, अलम् = अत्यधिकं, न पुष्पिता = न पुष्पान्विता, अपि तु सर्वाऽपि सञ्जातकुसुमेत्यर्थः ॥ ३९ ॥

विशेष—अत्र सर्वाऽपि लता पुष्पितेति अर्थापतनादर्थापत्तिः, पादयमकश्चालङ्कारौ, तयोः संसृष्टिः। माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः। उपेन्द्रवज्रा वृत्तम्।

कोश—'कालस्कन्धस्तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि, इत्यमरः। 'तृणराजाह्वयतालः' इत्यमरः।

समास—अनुतटं—तटेषु इति, 'अव्ययं विभक्ति' इत्यादिना सूत्रेण विभक्त्यर्थे अव्ययीभावसमासः। तताऽनेकतमासतालं—तता अनेके तमालाः तालाः यस्मिन् तत् (बहु०)। स्थगिताऽर्करश्मौ—अर्कस्य रश्मयः (ष० त०) स्थगिता अर्करश्मयो यस्मिन्, तस्मिन् (बहु०)। अनन्तताने—अविद्यमानः अन्तः यस्य, तत्, अनन्तं तानं यस्मिन्, तस्मिन् (बहु०)। पुष्पिता—पुष्पाणि संजातानि यस्यां सा।

व्या०—कतमा—किं + डतमच् + टाप्। पुष्पिता—पुष्प शब्दात् 'तदस्य सञ्जातं तारकादिभ्य इतच्' (५। २। ३६) इति इतच् प्रत्ययः टाप्। विभाति—वि + भा + लट् + तिप्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतके तटेषु विस्तृतबहुतापिच्छतालवृक्षयुक्तं यदिदं वनं शोभते। तिरोहितातपे अपारविस्तारेऽस्मिन् वने का वा लता अत्यन्तं सञ्जातपुष्पा न भवतीति शेषः अपितु सर्वाऽपि लता पुष्पिता—इति भावः।

हिन्दी—इस पर्वत के तटों पर अनेकों तमाल और ताल के वृक्षों वाला

वन सुशोभित हो रहा है, जहाँ सूर्य की किरणें इसके ऊपर ही रह जाती हैं; अत्यन्त सघन होने से भूमि पर नहीं पहुँच पाती है। इस अपार विस्तार वाले वन में कौन सी लता पुष्प से विकसित नहीं होती ? अर्थात् सभी पुष्पों से युक्त होती है ॥ ३९ ॥

दन्तोज्ज्वलासु विमलोपलमेखलान्ताः
सद्रत्नचित्रकटकासु बृहन्नितम्बाः ।
अस्मिन् भजन्ति घनकोमलगण्डशैला
नार्योऽनुरूपमधिवासमधित्यकासु ॥ ४० ॥

अन्वयः—अस्मिन् दन्तोज्ज्वलासु सद्रत्नचित्रकटकासु अधित्यकासु विमलोपलमेखलान्ताः बृहन्नितम्बाः घनकोमलगण्डशैलाः नार्यः अनुरूपम् अधिवासं भजन्ति ॥ ४० ॥

सुधा—अस्मिन् = रैवतकाद्रौ, दन्तोज्ज्वलासु = उच्चपाषाणरम्यासु पक्षे—दशनमनोहरासु, सद्रत्नचित्रकटकासु = उत्तममणिविचित्रसानुषु—पक्षे उत्तममणिनानारूपवलयासु, अधित्यकासु = ऊर्ध्वभूमिषु, विमलोपलमेखलाऽन्ताः = उज्वलशिलानितम्बभूमिरम्याः; पक्षे—स्फटिकमणिकाञ्चीमनोहराः, बृहन्नितम्बाः = विशालशिखराः पक्षे—विपुलकटिपश्चाद्भागाः, घनकोमलगण्डशैलाः = विपुलश्लक्ष्णस्थूलोपलाः पक्षे—विपुलकोमलकपोलभित्तयः नार्यः = स्त्रियः; अनुरूपम् = आत्मतुल्यम्, अधिवासं = स्थानं, भजन्ति = सेवन्ते ।

विशेषः—अत्र नारीणामधित्यकायाञ्च प्रकृतत्वात् केवलप्रकृतगोचरा श्लेषोपस्थापिता तुल्ययोगिता । अतएवोभय विशेषणानि उभयत्र विभक्तिविपरिणामेन योज्यानि ।

लक्षणन्तु—

"पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ।
एकधर्माऽभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ॥"

(सा० द० १० । ४७–४८)

छेकानुप्रासो वृत्यनुप्रासश्चेति तुल्ययोगितया सहानयोः संसृष्टिः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोशः—'दन्तो निकुञ्जे दशने' इति विश्वः। 'कटकं वलये सानौ' इति विश्वः। 'भूमिरूर्ध्वमधित्यका इत्यमरः'। 'मेलखा खड्गबन्धे स्यात् काञ्ची शैलनितम्बयोः' इति विश्वः। मृतावसिते रम्ये समाप्तावन्त इष्यते' इति शब्दार्णवः। "नितम्बो रोधसि स्कन्धे शिखरेऽपि कटेरधः' इति विश्वः। 'गण्डशैलास्तु च्यूताः स्थूलोपला गिरेः' इत्यमरः।

समासः—दन्तोज्ज्वलासु—दन्तैः उज्ज्वलाः तासु (तृ० त०)। सदरत्न-चित्रकटकासु—सन्ति च तानि रत्नानि सद्रत्नानि (क० धा०) तैः चित्राणि कटकानि यासां तासु (बहु०)। विमलोपलमेखलान्ताः—विगतं मलं येभ्यस्ते (बहु०), विमला उपला यासु ताः (बहु०) विमलोपलाश्च ताः मेखलाः (क० धा०), विमलोपलमेखलाभिः अन्ताः (तृ० त०)। बृहन्नितम्बाः—बृहन्तो नितम्बाः यासां ताः (बहु०)। घनकोमलगण्डशैलाः—घनाः कोमलाः गण्डशैलाः (स्थूलोपलाः गण्डस्थलानि वा) यासां ताः (बहु०)

व्या०—अधित्यकासु—अधि उपसर्गात् 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः (५। २। ३४) इति त्यकन् प्रत्ययः + सुप्। भजन्ति—भज सेवायाम् + लट् + झि।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकाद्रौ निकुञ्जरुचिरासु परार्ध्यमणिनानासानुषु उज्ज्वलशिलानितम्बभूमिरम्यासु विस्तृतशिखरासु निविडसुस्पर्शगलितपाषाणासु अधित्यकासु दशनरुचिराः श्रेष्ठलणिविचित्रवलयाः उज्ज्वलमणिकाञ्चीरम्याः पीवरजघनाः (विस्तृतकटिपश्चाद्भागा वा) विपुलश्लक्षणकपोलभित्तयो नार्यो योग्यम् आत्मसदृशं वा स्थानं सेवन्ते।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर निकुञ्जों (पक्षा०-दातों) से सुशोभित, श्रेष्ठरत्नों से चित्र-विचित्र मध्यभागवाली (पक्षा—श्रेष्ठ रत्नों से विचित्र कङ्कणोंवाली) पर्वत की ऊपरी भूमियों निर्मल चट्टानवाले मध्यभाग से रमणीय (पक्षा०—निर्मल अर्थात् दोषहीन होने से श्रेष्ठ मणियों से युक्त करधनी से रमणीय), बड़े-बड़े शिखरों (चूतड़ों) वाली, बड़े-बड़े तथा चिकने चट्टानोंवाली (पक्षा०—अत्यन्त कोमल कपोलमण्डलवाली) स्त्रियाँ इच्छानुकूल निवास-स्थान को प्राप्त करती हैं॥ ४०॥

अनतिचिरोज्झितस्य जलदेनचिर-
स्थितबहुबुद्बुदस्य पयसयोऽनुकृतिम् ।
विरलविकीर्णवज्रशकला सकला-
मिह विदधाति धौतकलधौतमही ॥ ४१ ॥

अन्वयः--इह विरलविकीर्णवज्रशकला धौतकलधौतमही जलदेन अनतिचिरोज्झितस्य चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य पयसः सकलाम् अनुकृतिं विदधाति ॥

सुधा—इह = अस्मिन् रैवतके, विरलविकीर्णवज्रशकला = अघनविक्षिप्तहीरकखण्डा, धौतकलधौतमही = निर्मलरजतभूमिः, जलदेन = मेघेन, अनतिचिरोज्झितस्य = तत्क्षणं व्यक्तवृष्टस्य शुभ्रस्येतिभावः, चिरस्थितबहुबुदबुदस्य = चिरस्थायिबहुजलस्फोटस्य, पयसः = जलस्य, सकलाम् = अखण्डाम्, अनुकृतिं = सारूप्यं, विदधाति = करोति ।

विशेषः--अत्र मेघमुक्तस्य स्थिरबुद्बुदाऽसम्बन्धेऽपि सम्भावनया सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः । अतश्छेकानुप्रासस्यातिशयोक्त्या सह संसृष्टिः, बन्धस्य गाढत्वाद् ओजो गुणः, गौडी च रीतिः । कुररीरुता वृत्तम् । लक्षणन्तु—'कुररीरुता नजभजैर्लगयुक्' इति ।

कोशः--'कलधौतं रूप्यहेम्नोः' इति विश्वः' । 'पेलवं विरलं तनु' इत्यमरः ।

समासः--विरलविकीर्णवज्रशकला--विरलं यथा तथा विकीर्णानि (सुप्सुपा०), वज्राणां शकलानि (ष०त०), विरलविकीर्णानि वज्रशकलानि यस्यां सा (बहु०)। धौतकलधौतमही--कलधौतस्य मही कलधौतमही (क० धा०)। अनतिचिरोज्झितस्य--न अतिचिरम् (नञ्) अनतिचिरं यथा तथा उज्झितं, तस्य (सुप्सुपा०)। चिरस्थितबहुबुद्बुदस्य--चिरं स्थिताः चिरस्थिताः, चिरस्थिता बहवो बुद्बुदाः यस्मिन् तस्य (बहु०)।

व्याकरणम्--विदधाति--वि + डुधाञ् धारणपोषणयोः + लट्–तिप् ।

सं० भा०--अस्मिन् पर्वते असघनप्रसरणशीलहीरकखण्डा निर्मलरजतभित्तिः, मेघेन तत्कालत्यक्तस्य चिरस्थायिबहुजलस्फोटस्य जलस्य सकलां सादृश्यं करोति ।

हिन्दी--इस पर्वत पर जहाँ तहाँ बिखरे हुये हीरकों के टुकड़ोंवाली शुभ्र चाँदी की भूमि मेघ के द्वारा तत्काल गिराये गये तथा चिरकाल तक रहने वाले पानी के बुलबुलों से युक्त जल को पूर्ण समानता को प्रकट कर रही है ॥ ४१ ॥

वर्जयन्त्या जनैः सङ्गमेकान्ततस्तर्कयन्त्या सुखं सङ्गमे कान्ततः ।
योषयैष स्मरासन्नतापाऽङ्गया सेव्यतेऽनेकया सन्नताऽपाङ्गया ॥४२॥

अन्वयः--एकान्ततः कान्ततः सङ्गमे सुखं तर्कयन्त्या (अत एव) जनैः सङ्गं वर्जयन्त्या स्मरासन्नतापाऽङ्गया सन्नताऽपाङ्गया अनेकया योषया एषः सेव्यते ॥ ४२ ॥

सुधा—एकान्ततः=रहसि एकान्ते वा, कान्ततः=प्रियात्, सङ्गमे=सङ्गे सति, सुखम्=आनन्दं तर्कयन्त्या=उत्प्रेक्षमाणया विस्रब्धं विहारमाकाङ्क्षन्त्येत्यर्थः । (अतएव) जनैः=लोकैः, सङ्गं=सम्पर्कं, वर्जयन्त्या=त्यजन्त्या स्मरासन्नतापाऽङ्गया=समदनज्वरया, सन्नताऽपाङ्गया=नम्राक्षिप्रान्तया, अनेकया=बह्व्या, योषया=स्त्रिया, एषः=अयं रैवतकः, सेव्यते=उपभोगविषयीक्रियते । इच्छाविहारस्थानानीह सन्तीति भावः ॥ ४२ ॥

विशेषः--अत्र पदान्तयमकालङ्कारं, सम्भोगशृङ्गारो रसः, माधुर्यं गुणः; वैदर्भी च रीतिः । स्रग्विणी वृत्तम्—लक्षणन्तु—'रैश्चतुर्भिर्युता स्रग्विणी सम्मता' इति ।

कोशः—'स्त्री योषिदवला योषा नारी सीमन्तिनी वधूः' इत्यमरः । 'अङ्गं प्रतीकोऽवयवोऽपघनः' इत्यमरः ।

समासः--स्मरासङ्गतापाङ्गयास्मरेण आसन्नतापानि अङ्गानि यस्य सा; तया, स्मरासन्नतापाङ्गया । (बहु०) अथवा—आसन्नः तापः येषां तानि (बहु०) आसन्नतापानि अङ्गानि यस्याः सा आसन्नतापङ्गा, स्मरेण आसन्नतापाङ्गा तया (तृ० त०) । सन्नताऽपाङ्गया--सन्नतौ अपाङ्गौ यस्याः सा (बहु०) । अनेकया--न एका अनेका (नञ०) तया ।

व्या०--एकान्ततः-एकान्त + तसि, 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' इति सार्वविभक्तिकः तसिः । सेव्यते—सेव + कर्मणि लट् + त ।

सं० भा०—एकान्ते कान्तेन समागते सति आनन्दम् उत्प्रेक्षमाणाया अतएव जनैः सङ्गं परिहरन्त्या कामप्राप्तज्वरशरीरतया नम्रनेत्रप्राप्तया अनेकया योषया एषः रैवतकपर्वतः सेव्यते।

हिन्दी—एकान्त में पति के साथ सम्भोग सुख को प्राप्त करने की इच्छा करने वाली अतः लोगों के साथ सम्पर्क छोड़ने वाली, कामज्वर पीड़ित अङ्गों वाली तथा कामताप से नम्र नेत्रप्रान्तों वाली बहुत सी स्त्रियाँ इस रैवतक पर्वत का सेवन करती हैं ॥ ४२ ॥

सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवाल-
विच्छेदकातरधियश्चलितुं चमर्यः।
अस्मिन् मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्र-
निर्यत्स्वनश्रुतिसुखादिव नोत्सहन्ते ॥ ४३ ॥

अन्वयः—अस्मिन् सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदकातरधियः चमर्यः मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात् इव चलितुं न उत्सहन्ते ॥ ४३ ॥

सुधा—अस्मिन्=रैवतकाद्रौ, सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदकातरधियः=मिथः संहतसच्छिद्रवंशकाननसंलग्नैकलोमत्रुटनत्रस्तबुद्धयः, जातिस्वभावात्, आभरणमङ्गीकुर्वते न वालभङ्गम्। चमर्यः=चमरमृत्यः, मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात्=मन्दपवनमध्यकीचकविवरनिर्गच्छच्छब्दश्रवणानन्दात्, इव, चलितुं=स्थानानन्तरं गन्तुं, न उत्सहन्ते=नेच्छन्ति। वस्तुतस्तु वालप्रियत्वादिति भावः। 'निर्यत्स्वन्–' इत्यस्य स्थाने 'निर्यत्स्वर–' इति पाठान्तरम्, स्वरः=शब्दः, स्वराः=षड्जादयो वार्थहेतूत्प्रेक्षालङ्कारः। अत्र समासवाहुल्यादोजो गुणः गौडी च रीतिः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—'कीचका वेणवस्ते स्वनन्त्यनिलोद्धताः' इत्यमरः।

समासः—सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदकातरधियः—सङ्कीर्णाश्च ते कीचकाः (क० धा०) सङ्कीर्णकीचकानां वनम् (ष० त०) तस्मिन् स्खलितः (स० त०) स चासौ एकवालः (क० धा०) तस्य विच्छेदः (ष० त०) कातरा धीर्यासां ताः (बहु०), सङ्कीर्णकीचकवनस्खलितैकवालविच्छेदात् कातरधियः (प० त०)। मृदुश्वसनगर्भतदीयरन्ध्रनिर्यत्स्वनश्रुतिसुखात्—मृदुश्चासौ श्वसनः

मृदुश्वसनः (क० धा०) स गर्भे येषां (वहु०), तेषाम् इमानि तदीयानि, तानि च तानि रन्ध्राणि (कर्म०), मृदुश्वसनगर्भाणि च तानि तदीयरन्ध्राणि (क० धा०), निर्यंश्चासौ स्वनः निर्यत्स्वनः निर्यत्स्वसनः (क० धा०) तेभ्यः निर्यत्स्वनः (प० त०) तस्य श्रुतिः (ष० त०) तया सुखं, तस्मात् (तृ० त०)।

व्याकरणम्—चलितुम्—चल + तुमुन् 'शकधृषज्ञाग्लाघटरमलभक्रमसहाऽर्हाऽस्त्यर्थेषु तुमुन्' इति तुमुन् प्रत्ययः। उत्सहते—उत् + सह मर्षणे + लट् + श।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते मिथः संहतसच्छिद्रवंशकाननवने संलग्नैकलोमत्रुटनभयात् खिन्नचित्ताः चमर्यः मन्दमारुतपूर्णकीचकविवरेभ्यो निर्गच्छच्छब्दश्रवणानन्दादिव स्थानान्तरं चलितुम् उत्साहं न कुर्वन्ति।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर सघन बाँसों के जंगल में एक बाल के (भी) टूटकर विछुड़ जाने के भय से छिन्न हुई चमरमृगियाँ मानो कोमल वायु से पूर्ण उस बाँसों के छिद्र से निकलती हुई आवाज सुनने के आनन्द से बाहर जाने के लिए उत्साह नहीं करती हैं ॥ ४३ ॥

युक्तं मुक्तागौरमिह क्षीरमिवाभ्रै-
वापीष्वन्तर्लीनमहानीलदलासु।
शस्त्रीस्यामैरंशुभिराशुद्रुतमम्भ-
च्छायामच्छामृच्छति नीलीसलिलस्य ॥ ४४ ॥

अन्वयः—इह अन्तर्लीनमहानीलदलासु वापीसु अभ्रैः मुक्तं मुक्तागौरं क्षीरम् इव अम्भः शस्त्रीश्यामैः अंशुभिः आशु द्रुतं नीलीसलिलस्य अच्छां छायाम् ऋच्छति ॥ ४४ ॥

सुधा—इह = रैवतकाद्रौ, अन्तर्लीनमहानीलदलासु = मध्ये श्लिष्टेन्द्रनीलमणिखण्डासु, वापीसु = दीर्घिकासु, अभ्रैः = मेघैः, मुक्तं = व्यक्तं, वृष्टमित्यर्थः, मुक्तागौरं = मौक्तिकशुभ्रं, क्षीरमिव दुग्धमिव स्थितम्, अभ्रं = जलं, शस्त्रीश्यामैः = छुरिकासदृशकृष्णवर्णैः, अंशुभिः = किरणैः, आशु = शीघ्रं, तत्कालमेवेतिभावः, द्रुतं = क्षुरितं, नीलसलिलस्य = नीलवर्णौषधिपत्ररसस्य, अच्छां =

निर्मलां, छायां=कान्तिम्, ऋच्छति=गच्छति, नीलतुल्यां शोभां प्राप्नोतीति भावः।

विशेषः—अत्र निदर्शनालङ्कारः। स च मुक्तागौरं क्षीरमिव शस्त्रीश्यामैरिति चोपमाद्वयेणान्तर्लीनमहानीलदलासु वापीष्विति पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गं तेनोत्थापितेनाशुमिद्धृतमिति तद्गुणोत्थापित इत्यङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। अतः परं वृत्यनुप्रासच्छेकानुप्रासश्चेति सङ्करेण सह पुनः संसृष्टिः। क्षीरमिवेत्यनेनेन्द्रनीलानां सौष्ठवं व्यक्तम्। 'क्षीरमध्ये क्षिपेन्नीलं क्षीरं चेन्नीलतां व्रजेत् इन्द्रनीलमिति ख्यातम्—' इति लक्षणसम्भवात्। तेनात्र नीलीरसोपमानेन तद्वर्णा एवेति सूचितम्। 'नीलीरसनिभाः केचिच्छम्मुकण्ठनिभाः परे' इत्यादिनाऽगस्त्येन रत्नशास्त्र एषामेकादशविधच्छायाभिधानादिति। बन्धस्य गाढत्वाद् ओजो गुणः, गौडी च रीतिः। मत्तमयूरं वृत्तम्। लक्षणन्तु—'वेदैरन्ध्रैर्म्तौ यशगा मत्तमयूरम्' इति।

कोशः—'सिंहलस्याकरोद्भूता महानीलास्तु ते मताः' इति भगवानगस्त्यः। 'स्याच्छस्त्री चाऽसिपुत्री च छुरिका चाऽसिधेनुका' इत्यमरः। 'नीली काला क्लीतकिकाः', इत्यमरः। 'अथ मौक्तिकं मुक्ता' इत्यमरः।

समासः—अन्तर्लीनमहानीलदलासु—महानीलानां दलानि (ष० त०), अन्तर्नीलानि महानीलदलानि यासु, तासु (बहु०)। मुक्तागौरम् मुक्ता इव गौरम्, (उपमान० कर्म०) शस्त्रीश्यामैः—शस्त्री इव श्यामाः, तैः (उपमान० कर्म०)। नीलीसलिलस्य नील्याः सलिलम् (ष० त०) तस्य।

व्याकरणम्—ऋच्छति—ऋगतौ + लट् + तिप्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते मध्यस्थितेन्द्रनीलमणिखण्डासु वापीसु मेघैः मुक्तं मौक्तिकशुभ्रमतएव दुग्धमिव स्थितं जलं छुरिकातुल्यकृष्णवर्णैः किरणैः तत्क्षणमेवच्छुरितं नीलौषधिपत्ररसस्य निर्मलां कान्ति गच्छति, नीलीतुल्यां छायां प्राप्नोतीति भावः।

हिन्दी—इस पर्वत पर भीतर से डूबे हुए इन्द्रनील के टुकड़ोंवाली बावड़ियों में बादलों से बरसाया हुआ मोती की तरह सफेद तथा दूध की तरह स्वच्छ जल छूरी जैसी साँवली किरणों से युत नील रस की कान्ति को प्राप्त करता है॥ ४४॥

या न ययौ प्रियमन्यवधूभ्यः सारतरागमना यतमानम् ।
तेन सदेह विभर्त्ति रहः स्त्री सा रतरागमनायतमानम् ॥४५॥

अन्वयः--इह अन्यवधूभ्यः सारतरागमना या यतमानं प्रियं न ययौ, सा स्त्री रहः तेन सह अनायतमानं रतरागं विभर्ति ।

सुधा--इह=अस्मिन् रैवतकाद्रौ, अन्यवधूभ्यः=अपरस्त्रीभ्यः, सारतरागमना=उत्कृष्टगमना, श्लाघ्यसङ्गमेत्यर्थः । या=स्त्री, यतमानम्=स्वप्राप्त्यै प्रयत्नं कुर्वन्तं, प्रार्थयमानमित्यर्थः, प्रियं=कान्तं न ययौ=न जगाम, सा स्त्री=सैव नारी, रहः=एकान्ते, तेन=प्रियेन, सह=साकम्, अनायतमानम्=अदीर्घरोषं यथा स्यत्तथा, निर्मानमित्यर्थः, रतरागं=सुरताभिलाषं, विभर्ति=धारयति । अयमतिमानवतीरपि सद्य उद्दीपयतीति भावः ।

विशेषः—अत्र पादयमकं यकाराणां हकाराणाञ्च असकृत् साम्यात् वृत्यनुप्रासश्चेत्युभयोः संसृष्टिः । सम्भोगश्रृङ्गारो रसः माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः । दोधकवृत्तम्--'दोधकवृत्तमिदं भभभा गौ' इति लक्षणात् ।

कोश--'विविक्तविजनच्छन्ननिः शलाकास्तथा रहः । रहश्चोपांशु चालिङ्गे' इत्यमरः ।

समासः—अन्यवधूभ्यः—अन्याश्च ता वध्वः, ताभ्यः (क० धा०) । सारतरागमना—सारतरम् आगमनं यस्याः सा (बहु०) । अनायतमानं—न आयतः (नञ्), अनायतो मानो यस्मिन् (कर्मणि, तद्यथा तथा) (बहु०) । रतरागम्--रतस्य रागः, तम् (ष० त०) ।

व्या०—यतमानम्--=यतत इति, यत+लट् (शानच्)+अम् । विभर्ति—डुभृञ् धारणपोषणयोः+लट्+तिप् ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकाद्रौ अन्यस्त्रीभ्यः श्रेष्ठगमना या स्त्री स्वप्राप्त्यै प्रार्थयमानमपि कान्तं न ययौ, सा स्त्री एकान्ते प्रियेण सह अनायतमानं सुरताभिलापं धारयति ॥ ४५ ॥

हिन्दी—अन्य स्त्रियों की अपेक्षा श्रेष्ठपूर्ण आगमनवाली जो स्त्री प्रियतम के प्रार्थना करने पर भी उनके पास नहीं गई, वही स्त्री इस पर्वत पर एकांत में बिना प्रयत्न किये ही उसी प्रियतम के साथ सम्भोग का आनन्द ले रही है ॥ ४५ ॥

भिन्नेषु रत्नकिरणैः किरणेष्विहेन्दो
रुच्चावचैरुपगतेषु सहस्रसंख्याम् ।
दोषापि नूनमहिमांशुरसौ किलेति
व्याकोशकोकनदतां दधते नलिन्यः ॥ ४६ ॥

अन्वयः—इह इन्दोः किरणेषु उच्चावचैः रत्नकिरणैः भिन्नेषु (अतएव) सहस्रसंख्याम् उपगतेषु नलिन्यः असौ हिमांऽशुः किल इति दोषा अपि व्याकोशकोकनदतां दधते नूनम् ॥ ४६ ॥

सुधा—इह=अत्र पर्वते, इन्दोः=चन्द्रस्य, किरणेषु=मयूखेषु, उच्चावचैः=नानाविधैः, रत्नकिरणैः=मणिमयूखैः, भिन्नेषु=मिश्रितेषु, (अतएव) सहस्रसंख्यां=बहुसंख्याम्, उपगतेषु=प्राप्तेषु सत्सु, नलिन्यः=पद्मिन्यः, असौ=अयं, हिमांऽशुः=सूर्यः, किल इति=सम्भावनायाम्, सहस्रकिरणत्वात् सूर्य एवेति सम्भावनाबुद्ध्येति भावः। दोषाअपि=रात्रावपि, व्याकोशकोकनदतां=विकसितपद्मत्वं, दधते=धारयन्ति, स्वीकुर्वन्ति, नूनं=वस्तुतः ।

विशेष—अत्र नलिनां दोषातनविकासासम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धरूपयातिशयोक्त्या तस्य च सम्बन्धस्येन्दावर्कभ्रान्त्या भ्रान्तिमानलङ्कारो व्यज्यते । रत्नकिरणैः किरणेष्विति लाटानुप्रास इत्यतिशयोक्त्युत्प्रेक्षाभ्यां संसृष्टिः । मधुरवचनात् माधुर्यं गुणः वैदर्भी च रीतिः ।

कोशः—उच्चावचं नैकभेदम्, इत्यमरः । वार्तासंभाव्ययोः किल, इत्यमरः । (प्रफुल्लोत्फुल्लसंफुल्लव्याकोशविकचस्फुटाः, इत्यमरः । 'नलं पद्मं नलं तृणम्' इति शाश्वतः । 'दिवाऽह्लीत्यथ दोषा च नक्तं च रजनौ' इत्यमरः । 'अथ रक्तसरोरुहम् । रक्तोत्पलं कोकनदम्' इत्यमरः ।

समासः—उच्चावचैः उदञ्चश्च अवाञ्चश्च उच्चाऽवचाः, तैः । रत्नकिरणैः—रत्नानां किरणाः, तैः (ष० त०) । सहस्रसंख्याम्—सहस्रं चासौ संख्या, ताम् (क० धा०) व्याकोशकोकनदतां—व्याकोशानि कोकनदानि यासां ता व्याकोशकोकनदाः (बहु०) व्याकोशकोकनदानां भावो व्याकोशकोकनदता ताम् ।

व्या०—भिन्नेषु—भिद्+क्तः । नलिन्यः—नल+इनि+ङीप्+जस् । दधते—डुधाञ् धारणपोषणयोः+लट्+झ ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते चन्द्रस्य किरणेषु अनेकविधैः रत्नकिरणैः मिश्रितेषु, अतएव सहस्रसंख्याः प्राप्तेषु नलिन्यः असौ सूर्यं इति निश्चयेन रात्रावपि विकसितकमलतां धारयन्ति ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर चन्द्र-किरणों के, अनेक प्रकार की रत्न-किरणों से मिश्रित होकर हजारों संख्यावाली हो जाने पर 'यह निश्चितरूप से सूय है' ऐसा मानकर कमलिनियाँ रात्रि में भी विकसित कमलोवाली हो जाती हैं ॥ ४६ ॥

अपसङ्कमङ्गपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पातिमुपैतुमात्मजा ।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः ॥४७॥

अन्वयः—अपशङ्कम् अङ्कपरिवर्तनोचिताः पतिम् उपैतं पुरः चलिताः आत्मजाः निम्नगाः करुणेन पत्त्रिणां विरुतेन एषः वत्सलतया अनुरोदितीव ॥

सुधा—अपशङ्कम् = निर्भयम्, अङ्कपरिवर्तनोचिताः = उत्सङ्गपरिभ्रमणयोग्याः, पतिं = भर्तारम्, उपैतुं = प्राप्तुं, पुरः = अग्रे, चलिताः = प्रयाताः; आत्मजाः = स्वयं जाताःदुहितरश्च, निम्नगाः = नदीः, करुणेन = दीनेन; पत्त्रिणां = पक्षिणां, विरुतेन = क्रोशनेन निमित्तेन, एषः = पर्वतः, वत्सलतया= सस्नेहतया, अनुरोदिति इव = अनुक्रोशति इव ॥ ४४ ॥

विशेषः—यथा वात्सल्यस्नेहयुक्तः पिता स्वसुताः पतिगृहं प्रचलितुं प्रवृतानुरोदिति तथा रैवतकोऽपि स्वसम्भवाभिः नदीभ्यः रोदितीति उत्प्रेक्षालङ्कारः। तथा च रैवतके विशेषणसाम्येन कन्यायाः पतिगृहगमनकाले तत्पितुर्व्यवहारः समारोपात् समासोक्तिः करुणपक्षिरवे रोदनरवत्वारोपस्य प्रकृतरोदनोपयोगित्वात् परिणामश्चेत्युत्प्रेक्षया सहानयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । अपशङ्कमशङ्कमिति छेकानुप्रासश्चेति समुदाये संसृष्टिः । प्रसादो गुणः, वैदर्भी च रीतिः । मञ्जुभाषिणीवृत्तम्—लक्षणन्तु–'सजसा जगौ भवति मञ्जुभाषिणी' इति । इयमेव 'सुनन्दिनी' 'सुमङ्गला' इति नाम्ना प्रसिद्धा ।

कोशः—'स्निग्धस्तु वत्सलः' इत्यमरः । 'शकुन्तिपक्षिशकुनिशकुन्तशकुनद्विजाः । पतत्त्रिपत्रिपतगपतत्पत्त्ररथाण्डजाः । इत्यमरः ।

समासः—अपशङ्कम्–अपगता शङ्का यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा (बहु०)।

अङ्कपरिवर्तनोचिताः—अङ्के परिवर्तनानि (स०त०), तेषु उचिताः (स०त०)। पक्षिणाम्—पक्षौ स्तो येषां ते पक्षिणः तेषाम्। वत्सलतया—वत्सलस्य भावो वत्सलता, तया। निम्नगाः—निम्नं गच्छन्तीति निम्नगाः ताः निम्नगाः (उपपदसमासः)।

व्याकरणम्—वत्सलतया—वत्स+लच्+तल्+टाप् 'वत्सांऽसाभ्यां कामबले' (५।२।९८) इति लच् प्रत्ययः। उपैतुम्—उप+इण्+तुमुन्। आत्मजाः—आत्मन्+जन्+ड "पञ्चम्यामजातौ" इति सूत्रेण ड प्रत्ययः। अनुरोदिति—अनु+रुदिर् अश्रुविमोचने+लट्+तिप्, 'रुदश्च पञ्चभ्यः' (७।३।९८) इति गुणः, 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' (७।२।७६) इतीट्।

सं० भा०—निःशङ्कमुत्सङ्गलुण्ठने परिचिताः पतिमुपैतुमग्रे प्रचलिताः कन्यका इव नदीः करुणेन पक्षिणां क्रोशनेन निमित्तेन एषः रैवतकः वात्सल्येन अनुक्रोशति।

हिन्दी—निःशङ्क होकर गोद में खेलने से अभ्यस्त, पति (समुद्र) के पास जाने के लिये सामने ही चलती हुई अपने से उत्पन्न नदियों के लिए पक्षियों के करुण कूजन द्वारा मानो यह पर्वत रो रहा है॥ ४७॥

मधुकरविटपानमितास्तरुपङ्क्तीर्बिभ्रतोऽस्य विटपानमिताः।
परिपाकपिशङ्गलतारजसा रोधश्चकास्ति कपिशं गलता॥ ४८॥

अन्वयः—मधुकरविटपानम् इता विटपानमिताः तरुपङ्क्तीः बिभ्रतः अस्य रोधः गलता परिपाकपिशङ्गलतारजसा कपिशं चकास्ति॥ ४८॥

सुधा—मधुकरविटपानम्=भ्रमरविटचुम्बनम्, इताः=प्राप्ताः, विटपानमिताः=शाखाविस्तारनम्रीभूताः, तरुपङ्क्तीः=वृक्षावलीः, बिभ्रतः=धारयतः, अस्य=रैवतकस्य, रोधः=तटं, गलता=पतता, परिपाकपिशङ्गलतारजसा=परिणामपीतवल्लीपरागेन, कपिशं=पिशङ्गं, चकास्ति=शोभते।

विशेष—अत्र मधुकरेषु विटानामारोपे रूपकालङ्कारः, पादान्तयमकश्चेत्यनयोः संसृष्टिः। माधुर्यं गुणः पाञ्चाली च रीतिः। 'आर्यागीतिः' नामकं वृत्तम्—'अर्धे वसुगणा आर्यागीतिः' इति पिङ्गलनागलक्षणात्।

कोशः—'विस्तारो विटपोऽस्त्रियाम्' इत्यमरः। 'कडारः कपिलः पिङ्ग-पिशङ्गौ कद्रुपिङ्गलौ' इत्यमरः।'वल्ली तु व्रततिर्लता' इत्यमरः।

समासः—मधुकरविटपानं—मधुकरा एव विटाः (रूपक) तेषां पानं, तत् (ष० त०)। विटपानमिताः—विटपैः आनमिताः (तृ० त०) ताः। तरुपङ्क्तीः—तरूणां पङ्क्तयः, ताः (ष० त०)। परिपाकपिशङ्गलता-रजसा—पिशङ्ग्यश्च ताः लताः (क० धा०), परिपाकेण पिशङ्गलताः (तृ० त०), तासां रजः, तेन (ष० त०)।

व्याकरणम्—इताः—इण् + क्तः (कर्तरि)। बिभ्रतः—बिभर्तीति बिभ्रत्, तस्य भृ + लट् + शतृ। गलता—गल + लट् (शतृ) + टाप्। चकास्ति—चकासृ दीप्तौ + लट् + तिप्।

सं० भा०—भ्रमरविटचुम्बनं प्राप्ताः शाखाविस्तारनम्रीभूताः तरुपङ्क्तीः धारयतोऽस्य 'रैवतकस्य तटं पतता परिपक्वतापीतवल्लीरेणुना पिशङ्गम् चकास्ति।

हिन्दी—भ्रमररूपी विटों द्वारा पान की हुई तथा शाखाविस्तारों से अधिक झुकाई गई तरुपंक्तियों को धारण करने वाले इस रैवतक पर्वत का तट, पक कर पीली हुई लताओं के गिरते हुए फूलों के पराग से पिङ्गल वर्ण होकर चमक रहा है ॥ ४८ ॥

प्राग्भागतः पतदिहेदमुपत्यकासु
　　शृङ्गारितायतमहेभकराभमम्भः।
संलक्ष्यते विविधरत्नकरानुविद्ध-
　　मूर्ध्वप्रसारितसुराधिपचापचारु ॥ ४९ ॥

अन्वयः—इह प्राग्भागतः उपत्यकासु पतत् शृङ्गारितायतमहेभकराभं विविधरत्नकराऽनुविद्धम् इदम् अम्भः ऊर्ध्वप्रसारितसुराऽधिपचापचारु संलक्ष्यते ॥ ४९ ॥

सुधा—इह रैवतकपर्वते, प्राग्भागतः=ऊर्ध्वप्रदेशात्, शिखरसमीपात्, उपत्यकासु=पर्वतस्याधो भूमिषु, पतत्=निपतत् शृङ्गारितायतमहेभकरा-भम्=सुधागैरिकादिमण्डितदीर्घहस्तिशुण्डातुल्यशोभम्, विविधरत्नाकरानु-

विद्धम्=अनेकवर्णमणिकरनिकरच्छुरितम्, इदम्, अम्भः=जलम्, ऊर्ध्वंप्रसारित-सुराऽधिपचापचारु=उपरिविस्तारितेन्द्रधनुरनुरञ्जितं, संलक्ष्यते=विलोक्यते ।

विशेषः—अत्र महेन्द्रचापस्योर्ध्वत्वाऽसम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिः । वृत्त्यनुप्रासच्छेकानुप्रासश्च शब्दालङ्काराविति अतिशयोक्त्या सहानयोः संसृष्टिः । बन्धगाढ़त्वात् समासबाहुल्याच्च ओजोगुणः, गौड़ी च रीतिः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

कोश—'उपत्यकाद्रेरासन्ना भूमिरूर्ध्वमधित्यका' इत्यमरः । 'शृङ्गारः सुरते नाट्ये रसे दिग्गजमण्डले' इति विश्वः । 'अथास्त्रियौ' धनुश्चापौ धन्व-शरासनकोदण्डकार्मुकम् इष्वासः' इत्यमरः ।

समास—शृङ्गारितायतमहेभकराभं-शृङ्गारः सञ्जातः अस्य शृङ्गारितः, महांश्चाऽसौ इभश्च महेभः (क० धा०) तस्य करः (ष० त०) महेभकरः, शृङ्गारितायतश्च स चाऽसौ महेभकरश्च (क० धा०) तस्य आभा इव आभा यस्य (बहु०) तत् । विविधरत्नकरानुविद्धम्—विविधानि च तानि रत्नानि (क० धा०), तेषां कराः (ष० त०) । तैः अनुविद्धम् (तृ० त०) ऊर्ध्वं-प्रसारितसुराऽधिपचापचारु—ऊर्ध्वं (यथा तथा) प्रसारितं च तत् सुराधि-पचापम् (क० धा०) तत् इव चारु (उपमितस०) तत् ।

व्या०—पतत्–पत+लट् (शतृ) । उपत्यका–उप+त्यकन् 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' (५ । २ । ३४) इति सूत्रेण त्यकन् प्रत्ययः । संलक्ष्यते–सम्+लक्ष+यक्+लट्+त ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकाद्रौ ऊर्ध्वप्रदेशात् पर्वतस्याधोभूमिषु पतत् सुधागैरिकादिरञ्जितदीर्घगजेन्द्रशुण्डासदृशं विविधमणिमयूखानुरञ्जितमिदं जलमुपरिविस्तारितेन्द्रधनुः रमणीयं अवलोक्यते ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर ऊँचे शिखरों से पर्वत के निचले भागों में गिरता हुआ, सिन्दूर आदि से सजाये गये विशाल हाथी के सूँड़ जैसी कांति-वाला यह जल विविध प्रकार के रंग-बिरंगे रत्नों की किरणों से अनुरञ्जित ऊपर को फैले हुए इन्द्रधनुष के समान सुन्दर दिखाई देता है ॥ ४६ ॥

दधति च विकसद्विचित्रकल्प-
सुमैरभिगुम्फितानिवैताः ।
क्षणमलघुविलम्बिपिच्छादम्नः
शिखरशिखाः शिखिशेखरानमुष्यः ॥ ५० ॥

अन्वयः—च (किंच) अमुष्य एताः शिखरशिखाः विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः अभिगुम्फितान् इव अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः शिखिशेखरान् क्षणं दधति इव ॥ ५० ॥

सुधा—च = किञ्च, अमुष्यः = रैवतकाद्रेः, एताः = समीपस्थिताः, शिखरशिखाः = शृङ्गकोटयः शृङ्गचूडा वा, विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः प्रफुल्लविविधवर्णकल्पवृक्षपुष्पैः, अभिगुम्फितान् = अन्तराऽन्तरा ग्रथितानिव, अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः = दीर्घलम्बमानवर्हमालागुणान्, विशाललम्बमानवर्हस्रजः, शिखिशेखरान् = मयूरावतंसकान्, क्षणं = किञ्चितकालं, दधति इव = धारयन्तीव ।

विशेषः—अत्र कुसुमगुम्फेनोत्प्रेक्षालिङ्गेन पिच्छादीनां दामादिरूपकसिद्धिस्तदुत्थापिता चोत्प्रेक्षेति सङ्करः, ततो वृत्यनुप्रासश्च शब्दालङ्कार इति सङ्करेण सह पुनः संसृष्टिः । तालव्यशकारवाहुल्यात् समासबाहुल्याच्च ओजो गुणः, गौडी च रीतिः । पुष्पिताग्रावृत्तम् ।

कोशः—'शिखा चूडा केशपाशी' इत्यमरः । 'मयूरो बर्हिणो वर्ही नीलकण्ठो भुजङ्गभुक् । शिखावलः शिखी केकी मेघनादानुलास्यपि' इत्यमरः । 'शिखास्वापीडशेखराः' इत्यमरः ।

समास—शिखरशिखाः—शिखराणि एव शिखाः (रूपकसमासः) । विकसद्विचित्रकल्पद्रुमकुसुमैः = कल्पद्रुमाणां कुसुमानि (ष० त०), विचित्राणि च तानि कल्पद्रुमकुसुमानि, (क०धा०), विकसन्ति विचित्रकल्पद्रुमकुसुमानि तैः (क०धा०), अलघुविलम्बिपिच्छदाम्नः—पिच्छानि एव दामानि (रूपक स०), विलम्बीनि च तानि पिच्छदामानि (क०ध०), अलघूनि विलम्बिपिच्छदामानि येषु तान् (बहु०) शिखिशेखरान्—शिखिन एव शेखराः, तान् (रूपक०) ।

व्या०—दधति—डुधाञ् धारणपोषयोः + लट् + झि + अत् ।

सं० भा०—किञ्चास्याद्रेरेताः शिखररूपकेशपाश्यो विकसन्नानावर्णकल्पवृक्षपुष्पैः ग्रथितानिव दीर्घलम्बमानबर्हस्रजः शिखिशेखरान् क्षणं धारयन्ति ।

हिन्दी—और इस पर्वत की शिखररूप शिखायें विकसित हुए रंग-बिरंगे कल्पवृक्ष के फूलों से गूँथे हुए के समान लम्बे लटकते हुए पंखोंरूप मालावाले मयूररूप शिखर के भूषणों को मानो कुछ समय तक धारण करती हैं ॥५०॥

सवधूकाः सुखिनोऽस्मिन्ननवरतममन्दरागतामरसदृशः ।
नासेवन्ते रसवन्न नवरतममन्दरागतामरसदृशः ॥ ५१ ॥

अन्वयः—अस्मिन् अनवरतममन्दरागतामरसदृशः अमन्दरागतामरसदृशः सुखिनः सवधूकाः (सन्तः) रसवत् नवरतं न आसेवन्ते (इति) न ॥ ५१ ॥

सुधा—अस्मिन् रैवतकाद्रौ, अनवरतममन्दरागतामरसदृशः=अतिश्रेष्ठ-मन्दाचलायातामरतुल्याः, अमन्दरागतामरसदृशः=अतिरक्तकमलनयनाः सुखिनः=भोगिनः, सवधूकाः= वधूसहिताः, सन्तः, रसवत्=सश्रृङ्गारं, अनुरागसहितं, नवरतं= नूतनसुरतं, न आसेवन्त (इति) न. अपि तु भजन्त्ये वार्थः । अत्र निषेधरूपस्य वाक्यार्थस्य निषेधात् प्रतिज्ञारूपो विधिः प्रतीयते । तदुच्यते द्वौ प्रतिषेधौ सन्तौ स्वयं प्रकृतमर्थं ब्रूत इति वामनः ।

विशेषः—अत्रप्रथमा आर्थोपमाः, द्वितीया च लुप्तोपमा पादयमकश्चे त्येतेषां मिथो निरपेक्षतया संसृष्टिः । सम्भोगश्रृङ्गारो रसः माधुर्यं गुणः पाञ्चाली च रीतिः । आर्यागीतिवृत्तम् ।

कोशः—पङ्केरुहं तामरसं सारसं सरसीरुहम् इत्यमरः । 'श्रृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इत्यमरः ।

समासः—अनवरतममन्दाऽऽगताऽमरसदृशः—न अवरे (अधमाः) इति अनवराः (नञ्), अतिशयेन अनवराः अनवरतमाः, मन्दरात् आगताः (प०त०), मन्दरागताश्च ते अमराः (क०धा०), अनवराश्च ते मन्दरागताऽमराः (क० धा०) तैः सदृशः (तृ० त०) । अमन्दरागतामरसदृशः न मन्दः अमन्दः (नञ्०), अमन्दो रागो येषां तानि अमन्दरागाणि (बहु०), तानि च तानि तामरसानि (क० धा०), अमन्दरागतामरसानि इव दृशो येषां ते (बहु०) सुखिनः=सुखम् अस्ति येषां ते । सवधूकाः=वधूभिः सह (तुल्ययोग बहु०) रसवत्–रसोऽस्ति यस्मिन् तत् । नवरतं नवं च तत् रतं, तत् (क० धा०)।

व्या०—सुखिनः—सुखशब्दात् 'अत इनि ठनौ' इति इनि प्रत्ययः। सवधूकाः—वधूभिः सहेति 'तेन सहेति तुल्ययोगे' (२ । २ । २८) इति बहुव्रीहिः, 'नद्यृतश्च' (५ । ४ । १५३) इति कप् प्रत्ययः। आसेवन्ते—आङ्-षेवृ सेचने + लट् + झ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतके श्रेष्ठतमाः मन्दराचलागतैर्देवैः सरूपाः, अतिरक्तानि पङ्केरुहाणीव रक्तनेत्राः सुखिनः सपत्नीकाः सन्तः सानुरागं नूतनसुरतं नासेवन्त इति न किन्त्वासेवन्त एव।

हिन्दी—इस पर्वत पर श्रेष्ठतम मन्दराचल से आये हुए देवताओं के समान अत्यन्त रक्तवर्ण से युक्त कमल जैसे नेत्रोंवाले विलासी लोग अपनी पत्नी के साथ अनुरागपूर्वक सुरतक्रीडा का सेवन नहीं करते हैं यह बात नहीं; बल्कि अवश्य करते हैं॥ ५१ ॥

आच्छाद्य पुष्पपटमेष महान्तमन्त-
रावर्तिभिर्गृहकपोतशिरोधराभैः।
स्वाङ्गानि धूमरुचिमागुरवीं दधानै-
र्धूपायतीव पटलैर्नवनीरदानाम्॥ ५२ ॥

अन्वय—एषः महान्तं पुष्पपटम् आच्छाद्य अन्तः आवर्तिभिः गृहकपोतशिरोधराभैः आगुरवीं धूमरुचिं दधानैः नवनीरदानां पटलैः स्वाऽङ्गानि धूपायति इव॥ ५२ ॥

सुधा—एषः=रैवतकः, महान्तं=बृहन्तं, पुष्पपटं=पुष्पवस्त्रम्, आच्छाद्य=परिधाय, अन्तः=अन्तर्वर्तिनं, आवर्तिभिः=निरन्तरं भ्रमद्भिः, गृहकपोतशिरोधराभैः=गृहकपोतग्रीवानीलैः, गृहपारावतग्रीवानीलैर्वा, आगुरवीं=कालागुरुसम्बन्धिनीं, धूमरुचिं=धूमकान्ति, दधानैः=बिभ्राणैः, नवनीरदानां=नूतनमेघानां, पटलैः=समूहैः, स्वाऽङ्गानि=आत्मीयानवयवान्, धूपयति इव=धूपैरिवाधिवासयति।

विशेषः—अत्र धूमरुचौ सादृश्याक्षेपान्निदर्शनालङ्कारः, धूपायतीवात्रोत्प्रेक्षा, पटलमिति रूपकालङ्कारश्चेत्येतेषामङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः। छेकानुप्रासो वृत्त्यनुप्रासश्च शब्दालङ्काराविति सङ्करेण सह पुनः संसृष्टिः। उपरिसरेफवर्णबाहुल्याद् ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—'पारावते कपोतः स्यात्' इति विश्वः। 'कालागुर्वंगुरुः स्यात्' इत्यमरः।

समासः—पुष्पपटम्—पुष्पाणि एव पटः (रूपकसमासः) तम्। गृहकपोतशिरोधराभैः—गृहे कपोतः (स० त०) गृहकपोतः, धरतीति धरा, शिरसो धरा शिरोधरा (ष० त०) गृहकपोतस्य शिरोधरा (ष० त०), तस्या इव आभा येषां तैः, (व्यधिकरणबहु०)। आगुरवीम्—अगुरोरियम् आगुरवी ताम्। धूमरुचिं—धूमस्य रुचिस्तम् (ष० त०)। नवनीरदानां—नवाश्च ते नीरदाः, तेषाम् (क० धा०)। स्वाङ्गानि—स्वस्य अङ्गानि तानि (ष० त०)।

व्याकरणम्—आवर्तिभिः—आङ् + वृतु वर्तने + णिनिः। बहुलमाभीक्ष्ण्ये (३।२।८१) इति णिनिः। धूपायति—धूप संतापे, 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः, (३।१।२८) इत्यायप्रत्ययः + लट् + तिप्।

सं० भा०—एषो रैवतकपर्वतो महान्तं कुसुमवस्त्रमावृत्य पुष्पपटाभ्यन्तरे निरन्तरं भ्रमद्भिर्गृहकपोतग्रीवासदृशैः कालागुरुसम्बन्धिनीं धूम्रकान्ति दधानैर्नूतनमेघानां समूहैरात्मादेहाऽवयवान् धूपायतीव।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत विशाल पुष्परूपी वस्त्र को आच्छादित करके उसके अन्दर सर्वदा घूमनेवाले गृहकपोतों की गर्दन के समान अगुरु के धुएँ की कान्ति को धारण करनेवाले नये बादलों के समूहों से अपने अंगों को जैसे धूप से सुवासित कर रहा है ॥ ५२ ॥

अन्योन्यव्यतिकरचारुभिर्विचित्रैरत्रस्यन्नवमणिजन्मभिर्मयूखैः ।
विस्मेरान्गगनसदः करोत्यमुष्मिन्नाकाशे रचितमभित्ति चित्रकर्म ॥५३

अन्वयः—अमुष्मिन् अन्योन्यव्यतिकरचारुभिः विचित्रैः अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः मयूखैः आकाशे रचितम् अभित्ति चित्रकर्म गगनसदो विस्मेरान् करोति ॥ ५३ ॥

सुधा—अमुष्मिन्=अस्मिन् पर्वते, अन्योन्यव्यतिकरचारुभिः=परस्परमयूखसम्बन्धरम्यैः, अतएव विचित्रैः=विविधवर्णैः, अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः=त्रासदोषेणादुष्यन्नूतनरत्नोत्पन्नैः, मयूखैः=किरणैः आकाशे=गगने, रचितं=निर्मितम्, अभित्ति=कुड्यरहितम्, अनाधारं वा, चित्रकर्म=आलेख्यक्रिया, गगनसदः=खेचरान्, विस्मेरान्=विस्मयशीलान्, करोति=विदधाति।

विशेषः—अत्र मणिमयूखेषु खे चित्रकर्मभ्रान्तिमतामेवाभित्तिचित्रकर्मेत्य-कारणकार्योत्पत्तिवर्णनाद् भ्रान्तिमदलङ्कारोत्थापिता विभावनेति सङ्करः। लक्षणन्तु 'कारणेन विना कार्यस्योत्पत्तिः स्याद्विभावना, इति। अत्र बन्धस्य आरोहावरोहक्रमात्, ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः। प्रहर्षिणीवृत्तम्।

कोशः—'त्रासो भीमणिदोषयोः' इति विश्वः। 'आलेख्याश्चर्ययोश्चित्रम्' इत्यमरः। 'भित्तिः स्त्री कुड्यम्' इत्यमरः।

समासः—अन्योन्यव्यतिकरचारुभिः—अन्योन्येषां व्यतिकरः (ष० त०) तेन चारवः, तैः (तृ० त०), अत्रस्यन्नवमणिजन्मभिः—न त्रस्यन्तः अत्रस्यन्तः (नञ्), नवाश्च ते मणयः (क० धा०), अत्रस्यन्तश्च ते नवमणयः (क०धा०) तेभ्यो जन्म येषां ते, अत्रस्यन्नवमणिजन्मानः, तैः (व्यधिकरणबहु०)। अभित्ति—अविद्यमानाभित्तिः यस्मिन् तत् (नञ् बहु०)। चित्रकर्म—चित्रस्य कर्म (ष० त०)। गगनसदः—गगनेसीदन्ति (सञ्चरन्ति) इति गगनसदः (उपपदसमासः) तान्।

व्या०—गगनसदः—गगन + सद् + क्विप् + शस्। विस्मेरान्—ष्मिङ् ईषद् हसने + र—'नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः (३। २। १६७) इति र प्रत्ययः। करोति—डुकृञ् करणे—लट्—तिप्।

सं० भा०—अत्र रैवतके परस्परमिश्रणसुन्दरैः नानावर्णैर्निर्दोषनूतनमणि-जन्मभिः मयूखैः गगने विहितमाधाररहितमालेख्यक्रिया खेचरान् विस्मय-शीलान् करोति।

हिन्दी—इस पर्वत पर परस्पर एक दूसरे से मिश्रण होने से सुन्दर विविध रंगों के, निर्दोष नये नये मणियों से उत्पन्न हुए किरणों द्वारा आकाश में बना हुआ, बिना दिवाल के चित्रकारी गगनविहारियों (देवगण) को अत्यन्त विस्मित कर रही है॥ ५३॥

समीरशिशिरः शिरःसु वसतां सतां जवनिका निकामसुखिनाम्।
बिभर्ति जनयन्नयं मुदमपामपायधवला बलाहकततीः॥५४॥

अन्वयः—समीरशिशिरः शिरःसु वसतां निकामसुखिनां सतां मुदं जनयन् अयम् अपाम् अपायधवला बलाहकततीः जवनिकाः बिभर्ति॥ ५४॥

सुधा—समीरशिशिरः=वायुशीतलः, शिरःसु=शृङ्गेषु, वसतां=स्थितानां, निवासं कुर्वतां, निकामसुखिनाम्=अत्यन्तसुखयुक्तानां, सतां=साधूनां, मुदं=हर्षं, जनयन्=उत्पादयन्, अयं=रैवतकपर्वतः, अपां=जलानाम्, अपायधवलाः = अपगमशुभ्राः, बलाहकततीः = मेघमालाः (एव), जवनिकाः=तिरस्करिणीः, बिभर्ति = धारयति ॥ ५४ ॥

विशेषः—अत्र वलाहकततिष्वारोप्यमाणानां जवनिकानां मुदं जनयन्निति प्रकृतोपयोगिवर्णनात् परिणामालङ्कारः। आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणामः, इति लक्षणात्। पादमध्ययमकं पादान्तपाद्ययमकञ्चेति परिणामालङ्कारेण सह संसृष्टिः। मधुररचनावशात् माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः। जलोद्धतावृत्तम्-रसैजंसजसा जलोद्धतगतिः, इति लक्षणात्।

कोशः—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षः प्रमोदामोदसम्मदाः। इत्यमरः, 'प्रतिसीरा जवनिका स्यात् तिस्करिणी च सा, इत्यमरः। अभ्रं मेघो वारिवाहः स्तनयित्नुर्बलाहकः' इत्यमरः।

समासः—समीरशिशिरः–समीरेण शिशिरः (तृ० त०)। निकामसुखिना–निकामं यथा तथा सुखिनः, तेषां (सुप्सुपा०)। अपायधवलाः–अपायेन धवलाः, ताः (तृ० त०)। बलाहकततीः–बलाहकानां ततयः, ताः (ष० त०)।

व्या०—वसतां—वस+लट् (शतृ)+आम्। सताम्—अस्+लट् (शतृ)+आम्। जनयन्—जन+णिच्+लट् (शतृ)+सु। बिभर्ति—डुभृञ्धारणपोषणयोः+लट्–तिप् 'भृञामित्। (७।४।७६)। इत्यभ्यासस्येत्वे।

सं० भा०—वायुशीतलोऽयं रैवतकः शिखरेषु निवासं कुर्वतामत्यन्तसुखिनां साधूनां हर्षं जनयन् जलानां तोयवृष्ट्या श्वेता मेघामालाः तिरस्करिणीनामिव धारयति।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत वायु से शीतल शिखरों पर अत्यन्त आनन्द पूर्वक निवास करने वाले सज्जन लोगों के लिये जल के बरस जाने से श्वेत वर्ण मेघों के समूह को पर्दे की तरह धारण कर रहा है ॥ ५४ ॥

मैत्र्यादि चित्तपरिकर्मविदो विधाय क्लेश-
प्रहाणमिह लब्धसबीजयोगाः ।
ख्यातिं च सत्वपुरुषान्यतयाधिगम्य
वाञ्छन्ति तामपि समाधिभृतो निरोद्धुम् ॥ ५५ ॥

अन्वयः—इह समाधिभृतः मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः क्लेशप्रहाणं विधाय (अतः) लब्धसबीजयोगाः सत्वपुरुषाऽन्यतया ख्यातिं च अधिगम्य ताम् अपि निरोद्धुं वाञ्छन्ति ॥ ५५ ॥

सुधा—इह = अस्मिन् पर्वते, समाधिभृतः = योगिनः, मैत्र्यादिचित्त-परिकर्मविदः=मैत्र्यादि चित्तप्रसादनभाजः, क्लेशप्रहाणं=अविद्याऽऽदिक्लेश-क्षयं, विधाय=कृत्वा; अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाख्यानां पञ्चक्लेशानां त्यागं कृत्वेत्यर्थः । अतः, लब्धबीजयोगाः—प्राप्तसावलम्बनयोगाः सन्तः, सत्वपुरुषान्यतया = प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वेन, ख्यातिं च = ज्ञानञ्च, अधिगम्य = प्राप्य, तामपि = तादृशीं ख्यातिमपि, प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वज्ञानमपीति भावः, निरोद्धुं = निवर्तयितुं, वाञ्छन्ति = अभिलषन्ति । वृत्तिरूपां तां निवर्त्य स्वयं प्रकाशतयैव स्थातुमिच्छन्तीत्यर्थः । न केवलं भोगभूमिरियं, किन्तु मोक्षक्षेत्रमपीति भावः ॥ ५५ ॥

विशेषः—'मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम्' 'अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः' । तत्र पुण्यकृत्सु मैत्री, दुःखिषु करुणा, सुखिषु मुदिता अनुमोदनम्, पापिषु उपेक्षा । अनित्येषु नित्यत्वाभिमानोऽनात्मनि च देहेन्द्रियादावात्मधीरित्यादिविभ्रमोऽविद्या, अस्मिता अहङ्कारः, रागोऽभिमतविषयाभिलाषः, द्वेषोऽनभिमतेषु रोषः, अभिनिवेशः कार्याकार्येष्वाग्रहः, इत्यादीनि योगदर्शने समुल्लिखितानि सन्ति । अत्र मैत्र्यादिपदानां केवलं योगशास्त्र एव प्रसिद्धत्वेऽपि नाप्रतीतत्वः दोषः प्रत्युत गुण एव, वक्तृबोद्धव्ययोर्दारुकश्रीकृष्णयोरुभयोरेव अभिज्ञत्वाद् 'गुणः स्यात् प्रतीतत्वं ज्ञत्वञ्चेद्वक्तृवाच्ययोः' इति साहित्यदर्पणात् । शान्तो रसः, बन्धस्य प्रगाढत्वाद् ओजो गुणः, गौडी च रीतिः । वसन्ततिलकावृत्तम् ।

समासः—समाधिभृतः—समाधिं बिभ्रतीति (उपपदसमासः) । मैत्र्यादि-चित्तपरिकर्मविदः—मैत्री आदिर्येषां तानि मैत्र्यादीनि (बहु०), चित्तस्य परि-

कर्माणि (ष० त०), मैत्र्यादीनि च तानि चित्तपरिकर्माणि (क० धा०) तानि विन्दन्ते (लभन्ते) इति मैत्र्यादिचित्तपरिकर्मविदः। क्लेशप्रहाणम्—क्लेशानां प्रहाणं तत्। (ष० त०)। लब्धसबीजयोगाः—बीजेन सहितः सबीजः (तुल्ययोग—बहु०), लब्धः सबीजः योगः यैस्ते (बहु०)। सत्वपुरुषाऽन्यतया—सत्वं च पुरुषश्च सत्वपुरुषौ (इतरेतरद्वन्द्वः) तयोः अन्यता (ष० त०), तया।

व्याकरणम्—समाधिमृतः—समाधि + मृ—क्विप् + जस्। ख्याति—ख्या + क्तिन्। अधिगम्य—अधि + गम् + क्त्वा (ल्यप्)। निरोद्धुम्—नि + रुध् + तुमुन्। वाञ्छन्ति—वाछि इच्छायाम् + लट् + झि।

सं० भा०—अस्मिन् पर्वते योगिनो मैत्र्यादिचित्तशोधकभाजो भूत्वा अविद्यादिपञ्चक्लेशक्षयं विधाय प्राप्तसालम्बनमियोगाः प्रकृतिपुरुषभिन्नत्वेन ज्ञानं प्राप्य ख्यातिमपि निरोद्धुमभिलषन्ति पर्वतेऽस्मिन् न केवलं भोगस्थानमपितु मोक्षक्षेत्रमपीति प्रतीयते।

हिन्दी—इस पर्वत पर मैत्री आदि चित्तशोधक कार्यों को जाननेवाले योगी लोग अविद्या आदि क्लेशों को नष्ट करके योग का आलम्बन प्राप्त करते हुए प्रकृति और पुरुष के पृथक् पृथक् होने के ज्ञान को प्राप्त करके तथा उसे भी रोकने के लिये अर्थात् प्रकाशमय होने की इच्छा प्रकट करते है याने मोक्ष को प्राप्त करना चाहते है ॥ ५५ ॥

विशेष—मैत्री करुणा, मुदिता तथा उपेक्षा के द्वारा चित्त को प्रसन्न करने की बात योगदर्शन में कही गई है। "यह मुझे अवश्यमेव विपत्तियों से रक्षा करेगा" इस प्रकार के विश्वास का नाम मैत्री है। मैत्री समान व्यक्तियों के साथ की जाती है। दूसरों के दुःख को हटाने की इच्छा का नाम करुणा है। इस करुणा का उपयोग दुःखी जीवों पर करना चाहिये। इससे भी चित्त प्रसन्न होता है, यह भी योगदर्शन का सिद्धान्त है। दूसरों की अभ्युन्नति के अवसरपर चित्त में प्रसन्नता लाना मुदिता है। मुदिता का उपयोग सुखी व्यक्तियों पर करना चाहिये। संसार में ऐसे भी मनुष्य होते हैं जो चोरी, डकैती आदि के द्वारा दूसरों में दुख पहुंचाया करते हैं और ऐसे भी व्यक्ति हैं जो दूसरों का सदुपदेश मानने को तैयार नहीं हैं। ऐसे ही व्यक्तियों के ऊपर उपेक्षा करने की बात कही गई है। उपेक्षा अनादर की भावना का नाम है;

अर्थात् ऐसे व्यक्तियों को चित्त में किसी भी रूप से स्थान नहीं देना चाहिये। इसी बात को भगवान् पतञ्जलि ने "मैत्री करुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् (१ । ३३) सूत्र में व्यक्त किया है। जब मैत्री आदि चारों से चित्त प्रसन्न हो जाता है तब अविद्या आदि जो पाँच प्रकार के क्लेश हैं, दूर किये जा सकते हैं। अविद्या अज्ञान का नाम है, अर्थात् अनित्य को नित्य अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख तथा जड़ को आत्मा समझना आदि। अविद्या, अस्थिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश ये पांच क्लेश कहलाते हैं। अस्थिता अहंकार का नाम है। अहंकारी दुःख भोगता है। राग स्नेह को कहते हैं। स्त्री पुत्र आदि में जो स्नेह पैदा होता है, उसके अभाव में या उसकी रक्षा करने में हर एक जीव को दुःख ही भोगना पड़ता है। इसलिए परिणाम में राग भी क्लेश ही है। द्वेष दुश्मनों पर की जाती है। दुष्ट जीव सदा व्याकुल रहता है, चित्त में अशान्ति बनी रहती है, जिसके कारण निद्रा उससे लाखों मील दूर भागती है। अतः द्वेष भी क्लेश है। जीव ईश्वर से प्रार्थना करता है कि हमारा इस शरीर से विच्छेद न हो अर्थात् हम न मरें, इस प्रकार जो आग्रह है उसे अभिनिवेश कहते हैं। अभिनिवेश का परिणाम भी क्लेश ही है।

इन क्लेशों का जब विनाश हो जाता है तब साधक सविकल्पक समाधि की ओर अग्रसर होता है। सविकल्पक समाधि के समय में आत्मा का शुद्ध स्वरूप भाषित नहीं होता, उस समय भी बुद्धि के साथ आत्मा का तादात्म्य अर्थात् अभेद नहीं मिटता किन्तु आत्मा भाषित अवश्य होता है। इसके बाद शनैः शनैः जब बुद्धि के साथ आत्मा का भेद ज्ञान होता है तब साधक निर्विकल्पक समाधि की ओर अग्रसर होता है। निर्विकल्पक समाधि के समय साधक अपनी आत्मा के शुद्धस्वरूप में स्थित हो जाता हैं। यहां तक कि जो बुद्धि के साथ आत्मा का भेद ज्ञान होता है वह भी मिट जाता है अर्थात् संस्कारमात्र भी शेष नहीं बचता, यही मुक्तात्मा का स्वरूप है।

ऐसे योगियों का निवास इस रैवतक पर्वत पर हैं, यह बात कवि ने उपर्युक्त श्लोक से व्यक्त की है॥ ५५॥

मरकतमयमेदिनीषु भानोस्तरुविटपान्तरपातिनो मयूखाः ।
अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीमिह दधति स्फुरिताणुरेणुजालाः ।। ५६ ।।

अन्वयः—इह मरकतमयमेदिनीषु तरुविटपाऽन्तरपातिनः स्फुरिताऽणुरेणु-जालाः भानोः मयूखाः अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीं दधति ।। ५६ ।।

सुधा—इह=अस्मिन् पर्वते, मरकतमयमेदिनीषु=गारुत्मतमयभूमिषु, तरुविटपान्तरपातिनः=वृक्षविस्तृतशाखावकाशसञ्चारिणः स्फुरिताऽणुरेणु-जालाः=विलसितसूक्ष्मरजःसमूहाः, भानोः=सूर्यस्य, मयूखाः=रश्मयः, अवनतशितिकण्ठकण्ठलक्ष्मीं=आनम्रकलापिगलश्रियं, दधति=बिभ्रति । निदर्शनालंकारः ।

विशेषः—अत्र शितिकण्ठकण्ठेति लाटानुप्रासः, स्फुरिताणुरेण्विति वृत्यनु-प्रास इति निदर्शनया सहानयोः संसृष्टिः । तथा दधतीत्यन्तेन वाक्यसमा-प्तावपि पुनर्मयूखा इत्यस्य विशेषणतया स्फुरिताणुरेणुजाला इत्यस्योपादानात् समाप्तपुनरात्ततादोषः, स च द्वितीयपादं स्थाने चतुर्थपादं चतुर्थपादस्थाने च द्वितीयपादं पठित्वा समाधेयः । समासबाहुल्यात् ओजो गुणः गौड़ी च रीतिः । पुष्पितावृत्तम् ।

कोशः—'विटपः पल्लवे षिड्गे विस्तारे स्तम्बशाखयोः' 'इति विश्वः' गारुत्मतं मरकतमश्मगर्भो हरिन्मणिः, इत्यमरः । 'किरणोऽस्रमयूखांशुगभस्ति-घृणिरश्मयः, इत्यमरः । 'अन्तरमवकाशावधिपरिधानान्तर्धिभेदतादर्थ्ये, इत्यमरः ।

समासः—मरकतमयमेदिनीषु—मरकतस्य विकारा मरकतमय्यः, मरकत-मय्यश्च ता मेदिन्यः तासु (क० धा०) । तरुविटपान्तरपातिनः—तरूणां विटपाः (ष० त०), तेषाम् अन्तराणि (ष० त०) तैः पतन्तीति तच्छीलाः । स्फुरिताऽणु-रेणुजालाः—अणवश्च ते रेणवः (क० धा०), तेषां जालानि (ष० त०) स्फुरि-तानि अणुरेणुजालानि येषु ते (बहु०) । अवनतशितिकण्ठलक्ष्मीं—शितिकण्ठ-स्य कण्ठः (ष० त०) 'अवनतश्चासौ शितिकण्ठकण्ठः (क० धा०), तस्य लक्ष्मीः, ताम् (ष० त०) ।

व्या०—दधति—डुधाञ् धारणपोषयोः+लट्—झि ।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकाद्रौ मरकतमयभूमिषु वृक्षशाखाभ्यन्तरेषु

संचारिणो विलसितसूक्ष्मरजः समूहाः सूर्यस्य किरणाः आनम्रमयूरगलशोभां बिभ्रति ।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर मरकतमणिवाली भूमियों पर वृक्षों की शाखाओं के बीच से आने वाली जिसमें सूक्ष्मधूलिकण चमक रहा है ऐसी सूर्य की किरणें झुके हुए मयूर के कण्ठ की शोभा को धारण कर रही है ॥

या बिभर्ति कलवल्लकीगुण-
स्वानमानमतिकालिमाऽलया ।
नात्र कान्तमुपगीतया तया स्वानमा
नमति काऽलिमालया ॥ ५७ ॥

अन्वयः—अत्र अतिकालिमा अलया या कलवल्लकीगुणस्वानमानं बिभर्ति । उपगीतया तया अलिमालया स्वानमा का कान्तं न नमति ! ॥५७॥

सुधा—अत्र = अस्मिन् रैवतकपर्वते, अतिकालिमा = अतिकृष्णा, अलया = भ्रमन्ती, या = भ्रमरपंक्तिः, कलवल्लकीगुणस्वानमानं = मधुरवाणीतन्त्रीशब्दसाम्यं, बिभर्ति = धारयति । उपगीतया = समीपे प्रारब्धगानया सत्या, ननु पूर्वं गायन्त्येति भावः, तया = तादृश्या, अलिमालया = भ्रमरपङ्क्त्या, स्वानमा = सुखेन नमयितुं शक्या, का = स्त्री, कान्तं = प्रियं, न नमति = स्वयं नम्रीभूय न सेवते, अपि तु सर्वाऽपि मानं विहाय कान्तं सद्यो नमत्येव, गानस्य तथोद्दीपकत्वादित्यर्थः ॥

विशेषः—अत्र उपमालङ्कारः । तथा च सर्वाऽपि नमतीति अर्थस्य आपतनाद् अर्थापत्तिः, पादयमकश्चेति उपमया सह संसृष्टिः । सम्भोगसङ्कारो रसः, माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः । रथोद्धतावृत्तम्—'रान्नराविहरथोद्धता लगौ' इति लक्षणात् ।

कोशः—'कृष्णे नीलाऽसितश्यामकालश्यामलमेचकाः' इत्यमरः । 'वीणा तु वल्लकी' इत्यमरः । 'ध्वनिध्वानरवस्वनाः' इत्यमरः । 'मधुव्रतोः मधुकरो मधुलिणमधुपालिनः । द्विरेफपुष्पलिङ्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः' इत्यमरः ।

समासः—अतिकालिमा—कालस्य भावः कालिमा, अत्यन्ता कालिमा यस्याः सा (बहु०) । अलया—अविद्यमानो लयो यस्याः सा (नञ् बहु०)

कलवल्लकीगुणस्वानमानम्—वल्लक्याः गुणः वल्लकीगुणः (ष० त०), तस्य स्वानः (ष० त०), कलश्चासौ वल्लकीगुणः (क० धा०) तस्य मानं, तत् (ष० त०)। उपगीतया—समीपे गीता उपगीता, तया (प्रादि-समासः)। अलिमालया—अलीनां माला, तया (ष० त०)। स्वानमा—सुखेन आनमयितुं शक्या (प्रादिसमासः)।

व्याकरणम्—कालिमा—अत्र 'काल' शब्दात् "पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति इमानिच् प्रत्ययः। उपगीतया—उप+गै शब्दे+क्तः 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इति क्तः प्रत्ययः। बिभर्ति—डुभृञ् धारणपोषणयोः+लट्-तिप्। स्वानमासु आङ् उपसर्गात् णिजन्तत्वात् 'नम्' धातोः 'ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽर्थेषु खल्' इति सूत्रेण खल् प्रत्ययः। नमति—णम्+लट्+तिप्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतके अत्यन्तश्यामा भ्रमन्ती या अलिमाला अत्यन्तमधुरवीणातन्त्रीशब्दोपमानं धारयति। अर्थात् तन्त्रीवद् ध्वनति। समीपे गातुं प्रवृत्तयैव तयाऽलिमालया सुखेनाक्रष्टुं शक्या का वा स्त्री स्वकान्तं न प्रणमति अपि तु सर्वाऽपि मानं विहाय कान्तं सद्यः प्रणमत्येव।

हिन्दी—इस पर्वत पर अत्यन्त काली तथा भ्रमण करती हुई जो भ्रमर पङ्क्ति अव्यक्त मधुर वीणा तन्त्री के शब्द की समानता को धारण करती है। समीप में गान करती (गुंजती हुई) उस भ्रमरपङ्क्ति के द्वारा सुख-पूर्वक आकृष्ट की जानेवाली कौनी स्त्री अपने मान को त्यागकर प्रिय के समीप झुकती नहीं है? ॥ ५७ ॥

सायं शशाऽङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
निस्यन्दिनीरनिकरेण कृताऽभिषेकाः।
अर्कोपलोल्लासितवह्नितप्ता-
स्तीव्रं महाव्रतमिवाऽत्र चरन्ति वप्राः ॥ ५८ ॥

अन्वयः—इह वप्राः सायं शशाऽङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण कृताऽभिषेकाः अह्नि अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः तप्ताः (सन्तः) तीव्रं महाव्रतं चरन्ति इव ॥ ५८ ॥

सुधा—इह=अस्मिन् रैवतकपर्वते, वप्राः=सानवः, सायं=सन्ध्या

काले, (रात्रौ) शशाऽङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण = चन्द्रमयूखस्पृष्टचन्द्रकान्तमणिप्रस्राविजलपूरेण, 'निस्यन्दि' इत्यस्य स्थाने 'निस्यन्द'–इति पाठान्तरं, तत्र निस्यन्देन = स्रुतेनेत्यर्थः। कृताऽभिषेकाः = विहितस्नानाः, तथा अह्नि = दिने, अर्कोपलोल्लसितवह्निभिः = सूर्यकान्तमणिनिःसृताग्निभिः, तप्ताः = सन्तप्ताः सन्तः, तीव्रं = दुश्चरं, महाव्रतं = महातपः, चरन्ति इव = कुर्वन्ति इव। इवेत्युत्प्रेक्षायाम्।

विशेषः—अत्र च्छेकानुप्रासश्च शब्दालङ्कार इत्युत्प्रेक्षया सह संसृष्टिः। माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—'वप्रोऽस्त्री सानुमानयोः' इत्यमरः। 'नियमो व्रतमस्त्री' इत्यमरः।

समासः—शशाऽङ्ककिरणाऽऽहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दिनीरनिकरेण–शशः अङ्के यस्य स शशाङ्कः (बहु०), तस्य किरणाः (ष० त०), तैः आहताः (तृ० त०), ते च ते चन्द्रकान्ताः (क० धा०), तेभ्यो निस्यन्दते इति शशाऽङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्तनिस्यन्दी, स चासौ नीरनिकरः (क० धा०) तेन। कृताऽभिषेकाः—कृतः अभिषेकः यैस्ते (बहु०)। अर्कोपलोल्लसित वह्निभिः—अर्कस्य उपलाः (ष० त०), तेभ्यः उल्लसिताः (ष० त०), ते च ते वह्नयः, तैः (क० धा०) महाव्रतम्—महच्च तद् व्रतं, तत् (क० धा०)।

व्याकरणम्—चरन्ति—चर गतिभक्षणयोः + लट् + तिप्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते रात्रौ सानवश्चन्द्रकिरणैराहतेभ्यश्चन्द्रकान्तमणिभ्यः प्रस्राविलजलपूरेणकृतस्नानाः तथा दिने सूर्यकान्तोत्थापिताग्निभिः प्रतप्ताः तीव्रं महातपस्तपन्ति।

हिन्दी—इस पर्वत पर रात्रि में चन्द्रकिरणों से ताड़ित चन्द्रमणि से झरते हुए जल समूहों के द्वारा स्नान किये हुए तथा दिन में सूर्यकान्त मणियों से उठती हुई आग की लपटों से सन्तप्त चोटियाँ मानो महान् तपस्या कर रही है। (महाव्रत एक प्रकार की तपस्या है, जिसमें रात्रि को जल में रहकर दिन में पञ्चाग्नि का सेवन किया जाता)॥ ५८॥

एतस्मिन्नधिकपयः श्रियं वहन्त्यः
संक्षोभं पवनभुवा जवेन नीताः ।
वाल्मीकेररहितरामलक्ष्मणानां
साधर्म्यं दधति गिरां महासरस्यः ॥ ५९ ॥

अन्वयः—एतस्मिन् अधिकपयः श्रियं वहन्त्यः पवनभुवा जवेन संक्षोभं नीताः (अरहितरामलक्ष्मणाः) महासरस्यः ('अधिकपीनां श्रियं वहन्तीनां पवनभुवा जवेन संक्षोभं नीतानाम्') अरहितरामलक्ष्मणानां वाल्मीकेः गिरां साधर्म्यं दधति ॥ ५९ ॥

सुधा—एतस्मिन् = रैवतकपर्वते, अधिकपयःश्रियम् = अतिजलशोभां, वहन्त्यः = धारयन्त्यः, पवनभुवा = समीरजन्येन; जवेन = वेगेन, संक्षोभं = संचलनं, नीताः = प्रापिताः, (अरहितरामलक्ष्मणाः—अवर्जितरमणसारसयोषितः), महासरस्यः = महातडागाः, अधिकपीनाम् = प्रचुरवानराणां, श्रियं = गुणालङ्कादिशोभां, वहन्तीनां = धारयन्तीनां, पवनभुवा = वायुपुत्रेण, हनुमता, जवेन = तीव्रगत्या, संक्षोभम् = औद्धत्यं, नीतानां = प्रापितानां हनुमद्वेगवर्णनया प्रागल्भ्यं नीतानामित्यर्थः), अरहितरामलक्ष्मणानां = सदोपस्थितदशरथपुत्राणां, वाल्मीकेः = एतन्नामकस्य महामुनेः, गिरां = वाणीनां, रामायणादिरूपाणमित्यर्थः । साधर्म्यं = साम्यं, दधति = धारयन्ति ।

विशेषः—अत्र पवनभुवा जवेनेत्यत्रैकवृतावलम्बिफलद्वयवद्भग्नैकपाद गतत्वेनार्थद्वयप्रतीतेरर्थश्लेषः । अन्यत्र पदभङ्गेनार्थद्वयप्रतीतेर्जतुकाष्ठवच्छब्द योरेव मिथः श्लिष्टत्वाच्छब्दश्लेष इत्युभयसाहित्यादुभयश्लेषोऽयं प्रकृताप्रकृतगोचरः। उपमा त्वङ्गमिति सङ्करालङ्कारः ।

अर्थश्लेषस्य लक्षणं यथा—'शब्दैःस्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् । (सा० द० १०–५७) शब्दश्लेषस्य सामान्यलक्षणं यथा—'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाऽभिधाने श्लेष इष्यते ।' (सा० द० १०–११) 'सङ्करालङ्कारस्य लक्षणम्—

अङ्गाऽङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ १०–९८]

सङ्करस्त्रिविधः---अङ्गाऽङ्गिभावमूलकः, एकाश्रयाऽनुप्रवेशः, सन्दिग्ध-सङ्करश्च। अत्राङ्गाङ्गिभावमूलकः सङ्करोऽस्ति। अत्र बन्धस्य प्रगाढ़त्वात् ओजो गुणः, गौडी च रीतिः। प्रहर्षिणीवृत्तम्।

कोश--'हंसस्य योषिद्वरटा सारसस्य तु लक्ष्मणा' इत्यमरः। 'लक्ष्मणौ-षधिसारस्योः, इतिविश्वः। 'श्रीर्वेशरचना-शोभाभारती सरलद्रुमे। लक्ष्म्यां त्रिवर्गसम्पत्तिविधोपकरणेषु च' इति मेदिनी।

समासः---अधिकपयःश्रियं-पयसः श्रीः पयःश्री (ष० त०), अधिका चाऽसौ पयःश्री, ताम् (क० धा०) अन्यत्र--अधिकाः कपयो यासु ताः (बहु०)। पवनभुवा--पवनाद् भवतीति पवनभूः, तेन (उपपदसमासः)। अरहितरामलक्ष्मणाः--रामैः अरहिताः अरहितरामाः, अरहितरामाश्च ताः लक्ष्मणाश्च (क० धा०), ताः सन्ति यासु ताः। अन्यत्र-अरहितौ रामलक्ष्मणौ याभिस्तासाम्-अरहितरामलक्ष्मणानाम्। साधर्म्यम्-समानो धर्मो येषां ते सधर्माः तेषां भावः।

व्याकरणम्---वहन्त्यः--वह+लट् (शतृ)+ङीप्+जस्। पवनभुवा-पवन+भू+क्विप्। जवेन---जवोऽस्यास्तीति जवः तेन--जव+अच् 'अर्श आदिभ्योऽच्' इति अच् प्रत्ययः। नीताः---नी+क्तः। दधति---डुधाञ् धारणपोषणयोः+लट्+झि।

सं० भा०--अस्मिन् पर्वते अधिकजलशोभां धारयन्त्यो वायुजन्यवेगेन चलनं नीताः (वायुना कम्पिताः) अवियुक्तरमणसारसयोषितः महासरांसि अधिकवानराणां श्रियं धारयन्तीं हनुमता समुद्रलङ्घनाग्निदाहादिना वेगेन औद्धत्यं नीतानामरहितरामलक्ष्मणानां वाल्मीकेः रामायणरूपेणाऽवस्थितानां वाणीनां सादृश्यं धारयन्ति।

हिन्दी---इस पर्वतपर अत्यधिक जल की शोभा को धारण करती हुई तथा वायु से उत्पन्न वेग के द्वारा कपाई गई सपत्नीक सारस पक्षियोंवाली बड़ी-बड़ी झीलें सुग्रीव, हनुमान आदि वानरों वाली, गुणालङ्कार की शोभा को धारण करनेवाली, वेगयुक्त पवनसुत हनुमान का वर्णन करने में सक्षम और राम तथा लक्ष्मण की कथा से युक्त वाल्मीकि मुनि की वाणियों के सादृश्य को धारण करती है॥ ५९॥

इह मुहुर्मुदितैः कलभै रवः प्रतिदिशं क्रियते कलभैरवः ।
स्फुरति चाऽनुवनं चमरीचयः कनकरत्नभुवां च मरीचयः ॥ ६० ॥

अन्वयः---इह मुदितैः कलभैः प्रतिदिशं कलभैरवो रवः मुहुः क्रियते । अनुवनं चमरीचयः स्फुरति । कनकरत्नभुवां मरीचयश्च (स्फुरन्ति) ।

सुधा---इह=अस्मिन् रैवतके, मुदितैः=प्रमत्तैः, स्वेच्छाविहारसन्तुष्टैरित्यर्थः । कलभैः=करिशावकैः, प्रतिदिशं=सर्वासु दिक्षु, कलभैरवः=सुमधुरभीषणः, रव=बृंहणध्वनिः, मुहुः=वारं वारं, क्रियते=विधीयते । अनुवनं=वने वने, चमरीचयः=चमरीमृगसङ्घः, स्फुरति=परिभ्रमति । कनकरत्नभुवां=सुवर्णभूमीनां, मरीचयश्च=किरणाश्च, (स्फुरन्ति=विद्योतन्ते) ।

विशेष---अत्र समृद्धिवद्वस्तुवर्णनादुदात्तालङ्कारे यमकस्याभ्युच्चयः ।

उदात्तालङ्कारस्य लक्षणं यथा--

लोकाऽतिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वाऽपि प्रस्तुतस्याऽङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥ (सा० द० १०-९४)

वृत्यनुप्रासः, पादयमकम्, उदात्तालङ्कारश्चेति संसृष्टिः । माधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः । द्रुतविलम्बितवृत्तम् ।

कोशः---'कलभः करिशावकः' इत्यमरः । 'ध्वनिध्वानरवस्वनाः' इत्यमरः ।

समासः---कलभैरवः---कलश्चासौ भैरवः (क० धा०) अनुभवं---वने वने इति (अव्ययीभावसमासः) चमरीचयः---चमरीणां चयः (ष० त०) । कनकरत्नभुवां---कनकानि च रत्नानि च (द्वन्द्व०), तेषां भुवः (ष० त०), तासाम् ।

व्याकरणम्---मुदितैः---मुद्+क्तः+भिस् । प्रतिदिशं---'अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः' (५।४।१००) इति समासान्तोऽच् प्रत्ययः । क्रियते-डुकृञ् करणे+कर्मणि लट्--त---यकागमः । स्फुरति---स्फुर् सञ्चलने+लट्+तिप् ।

सं० भा०---अस्मिन् पर्वते प्रसन्नैः करिशावकैः प्रतिदिशं मधुरभीषणो रवो वारं वारं क्रियते । एवञ्च वने वने चमरीमृगसमूहः सञ्चलति । तथा च सुवर्णमणिभूमीनां किरणाश्च विद्योतन्ते ।

हिन्दी--इस रैवतक पर्वत पर स्वेच्छानुसार विहार करने से प्रसन्न हाथियों के बच्चे प्रत्येक दिशा में मधुर और भीषण शब्द वारंवार करते रहते हैं, अर्थात् चिग्घाड़ते रहते हैं। प्रत्येक वन में चमरी गायों के झुण्ड दौड़ते रहते हैं तथा सुवर्ण और रत्नों की भूमियों से निकलती हुई किरणें चमकती रहती हैं ॥ ६० ॥

त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीति--
रस्मिन्नसौ मृदितपक्ष्मलरल्लकाङ्गः।
कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिरेति
रागीव सक्तिमधिकां विषयेषु वायुः ॥ ६१ ॥

अन्वयः--अस्मिन् त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः मृदितपक्ष्मलरल्लकाऽङ्गः कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः असौ वायुः रागी इव विषयेषु अधिकां सक्तिम् एति।

सुधा--अस्मिन्=रैवतकाद्रौ, त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः=कीचकवेणुच्छिद्रध्मापनप्राप्तगानसुखः, क्वचिद् 'लब्धगीतिः' इत्यस्यस्थाने 'रक्तगीतिः' इति पाठान्तरम्। तत्र-रक्ता=मधुरा इत्यर्थः। मृदितपक्ष्मलरल्लकाऽङ्गः=समृष्टलोमशकम्बलमृगशरीरः, कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः=कस्तूरीहरिणसङ्घर्षशोभनगन्धः, असौ=अयं, वायुः=पवनः, रागी इव=कामुक इव, विषयेषु=इन्द्रियार्थेषु प्रदेशेषु च अधिकां=बहुलां, सक्तिम्=आसक्ति सम्बन्धं वा, एति=गच्छति, प्राप्नोतीत्यर्थः। श्रौतोपमालङ्कारः। समासबाहुल्याद् ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः--'वंशे त्वक्सारकर्मारत्वचिसारतृणध्वजाः' इत्यमरः। 'रल्लकः कम्बलमृगे कम्बले परिकीर्तितः' इति वैजयन्ती। 'विषयः स्यादिन्द्रियाऽर्थे देशे जनपदेऽपि च' इति विश्वः।

समासः--त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणलब्धगीतिः--त्वचि सरन्तीति त्वक्साराः, त्वक्साराणां रन्ध्राणि (ष० त०), तेषां परिपूरणम्, (ष० त०), लब्धा गीतिः येन सः (बहु०), त्वक्साररन्ध्रपरिपूरणेन लब्धगीतिः (तृ० त०)। मृदितपक्ष्मलरल्लकाऽङ्गः--रल्लकानाम् अङ्गानि (ष० त०) मृदितानि पक्ष्म-

लानि रल्लकाऽङ्गानि येन सः (बहु०)। कस्तूरिकामृगविमर्दसुगन्धिः—कस्तूरिकायाः मृगाः कस्तूरिकामृगाः (ष० त०) तेषां विमर्दः (ष० त०), शोभनो गन्धो यस्य सः सुगन्धिः (बहु०), कस्तुरिकामृगमर्देन सुगन्धिः (तृ० त०)।

व्याक०—त्वक्साराः—त्वचि + सृ + घञ् 'सृ स्थिरे' इति घञ् प्रत्ययः। रागी—राग + इनि। एति—इण् गतौ + लट् + तिप्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते वंशच्छिद्रपरिपूरणेन प्राप्तगानसुखः सम्मृष्टलोमशकम्वलमृगशरीरः कस्तुरीमृगसङ्घर्षसुरभिरयं पवनः कामी इव विषयेषु प्रचुरामासक्तिं प्राप्नोति।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर जंगलों में बांसों के छिद्रों को भर देने से सुख प्राप्त करनेवाला रोमयुक्त कम्बल मृगों के अङ्गों को मर्दन करनेवाला कस्तूरी मृग के संसर्ग से सुगन्धयुक्त यह वायु कामी पुरुषों के समान गन्धादि विषयों में अधिक आसक्ति को प्राप्त करता है ॥६१॥

प्रीत्यै यूनां व्यवहिततपनाः प्रौढध्वान्तं दिनमिह जलदाः।
दोषामन्यं विदधति सुरतक्रीडाऽऽयासश्रमशमपटवः ॥ ६२॥

अन्वयः—इह यूनां प्रीत्यै व्यवहिततपनाः (अतएव) सुरतक्रीडाऽऽयासश्रमशमपटवः जलदाः प्रौढध्वान्तं दिनं दोषामन्यं विदधति।

सुधा—इह=अस्मिन् पर्वते, यूनां=युवतीनां युवकानां च, प्रीत्यै=प्रमोदाय, व्यवहिततपनाः=आच्छादितसूर्याः, 'क्वचिद्—व्यवहिततपनाः' इत्यस्य स्थाने 'व्यवहिततपनम्' इति पाठान्तरम्, आच्छादितसूर्यमिति चार्थः। अत एव सुरतक्रीडाऽऽयासश्रमशमपटवः = निधुवनकेलिव्यायामखेदवारणदक्षाः, जलदाः = मेघाः, प्रौढध्वान्तं = बहुलान्धकारयुक्तं, दिनं=दिवसं, दोषामन्यं=रात्रिमानिनं, विदधति=कुर्वन्ति। मेघावरणमहिम्ना दिवसः स्वयमप्यात्मानं रात्रिं मन्यते किमुतान्य इत्यर्थः ॥ ६२॥

विशेषः—अत्र दिनस्य दोषामन्यत्वविधानासत्त्वेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः। तथा विदधतीत्यन्तेन वाक्यसमाप्तावपि जलदा इत्यस्य विशेषणतया पुनः सुरतेत्यादेरुपादानात् समाप्तपुनरात्तता दोषः, स च परार्धं पूर्वं पठित्वा समाधेयः। सम्भोगशृङ्गारो रसः, मधुररचनावशात् माधुर्यं

गुणः, वैदर्भी च रीतिः। भ्रमरविलसितं वृत्तम्। लक्षणन्तु—म्भौ न्लौ गः स्याद् भ्रमरविलसितम्।

कोशः—'मुत्प्रीतिः प्रमदो हर्षप्रमोदामोदसंमदाः' इत्यमरः। 'श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः' 'दशरूपके ४।१२)। 'भानुर्हंसः सहस्रांशुस्तपनः सविता रविः' इत्यमरः। 'दोषा च नक्तं च रजनावपि' इत्यमरः। 'घस्रो दिनाहनी वा तु क्लीबे दिवसवासरौ' इत्यमरः। 'अन्धकारोऽस्त्रियां ध्वान्तं तमिस्रं तिमिरं तमः' इत्यमरः।

समासः—यूनां-युवतयश्च युवानश्चेति युवानः, तेषाम्। व्यवहिततपनाः-व्यवहितः तपनः यैस्ते (बहु०)। सुरतक्रीडाऽऽयासश्रमशमपटवः-सुरतानि एव क्रीडाः (रूपकसमासः) ताभिः आयासः (तृ० त०), तेन श्रमः (तृ० त०) तस्य श्रमः, (ष० त०), तस्मिन् पटवः (स० त०)। प्रौढध्वान्तं-प्रौढं ध्वान्तं यस्मिन् तत् (बहु०) दोषामन्यम्—दोषा आत्मानं मन्यत इति (उपपदसमासः)।

व्याकरणम्—प्रीत्यै—प्री + क्तिन् + ङे। जलदा—जलं ददतीति, जल + दा = क। दोषामन्यम्—दोषा + मनं ज्ञाने—खश्। 'आत्ममानेखश्च' इति खश् प्रत्ययः। विदधति—वि—डुधाञ् धारणपोषणयो = लट् = झि।

सं० भा०—अस्मिन्नद्रौ युवकानां युवतीनाञ्च प्रीत्यै तिरोहितार्काः सुरतकेलिव्यायामशान्तसमर्थाः मेघाः गाढान्धकारं दिनं रात्रिमानिनं कुर्वन्ति।

हिन्दी—इस पर्वतपर युवक-युवतियों की प्रसन्नता के लिये सूर्य को ढकते हुए रतिक्रीड़ा में उत्पन्न थकावट को दूर करने में चतुर मेघ घने अन्धकार वाले दिन को अपने को रात्रि माननेवाला बना रहा है॥ ६२॥

भग्नो निवासोऽयमिहास्य पुष्पैः
सदानतो येन विषाणिनाऽगः।
तीव्राणि तेनोज्झति कोपितोऽसौ
सदानतोयेन विषाणि नागः॥ ६३॥

अन्वयः—इह अस्य निवासः सदा पुष्पैः आनतः अगः सदानतोयेन येन विषाणिना भग्नः, तेन कोपितः असौ नागः तीव्राणि विषाणि उज्झति।

सुधा—इह = अस्मिन् रैवतके, अस्य = सर्पस्य, निवासः = निवासस्थानं, सदा = सर्वदा, पुष्पैः = कुसुमैः, आनतः = नम्रः, अगः = विटपः, सदानतोयेन = मदजलयुक्तेन, मत्तेनेत्यर्थः। येन विषाणिना = येन दन्तिना, भग्नः = उन्मूलितः, तेन = हस्तिना, कोपितः = क्रुद्धः सन्, असौ = पूर्वोक्तः, नागः = सर्पः, तीव्राणि = दुःसहानि, विशाणि = गरलानि, उज्झति = उद्वमति। परप्रतीकाराक्षमस्य क्रोधः स्वाश्रयमेव व्याहरन्तीति भावः॥ ६३॥

विशेषः—अत्र पादयमकालङ्कारः। बन्धस्य गाढ़त्वाद् ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः। इन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोर्मिश्रणादुपजातिवृत्तम्।

कोशः—'नागं नपुंसके रङ्गे सीसके करणान्तरे। नागः पन्नगमातङ्गक्रूराचारिषु तोयदे' इति मेदिनी। 'शैलवृक्षौ नगवगौ' इत्यमरः।

समासः—सदानतोयेन--दानस्य तोयम् (ष० त०) दानतोयेन सहितः, तेन (तुल्ययोगबहु०)।

व्याकरणम्—निवासः—नि + वस + घञ्। भग्नः—'भञ्जो आमर्दने कर्मणि क्तप्रत्ययः, 'ओदित' इति सूत्रेण तकारस्य नकारः। कोपितः—कुप् + णिच् = क्तः। उज्झति—उज्झ उत्सर्गे = लट् = तिप्।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते सर्पस्य आश्रयः, सर्वदा पुष्पैर्नम्रो वृक्षो मत्तेन गजेन भग्नस्तेन कोपं प्रापितोऽयं सर्पः उत्कटानि गरलानि उद्वमति।

हिन्दी—इस रैवतक पर्वत पर सर्प का घर फूलों से सदा झुका वृक्ष था, उसको मदोन्मत्त हाथी ने तोड़ दिया, उस हाथी से क्रोधित होकर वह सर्प तीव्र विष को वमन कर रहा है॥ ६३॥

प्रालेयशीतमचलेश्वरमीश्वरोऽपि
सान्द्रेभचर्मवसनावरणोऽधिशेते।
सर्वर्तुनिर्वृतिकरे निवसन्नुपैति
न द्वन्द्वदुःखमिह किञ्चदकिञ्चनोऽपि॥ ६४॥

अन्वयः—ईश्वरः अपि सान्द्रेभचर्मवसनावरणः प्रालेयशीतम् अचलेश्वरम् अधिशेते। सर्वर्तुनिर्वृतिकरे इह निवसन् अकिञ्चनः अपि किञ्चित् अपि द्वन्द्वदुःखं न उपैति।

सुधा—ईश्वरः अपिः = शङ्करः अपि, सान्द्रेभचर्मवसनावरणः = वनगज-

कृत्तिपरिधानयुक्तः सन्, प्रालेयशीतं=हिमेन शीतलम्, अचलेश्वरं=पर्वतेश्वरं हिमालयम्, अधिशेते=अध्यास्ते। सर्वर्तुनिर्वृतिकरे=सदा सुखदायिनि, इह=अस्मिन् पर्वते, निवसन्=आवासं कुर्वन्, अकिञ्चनः अपि=दरिद्रोऽपि, किञ्चिदपि=स्वल्पमपि, द्वन्द्वदुःखं=शीतोष्णकष्टं, न उपैति=न प्राप्नोति। नित्यं सन्निहितानामृतूनामन्योन्यदोषनिवारकत्वादिति भावः।

विशेषः—अत्रोपमानाद् हिमाचलादुपमेयस्याधिक्यवर्णनाद् व्यतिरेकालङ्कारः। ततो लाटानुप्रासच्छेकानुप्रासश्च शब्दालङ्काराविति व्यतिरेकेण सह संसृष्टिः। बन्धोत्कर्षस्य आरोहावरोहक्रमात् ओजो गुणः, गौड़ी च रीतिः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

कोशः—'अवश्यायस्तु नीहारस्तुषारस्तुहिनं हिमम्। प्रालेयं मिहिका च' इत्यमरः। 'द्वन्द्वं युग्महिमोष्णादिमिथुनं कलहो रहः' इति वैजयन्ती।

समासः—सान्द्रेभचर्मवसनावरणः—इभस्य चर्म इभचर्म (ष० त०) सान्द्रं च तत् इभचर्म (क० धा०) तदेव वसनम् (वस्त्रम्) आवरणं (प्रावारः) यस्य सः (बहु०)। प्रालेयशीतं—प्रलयादागतं प्रालेयम्, प्रालेयेन शीतः, तम् (तृ० त०)। अचलेश्वरम्—अचलानाम् ईश्वरः, तम् (ष० त०)। सर्वर्तुनिर्वृतिकरे—सर्वे च ते ऋतवः (क० धा०), निर्वृतिं करोतीति तद्धेतुः निर्वृतिकरः, सर्वर्तुभिः निर्वृतिकरः, तस्मिन् (तृ० त०)। अकिञ्चनः—नास्ति किञ्चन यस्य सः (निपातनात्तत्पुरुषसमासः) द्वन्द्वदुःखं—द्वन्द्वस्य दुःखं, तत् (ष० त०)।

व्याक०—ईश्वरः—ईश+वरच्। प्रालेयम्—प्रलयशब्दात् 'तत आगतः' (४।३।७४) इति सूत्रेण अणि, 'केकयमित्रयुप्रलयानां यदेरियः' (७।३।२) इत्यनेन यकारस्य इयादेशः। अचलेश्वरम्—अचलेश्वर+अम् 'अधि+शीङ्स्थासां कर्म (१।४।४६) इत्याधारस्य कर्मसंज्ञा। निवसन्—नि+वस+लट्, (शतृ०)+सु। अधिशेते—अधि+शीङ् स्वप्ने+लट्+त। उपैति—उप+इण् गतौ+लट्—तिप्।

सं० भा०—महादेवोऽपि निबिडगजाऽजिनवस्त्राच्छादनः सन् हिमशीतलं हिमालयमधिशेते। सदा सुखकरेऽस्मिन् रैवतकपर्वते वसन् दरिद्रोऽपि किञ्चिदपि शीतोष्णक्लेशं न प्राप्नोति।

हिन्दी—महादेव जी भी हिम से शीतल कैलाश पर्वत पर गाढे चर्म को ओढ़कर सोते हैं। किन्तु सभी ऋतुओं में सदा सुख देने वाले इस रैवतक पर्वत पर रहता हुआ दरिद्र व्यक्ति कुछ भी शीत-उष्ण आदि दुःखों के संताप को प्राप्त नहीं करता है ॥ ६४ ॥

नवनगवनलेखाश्याममध्याभिराभिः
स्फटिककटकभूमिर्नाटयत्येष शैलः ।
अहिपरिकरभाजो भास्मनैरङ्गरागै-
रधिगतधवलिम्नः शूलपाणेरभिख्याम् ॥ ६५ ॥

अन्वयः—एष शैलः नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः आभिः स्फटिककटकभूमिः अहिपरिकरभाजः भास्मनैः अङ्गरागैः अधिगतधवलिम्नः शूलपाणेः अभिख्यां नाटयति ।

सुधा—एषः=असौ, शैलः=रैवतकपर्वतः, नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः=अभिनवतरुवनराजिनीलान्तराभिः, आभिः=एताभिः, स्फटिककटकभूमिः=सूर्यकान्तमणिनितम्बभूमिभिः, अहिपरिकरभाजः=सर्पपर्यास्तिकाधारिणः, भास्मनैः=भस्मरूपैः, अङ्गरागैः=शरीरानुलेपनैः, अधिगतधवलिम्नः=प्राप्तशौक्ल्यस्य, शूलपाणेः=शिवस्य, अभिख्यां=शोभां, नाटयति=अनुकरोति ।

विशेषः—अत्र नाटयति अनुकरोतीति निदर्शनालङ्कार इति मल्लिनाथः । वस्तुतस्तु नाटयतीत्यस्य अनुकरोतीत्यर्थकत्वे आर्थोपमालङ्कार एव सर्वथा प्रसञ्जतीति सुधिभिर्भाव्यम् । वृत्यनुप्रासश्चेति उपमया सह संसृष्टिः । मधुररचनावशात् माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः । मालिनीवृत्तम् ।

कोशः—'भवेत्परिकरो व्राते पर्यङ्कपरिवारयोः । प्रगाढे गात्रिकाबन्धे विवेकारम्भयोरपि' इति विश्वः । 'शैलवृक्षौ नगावगौ' इत्यमरः । 'अभिख्या-नामशोभयोः' इत्यमरः ।

समासः—नवनगवनलेखाश्याममध्याभिः—नवाश्च ते नगाः (क० ध०), तेषां वनानि (ष० त०) तेषां लेखा (ष० त०), श्यामः मध्यः यासां, ताः (बहु०), नवनगवनलेखया श्याममध्याः, ताभिः (तृ० त०) । स्फटिककटकभूमिः—कटकस्य भुवः (ष० त०) स्फटिकानां कटकभुवः, ताभिः (ष०त०) । अहिपरिकरभाजः—अहिरेव परिकरः अहिपरिकरः (रूपकसमासः) तं भज-

तीति—अहिपरिकरभाक् (उपपदसमासः), तस्य। भास्मनैः—भस्मनो विकाराः भास्मनाः, तैः। अङ्गरागैः—अङ्गस्य रागः अङ्गरागः (ष० त०) तैः। अधिगतधवलिम्नः—अधिगतः धवलिमा येन तस्य (बहु०) शूलपाणेः—शूलं पाणौ यस्य स (बहु०) तस्य।

व्या०—परिकरभाजः—परिकर+भज्+ण्विः+ङस्। भजो ण्विः (३।२।६२) इति ण्विः प्रत्ययः। भस्मनैः—भस्मन्+अण् अत्र अण् परे 'अन्' इति सूत्रेण प्रकृतिभावः, 'नस्तद्धिते' इति टिलोपाभावः। अभिख्याम्—अभि+ख्या प्रकथने+अङ्+अम् 'आतश्चोपसर्गे' (३।३।१०६) इति अङ् प्रत्ययः। नाटयति—नट अवस्यन्दने (नाट्ये)+णिच्+लट्+तिप्।

सं० भा०—अयं रैवतकपर्वतः नूतनवृक्षवनपङ्क्तिनीलान्तराभिः स्फटिक-मणितटप्रदेशैः वासुकिपर्यस्तिकाधारिणोः भस्ममयैरङ्गरागैः प्राप्तधावल्यस्य शिवस्य शोभामनुकरोति।

हिन्दी—यह रैवतक पर्वत नूतन वृक्ष के वनों की पङ्क्तियों से श्यामवर्ण स्फटिक की तटभूमियों से सर्प को कमर में लपेटनेवाले भस्ममय अङ्गरागों से श्वेतवर्ण को प्राप्त किए हुए महादेव जी की शोभा का अनुकरण कर रहा है ॥ ६५ ॥

दधद्भिरभितस्तटौ विकचवारिजाम्बूनदै-
विनोदितदिनक्लमाः कृतरुचश्च जाम्बूनदैः।
निषेव्य मधुमाधवाः सरसमत्र कादम्बरं
हरन्ति रतये रहः प्रियतमाऽङ्ककादम्बरम् ॥ ६६ ॥

अन्वयः—अत्र माधवाः विकचवारिजाऽम्बू अभितः तटौ दधद्भिः नदैः विनोदितदिनक्लमाः जाम्बूनदैः कृतरुचश्च (सन्तः) सरसं कादम्बरं मधु निषेव्य रतये रहः प्रियतमाऽङ्गकात् अम्बरं हरन्ति ॥ ६६ ॥

सुधा—अत्र=अस्मिन् रैवतकाद्रौ, माधवाः=यादवाः, विकचवारि-जाम्बू=विकसितकमलजलौ, अभितः=उभयतः, तटौ=तीरे, दधद्भिः=धारयद्भिः नदैः=जलप्रवाहैः, विनोदितदिनक्लमाः=अपनीतदिनश्रमाः, जाम्बू-नदैः=सुवर्णाभरणैः, कृतरुचश्च=विहितमण्डनाश्च, जनितशोभाश्च (सन्तः),

सरसं=सुस्वादु, आस्वादपूर्णं, कादम्बरम्=ऐक्षवम्, मधु=मद्यं, निषेव्य=पीत्वा, रतये=रन्तुं, रहः=विजने, प्रियतमाङ्कात्=कान्ताशरीरात्, अम्बरं=वस्त्रं, हरन्ति=आक्षिपन्ति। अत्र माधवा अलङ्कृत्य मद्यपानं कृत्वा प्रेयसीभिः सह रमन्त इति भावः।

विशेषः—अत्र पादान्तयमकं वृत्यनुप्रासश्चेत्यनयोः संसृष्टिरलङ्कारः। सम्भोगश्रृङ्गारो रसः, मधुर्यं गुणः, वैदर्भी च रीतिः। पृथ्वी वृत्तम्। लक्षणन्तु—जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।

कोशः—'मधु मद्यं पुष्परसः' इत्यमरः। 'रसो गन्धरसेजले। श्रृङ्गारादौ विषे वीर्ये तिक्तादौ द्रव्यरागयोः। देहधातुप्रभेदे च पारदास्वादयो पुमान्। इति मेदिनी। 'रसो गन्धे रसे स्वादे' इति विश्वः। 'कादम्बः कलहंसेक्ष्वोः' इति विश्वः।

समासः—विकचवारिजाम्बू—विकचानि वारिजानि येषु (बहु०), तानि च तानि अम्बूनि (क० धा०), विकचवारिजाम्बूनि ययोस्तौ (बहु०)। विनोदित दिनक्लमः—दिनस्य क्लमः दिनक्लमः (ष० त०), विनोदितः दिनक्लमः यैस्ते (बहु०)। जाम्बूनदैः—जाम्बूनदस्य (सुवर्णस्य) विकारा जाम्बूनदानि तैः। कृतरुचः—कृता रुक् यैस्ते (बहु०)। सरसं—रसेन सहितं, तत् (तुल्ययोगबहु०)। कादम्बरं—कादम्बं राति (लाति) इति कादम्बरम्। प्रियतमाऽङ्ककात्—अतिशयेन प्रिया प्रियतमा, अनुकम्पितम् अङ्गम् अङ्गकम्, प्रियतमाया अङ्कं तस्मात् (ष० त०)।

व्या०—माधवः—माधव+अण् 'तस्येदम्' इति अण् प्रत्ययः। दधद्भिः—धा+लट् (शतृ)—भिस्। जाम्बूनदैः—जाम्बूनद+अण्+भिस्। कादम्बरं—कादम्ब+रा दाने+कः 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति क प्रत्ययः। निषेव्य—नि+सेव्+क्त्वा (ल्यप्)। हरन्ति—हृञ् हरणे लट्+झि।

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकाद्रौ, यादवाः प्रफुल्लपद्मजलौ तटौ उभयतो धारयद्भिर्जलप्रवाहैरपनीतदिवसपरिश्रमाः किञ्च सुवर्णाभरणैः विहितशोभाः सन्तो रसवदैक्षवं मद्यं पीत्वा सुरतार्थमेकान्ते प्रेयसीगात्राद् वस्त्रं हरन्ति।

हिन्दी—इस पर्वत पर यादव लोग दोनों तरफ विकसित कमलों से विभूषित जलप्रवाहवाले तटों को धारण करनेवाले जलप्रवाहों से दिन के

सन्ताप को दूर करते हुए कनक के अलङ्कारों से सुशोभित होते हुए स्वादपूर्ण गन्ने के रस से बने हुए मद्य को पी कर सुरतक्रीडा के लिए एकान्त में प्रेयसी के शरीर से वस्त्र हटाते हैं ॥ ६६ ॥

दर्पणनिर्मलासु पतिते घनतिमिरमुषि
ज्योतिषि रौप्यभित्तिषु पुरः प्रतिफलति मुहुः ।
व्रीडमसम्मुखोऽपि रमणैरपहृतवसनाः
काञ्चनकन्दरासु तरुणीरिह नयति रविः ॥ ६७ ॥

अन्वयः—इह रविः दर्पणनिर्मलासु पुरः रौप्यभित्तिषु पतिते घनतिमिरमुषि ज्योतिषि काञ्चनकन्दरासु मुहुः प्रतिफलति (सति) रमणैः अपहृतवसनाः तरुणीः असंमुखः अपि व्रीडं नयति ।

सुधा—इह=अस्मिन्नद्रौ, रविः=सूर्यः, दर्पणनिर्मलासु=आदर्शस्वच्छासु, पुरः=अग्रे, रौप्यभित्तिषु, पतिते=सङ्क्रान्ते, घनतिमिरमुषि=निविडान्धकारनाशिनि, ज्योतिषि=सूर्यतेजसि, काञ्चनकन्दरासु=कनकगुहासु, मुहुः=वारं वारं, प्रतिफलति=प्रतिबिम्बिते सति, रमणैः=प्रियैः, अपहृतवसनाः=अपनीतवस्त्राः, तरुणीः=युवतीः, असंमुखोऽपि=कन्दरानभिमुखोऽपि व्रीडं लज्जां, नयति=प्रापयति ।

विशेषः—यस्मिन् सुवर्णकन्दरासु व्रीडार्थं प्रविष्टाः स्त्रियोऽन्धकार इति कृत्वा पुरुषैरपहृतवस्त्राः, सत्यः पुरःस्थितरौप्यभित्तितेजसामन्तः प्रतिबिम्बवत्प्रकाशे सति सलज्जा इति भावः । अत्र काञ्चनकन्दराणामसम्मुखार्कज्योतिः प्रतिफलनासम्बन्धेऽपि सम्बन्धोक्तेरतिशयोक्तिरलङ्कारः । अत्र दर्पणनिर्मलास्विति लुप्तोपमया अतिशयोक्तिः सङ्कीर्य्यते । सम्भोगश्रृङ्गारो रसः, प्रसादो गुणः, वैदर्भी च रीतिः । वंशपत्रपतितं वृत्तम्—'दिङ्मुनिवंशपत्रपतितं भरनभनलगैः' इति लक्षणात् ।

कोशः—'मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपा व्रीडा' इत्यमरः । 'घने निरन्तरं सान्द्रम्' इत्यमरः । 'दरी तु कन्दरो वा स्त्री' इत्यमरः ।

समासः—दर्पणनिर्मलासु—दर्पण इव निर्मलाः, तासु (उपमितं समासः) । रौप्यभित्तिषु—रौप्यस्य भित्तयः रौप्यभित्तयः, तासु (ष० त०) । घनतिमिरम्—घनं च तत्तिमिरं (क० धा०) घनतिमिरम्, तन्मुष्णाति इति घनतिमिर-

मुट्, तस्मिन् (उपपदसमासः)। काञ्चनकन्दरासु—काञ्चनस्य कन्दराः काञ्चनकन्दराः, तासु (ष० त०)। अपहृतवसना—अपहृतानि वसनानि यासां ताः (बहु०)। असम्मुखः—न सम्मुखः (नञ्० स०) ॥ ६७ ॥

व्याकरणम्—घनतिमिरमुषि–घनतिमिर + मुष् + क्विप्। नयति–णीञ् प्रापणे + लट्–तिप् :

सं० भा०—अस्मिन् रैवतकपर्वते सूर्यः मुकुरस्वच्छासु पुरः रजतभित्तिषु संक्रान्ते सान्द्राऽन्धकारहरे स्वतेजसि सुवर्णकन्दरासु वारं वारं संमूर्च्छति सति प्रियैरपनीतवस्त्राः युवतीः कन्दराऽनभिमुखोऽपि त्रपां नयति ॥ ६७ ॥

हिन्दी—इस पर्वत पर सूर्य स्वयं सामने न रहता हुआ भी दर्पण की भाँति स्वच्छ सामने की चाँदी की दिवालों पर (रजतमय शिखरों पर) गिरी हुई गाढे अन्धकार को दूर करनेवाली किरणों के सुवर्णगुफाओं में बार बार प्रतिविम्बित होने पर अपने प्रियतमों के द्वारा हटाये गये वस्त्रोंवाली युवतियों को लज्जित कर देता है ॥ ६७ ॥

अनुकृतशिखरौघश्रीभिरभ्यागतेऽसौ
त्वयि सरभसमभ्युत्तिष्ठतीवाऽद्रिरुच्चैः।
द्रुतमरुदुपनुन्नैरुन्नमद्भिः सहेलं
हलधरपरिधानश्यामलैरम्बुवाहैः ॥ ६८ ॥

इति श्री माघकृते शिशुपालवधमहाकाव्ये रैवतकवर्णनं नाम चतुर्थः सर्गः।

अन्वयः—असौ उच्चैः अद्रिः त्वयि अभ्यागते (सति) अनुकृतशिखरौघश्रीभिः द्रुतमरुदुपनुन्नैः (अत एव) सहेलम् उन्नमद्भिः हलधरपरिधानश्यामलैः अम्बुवाहैः सरभसम् अभ्युत्तिष्ठति इव ॥ ६८ ॥

सुधा—असौ = एषः, उच्चैः = उन्नतः, अद्रिः = रैवतकपर्वतः, त्वयि = श्रीकृष्णे, अभ्यागते = समक्षमागते सति, अनुकृतशिखरौघश्रीभिः = विडम्बितशृङ्गसमूहशोभैः, शिखरौघभ्रमकारिभिरिति भावः। द्रुतमरुदुपनुन्नैः = वेगवद्वायुप्रेरितैः, अत एव, सहेलं = सविलासम्, उन्नमद्भिः = उच्छ्रितैः, हलधरपरिधानश्यामलैः = बलभद्रवस्त्रश्यामलैः, अम्बुवाहैः = मेघैः, सरभसं = वेगपूर्वकम्, अभ्युत्तिष्ठति इव = अभ्युत्थानं करोतीव।

विशेषः—अत्र श्रीरिव श्रीरिति निदर्शनया भ्रान्तिमदलङ्कारो व्यज्यते।

अभ्युत्तिष्ठतीति क्रियानिमित्ता क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा। विशिष्टमेवोन्नमनक्रियया प्रत्युत्थानक्रियोत्प्रेक्षणात् सा चोक्तनिदर्शनानुप्राणितेति सङ्करः। शब्दस्तु वृत्त्यनुप्रासः। माधुर्यं गुणः, पाञ्चाली च रीतिः। मालिनीवृत्तम्=ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः, इति लक्षणात्।

कोशः—'समीरमारुतमरुज्जगत्प्राणसमीरणाः' इत्यमरः।

समासः—अनुकृतशिखरौघश्रीभिः—शिखराणाम् ओघाः शिखरौघाः (ष० त०) तेषां श्रीः (ष० त०) अनुकृता शिखरौघश्रीः यैस्ते अनुकृत शिखरौघश्रियः, तैः (बहु०)। द्रुतमरुदुपनुन्नैः—द्रुतश्चासौ मरुत् (क० धा०), तेन उपनुन्नाः (तृ० त०), तैः। सहेलम्—हेलया सहितं यथा तथा (तुल्ययोगबहु०)। हलधरपरिधानश्यामलैः—धरतीति धरः, हलस्य धरः हलधरः (ष० त०), तस्य परिधानानि (ष० त०), हलधरपरिधानानि, तानीव श्यामलाः, तैः (उपमितसमासः)। अम्बुवाहैः—अम्बु वहन्तीति अम्बुवाहाः, तैः (उपपद०)। सरभसं—रभसेन सहितं यथा तथा (तुल्ययोगबहु०)।

व्या०—अभ्यागते—अभि + आङ् + गम् + क्त + ङि। उन्नमद्भिः—उद् + नम् + लट् (शतृ) + भिस्। अम्बुवाहैः—अम्बु + वह + अण् + भिस्। अभ्युत्तिष्ठति—अभि + उत् + स्था + लट् + तिप्।

सं० भा०—उन्नतोऽयं पर्वतो भवत्यागन्तुके सति अनुकृतशृङ्गसमूहशोभैः तीव्रवातप्रेरितैर्लीलयासहितमुत्पतद्भिःबलभद्रवस्त्रश्यामैर्मेघैर्वेगपूर्वकमभ्युत्थानं करोतीव।

हिन्दी—यह ऊँचा पर्वत आपके आनेपर शिखरों की तरह दीखते हुए तीव्र वायु से प्रेरित अनायास ऊपर उठते हुए बलराम जी के वस्त्रों जैसे साँवले मेघों से वेग के साथ मानो आपका अभ्युत्थान कर रहा है॥ ६८॥

इति सकलशास्त्रनिष्णातानां श्रौतस्मार्तकर्मानुष्ठाननिष्ठानां पण्डितराजश्रीकीर्त्यानन्दझामहोदयानां शिष्येण, स्वधर्मधुरन्धराणां मिश्रोपाह्वश्री रामदुलारशर्मणां पुत्रेण, श्रीमायादेवीगर्भसम्भवेन, दरभङ्गामण्डलान्तर्गतजरिसो ग्रामनिवासिना मिश्रोपाह्वश्रीहरेकान्तशर्मणा साहित्याचार्येण शिशुपालवधमहाकाव्यस्य चतुर्थसर्गस्य विरचिता 'सुधा' व्याख्या समाप्ता॥ ४॥

****

श्लोकानुक्रमणिका

तृतीयः सर्गः

श्लोकानुक्रमणिका

चतुर्थः सर्गः

परीक्षा में आये हुए प्रश्नों और उनके उत्तर सहित—

परीक्षोपयोगी प्रश्नोत्तरियाँ

स्वप्नवासवदत्तरहस्यम् (प्रश्नोत्तरी : गाइड) । अशोकचन्द्र गौड़ १५—००

मध्यमव्यायोग-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरी) । पं० अशोकचन्द्र गौड़ शास्त्री ६—००

मेघदूत-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरी) । पं० रमाशंकर मिश्र १०—००

चन्द्रालोक-चन्द्रिका (प्रश्नोत्तरी) । पं० हरेकान्त मिश्र १०—००

लघुकौमुदी-प्रश्नोत्तरी । पं० हरेकान्त मिश्र २०—००

मनोरमाशब्दरत्नप्रश्नोत्तरावली । प्रथम भाग ५—००, द्वितीय भाग ५—००

ध्वन्यालोक-रहस्यम् (प्रश्नोत्तरी) । पं० शोभितमिश्र १५—००

रसगङ्गाधररहस्यम् (प्रश्नोत्तरी) । प० श्री मदनमोहन झा ८—००

तर्कभाषारहस्यम् (तर्कभाषा-प्रश्नोत्तरी) । प० रुद्रधर झा ५—००

लघुशब्देन्दुकला । (लघुशब्देन्दुशेखर-प्रश्नोत्तरी) श्री[illegible] झा २०—००

महाभाष्य-दीपिका (नवाह्निक-प्रश्नोत्तरी) । पं० देवदत्त शास्त्री १०—००

व्युत्पत्तिवादतरणिः (व्युत्पत्तिवाद-प्रश्नोत्तरी) । प० उग्रानन्द झा ५—००

मध्यसिद्धान्तकौमुदी-रहस्यम् । पं रामचन्द्र झा १५—००

सिद्धान्तकौमुदी सोत्तरा प्रश्नावली । प्रश्नोत्तरानुक्रमणिका सहित ।
पं० हरेकान्त मिश्र । प्रथम खण्ड १२—५०, द्वितीय खण्ड १५—००
तृतीय खण्ड २०—००, चतुर्थ खण्ड २५—००

माघकाव्यरहस्यम् (प्रश्नोत्तरी) । १—२ सर्ग १२—००, १—४ सर्ग २०—००

मृच्छकटिकरहस्यम् [प्रश्नोत्तरात्मक] । अशोकचन्द्र गौड़शास्त्री १५—००

कुमारसम्भवमहाकाव्यम् (गाईड) । 'कला' संस्कृत व्याख्या तथा
प्रश्नोत्तर सहित । आचार्य लोकमणि दाहाल १—२ सर्ग ६—००

मध्यसिद्धान्तकौमुदी । 'सुधा' 'इन्दुमती' संस्कृत-हिन्दी टीका सहित ५०—००

प्रस्तावतरङ्गिणी । पं० चारुदेव शास्त्री (अख्यातमक वर्णनात्मक
संस्कृत निबन्धग्रन्थ) । शास्त्री परीक्षा पाठ्य स्वीकृत १५—००

निबन्धादर्शः । म० म० श्री गिरधर शर्मा चतुर्वेदी ५—००

अभिज्ञानशाकुन्तल-दीपिका (प्रश्नोत्तरी) १५—००

रघुवंश-परिक्रमा (प्रश्नोत्तरी) । कमलनयन श्रीनिवास रिजाल ६-७ सर्ग १५—००

तर्कसंग्रह । सपदकृत्य 'इन्दुश्री' हिन्दी टीका तथा प्रश्नोत्तरी सहित ५—००

तर्कसंग्रह-प्रश्नोत्तरी । ले० हरेकान्त मिश्र १—२५

अन्यप्राप्तिस्थान—चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय, कचौड़ीगली, वाराणसी